ॐ

आर्हत् दर्शन

तत्त्वार्थाधिगम सूत्र

भाग – १

संप्रेरक

आत्मज्ञानी पूज्य श्री विराट गुरुजी

लेखिका

आगमवेत्ता साध्वी श्री वैभवश्री 'आत्मा'

आर्हत् दर्शन

तत्त्वार्थाधिगम सूत्र

संप्रेरक
आत्मज्ञानी पूज्य श्री विराट गुरुजी

लेखिका
आगमवेत्ता साध्वी श्री वैभवश्री 'आत्मा'

प्रस्तुति : साधिका डॉ. प्राग्भा विराट

प्रथम संस्करण : 2017
प्रतियाँ : 500
मूल्य : ₹1008/-प्रति

ISBN No. : 9789386546852

प्रकाशक :
जय गुरूदेव साहित्य
एलार्का हाउस, 11 वीं 'ई' रोड
सरदारपुरा, जोधपुर (राज.)
मो. 97999-85703

मुद्रक: वैभव ग्राफिक्स, नई दिल्ली, 7417-000-878

प्राप्ति स्थल:
1. समकित सेवा समिति (रजि.)
भन्साली मेन्शन, बी. एस. एन. एल ऑफिस के सामने,
महावीर नगर, पाली-मारवाड़ (राज.)-306401
मो. 9414120563

2. चरम मंगल ज्ञान सेवा समिति (रजि.)
बी-205, संगम अपार्टमेन्ट, सैक्टर-9, रोहिणी, नई दिल्ली-110085
मो. 9650475566

e-mail : mail@charammangal.com
website:www.charammangal.com

अनुक्रमणिका

आर्हत् दर्शन : तत्त्वार्थाधिगम सूत्र	:	1
आशीर्वचन	:	4
आओ जानें ग्रंथ एवं ग्रंथकार को	:	7
अध्याय 1 : मोक्ष मार्ग	:	11
अध्याय 2 : जीव तत्त्व	:	101
अध्याय 3 : अधोलोक – मध्यलोक	:	205
अध्याय 4 : उर्ध्वलोक – देवलोक	:	219
अध्याय 5 : अजीवकाय	:	269

आर्हत् दर्शन
तत्त्वार्थाधिगम सूत्र

जब किसी जीव के ज़हन में प्रश्न उठते हैं कि 'वह कौन है ?' 'क्यों है ?' 'यह संपूर्ण अस्तित्व क्या है ?' 'हम सब किसलिए जी रहे हैं ?' तब वह अपने प्रश्नों के उत्तर ढूँढने का प्रयास करता है। वह खोजना शुरू करता है कि किसी भाँति उसे समाधान मिले। जब ये प्रश्न आंतरिक खोज की भावना से उद्‌भूत होते हैं, तब अन्तर्दृष्टि उघड़ने लगती है। इंसान अपने भीतर-बाहर को जिज्ञासा भाव से देखने लगता है और इस प्रकार जानने-देखने की एक अनूठी अन्तर्यात्रा की शुरूआत होती है।

ये प्रश्न प्रायः तब तक नहीं उठते, जब तक कि जीवन में कोई प्रतिकूलता या विषमता न आए, सब कुछ सुषम-सुषम ही हुआ करे, सुखपूर्ण ही हुआ करे। सुखों की अवस्था में मंथन की प्रक्रिया प्रायः प्रारंभ ही नहीं होती। भीतर-बाहर संतुष्टि हो, नैसर्गिक वातावरण भी सुखद हो तब तक मस्तिष्क को शोध की नूतन प्रेरणाएँ प्रायः नहीं मिलती। इसी कारण से प्रथम, द्वितीय व तृतीय आरे के दो-तिहाई हिस्से तक मनुष्य के जीवन में आत्म-धर्म की शुरूआत भी नहीं होती। अवसर्पिणी कालचक्र के प्रथम आरे सुषम-सुषमा में, द्वितीय आरे सुषमा में यह मनुष्य प्राकृतिक ज़िंदगी जी रहा होता है, उसका जीना बिना किसी मानसिक बाधा के होता है। संघर्षों के अभाव में चेतना का विकास संभव नहीं हो पाता। यह भी एक प्रमुख कारण है जिसके तहत देवताओं की मुक्ति संभव नहीं होती। देवता भी सुखमय जीते हैं, इसीलिए वहाँ कोई निमित्त उनमें मुक्ति की प्रेरणा नहीं जगाता।

जब तृतीय आरे में सुख और दुःख दोनों आरंभ होने लगते हैं, तब मनुष्य में तुलना जगती है। सुखों में मोह जगता है, दुःखों से अरूचि होती है- ऐसे में उसमें दुःख मुक्ति की भावना जगती है। उसमें तृष्णा जगती है- अपने सुखों को अधिकाधिक बढ़ाने की। भय जगता है-सुखों के छिन जाने का, ज्ञात की पकड़ छूट जाने का। वह अपनी मजबूरी से परिचित होने लगता है। उसे बंधन प्रतीत होते हैं। उसे समझ नहीं आता कि उसके साथ ऐसा क्यों होता है, वह दुःखों को नहीं चाहता है फिर भी दुःख आ जाते हैं। वह सुखों को पकड़ना चाहता है, फिर भी सुख टिके नहीं रहते। सुख के क्षण मुट्ठी में भरी बालू रेत की तरह फिसलते जाते हैं और दुःख गड्‌ढों की तरह गहरे होते जाते हैं। अपने भीतर की बेचैनियों से रूबरू होते हुए जब कभी दुःख मुक्ति के लिए बनाई गई बाहरी व्यवस्थाओं को वह असक्षम व पंगु रूप देख पाता है, जब कभी उसे सुरक्षा के घेरे में भी असुरक्षा मुँह बाएँ खड़ी नज़र आने लगती है,जब उसके भीतर अनिश्चितता (uncertainity) का अहसास गहराने लगता है तब यह जीव कदाचित् स्वमति से, कदाचित् किसी सत्पुरूष के सान्निध्य से अथवा नैसर्गिक रूप से (naturally) यह समझ पाता है कि बाहरी जगत के समस्त सुख-दुःख क्षणिक है, क्षणभंगुर है, नित्य-शाश्वत व स्थायी नहीं है। यहाँ शाश्वत शांति या सुरक्षा का अहसास संभव नहीं है। हम सब चक्रवत् ऊपर-नीचे उठते-गिरते जाते हैं। किंतु यदि बाहरी मरीचिका से मन को हटा लें तो अन्तर्जगत के रहस्यों को जान सकते हैं। अन्तर्जगत में केन्द्रस्थ होने पर सुख-दुःख के

चक्रीय परिवर्तनों के प्रभावों से हम मुक्त हो जाते हैं और तब बंधनों से क्लांत जीव में बंधनमुक्ति की भावना जन्म लेती है। तब आत्मधर्म की शुरूआत होती है। स्वयं में खोज प्रारंभ होती है। धर्म की रूचि जागृत होती है। प्रमाद की प्रगाढ़निद्रा से जागने को तत्पर बना जीव जागृत सत्पुरूषों को सुनना पसंद करता है। वह अब जानना चाहता है कि 'जीवन का सत्य क्या है ?' 'मैं कौन हूँ ?' 'कहाँ से आया हूँ' व 'कहाँ जाने वाला हूँ ?' अपने आप में उठे इन सवालों से प्रारंभ हुई यात्रा समाधान की खोज में कभी बाहर तो कभी भीतर चलती है। बाहर ढूँढ रहे समाधानों से तब तक शंका बनी रहती है जब तक उनका अनुभवात्मक समाधान नहीं हो जाता। और ऐसा आंतरिक जाग के बिना, आंतरिक रूपांतरण के बिना संभव नहीं हो सकता।

सत्पुरूषों की वाणी समाधान रूप होती है, किंतु सदा सूत्रमय होती है। सूत्र यानि formula रूप होती है, condensed form में होती है। इन्हें जानने के लिए इनमें से गुज़रना ज़रूरी है। गुज़रे बिना ज्ञान नहीं हो सकता। यही कारण है कि ज्ञान व गति दोनों ही साम्य अर्थ रखते हैं (गम् धातु)। 'सूत्र' शब्द का एक अर्थ होता है 'सूत' अर्थात् धागा। जो अनेक तंतुओं से मिलकर बना है, जो हमें एकरूप दिखलाई पड़ रहा है, उस धागे में अनेक तंतु एक साथ इस भांति व्यवस्थित है कि वे सब मिलकर एकात्म हो गए हैं। ऐसे ही विविध अनुभवों से गुज़रे हुए ज्ञानी पुरूषों की वाणी में अनेक आयामी गहरे अर्थ होते हैं, वे सब कुछ ही शब्दों में इस भांति पिरोए गए होते हैं कि उनमें पैठे बिना अर्थात् गहन गोते लगाए बिना उनका अनुभव ज्ञान संभव नहीं है।

प्रस्तुत सूत्र का नाम है–''तत्त्वार्थाधिगम सूत्र।''

तत्त्व यानि वस्तु के वास्तविक स्वरूप, उसके अर्थ; 'सूत्र' यानि संक्षिप्त शैली में, कम से कम शब्दों में कहने वाला ग्रंथ।

'सूत्र' को प्राकृत भाषा में 'सुयं' कहा जाता है। सुयं अर्थात् ''अनियोजित आख्यान।'' सुयं को समझने के लिए 'असुयं' को भी समझना होगा। सुयं अर्थात् सूत्र व असुयं अर्थात् असूत्र।

निर्ग्रंथ दर्शन के अनुसार जो वाणी या शब्द रचना सोच-समझ कर की जाती है, planned होती है, बुद्धिपूर्वक होती है- वह असुयं है, अर्थात् असूत्र है। किंतु जो वाणी unplanned हो, spontaneous हो, वह सूत्र होती है; तीर्थंकर एवं आप्त पुरूषों की देशना होती है।

''सूत्र'' आगमज्ञान का शब्दों में प्रगटीकरण है। आप्तपुरूषों की देशना है, जो सदा अक्रम होती है, सोच-विचारपूर्वक न होकर शाश्वत नाद की अभिव्यंजना मात्र होती है। अपने आप में तथ्यपूर्ण व निर्दोष होती है। इसे अनुभव किए जाने पर ये आगम उद्घाटित कराती है। सूत्रों का महात्म्य यही है कि ये हमें आप्तज्ञान का अनुभव कराने में समर्थ है। जिस प्रकार रस्सी डाले जाने पर कुएँ का पानी पात्र में निकाला जा सकता है, ठीक ऐसे ही सूत्र रूपी रस्सी से आगमज्ञान रूप कुएँ का पानी प्रगटाया जा सकता है, बशर्ते पात्र में पात्रता हो। जिज्ञासा, लगन व धैर्य हो। पर्युपासना अर्थात् आंतरिक अनुशासन सहज हो। जो जिज्ञासु साधक जागृत व तत्पर होकर धैर्यपूर्वक प्रयोगों में उतरता है, उसे सूत्र ज्ञान आगम स्फुरणा देते हैं। उनका सूत्र ज्ञान मात्र शब्द रटन या थोपित अर्थ रटन तक सीमित न रहकर उसको विशेषार्थ प्रज्ञा व श्रुतज्ञान की आगमिक समझ देता है। श्रुतज्ञान की आगमिक समझ उन साधकों में उघड़ती है, जो स्वाध्याय, अनुप्रेक्षा व ध्यान में गहरे उतरते हैं। उनके भीतर आगम संगीत स्फुटित होता है, मोहनीय आदि कर्मावरण क्षीण होते जाते हैं। समय में सहमय होता हुआ साधक, परिधि परिभ्रमण की समाप्ति से आत्मस्थ होकर पूर्ण स्वाधीनता यानि मुक्ति का अनुभव पाता है। मुक्ति मार्ग पर बढ़ता जाता है।

ऐसा अनुभव ज्ञान जिन्हें हुआ, उन समस्त ज्ञानी महात्माओं को सविनय प्रणमामि।

तत्त्वार्थाधिगम सूत्र मूलतः वाचक उमास्वाति द्वारा रचित है। संक्षिप्त शैली में रचित इन सूत्रों की प्रस्तुत व्याख्या आत्मज्ञानी श्री विराट गुरूजी का वह आगमिक उद्‌बोधन है, जो इस वैभवश्री 'आत्मा' द्वारा लिखित तत्त्वार्थ की व्याख्या को पढ़कर गुरूजी की वाणी से निःसृत हुआ था। गुरू आज्ञा से ही इस वैभवश्री 'आत्मा' ने तत्त्वार्थ की व्याख्या लिखनी प्रारंभ की थी। ये व्याख्याएँ जनवरी 2007 यानि जब से चरम-मंगल मासिक पत्रिका का प्रकाशन प्रारंभ हुआ, तब से ही पत्रिका के प्रत्येक अंक में एक धारावाहिक के रूप में प्रकाशित होती आ रही है। हम, अपनी अल्पबुद्धि से जो कुछ भी लिखते, सत्गुरू उसको प्रकाशित कर उसमें सत्प्रज्ञा का संचार कर दिया करते थे। वे व्याख्याओं को आध्यात्मिक दृष्टि से नूतन स्पर्श प्रदान करते रहे।

आत्मज्ञानी श्री विराट गुरूजी 'तत्त्वार्थाधिगम सूत्र' को, जिसके मूल लेखक वाचक उमास्वाति रहे हैं, 'आर्हत् गीता' कहकर संबोधित किया करते थे। उनके अनुसार आर्हत् दर्शन का तत्त्व सार संक्षिप्त में प्रस्तुत करने का अप्रतिम सामर्थ्य रखने के कारण यह तत्त्वार्थाधिगम सूत्र अर्हतों की देशना का सूत्रमय गीत है, संपूर्ण तत्त्वज्ञान का दिग्दर्शन कराने में समर्थ है, समस्त जैन समुदायों द्वारा एकमत से मान्य अमूल्य ग्रंथ है, अतः इसे 'आर्हत् गीता' अथवा 'आर्हत् दर्शन' कहा जाना उचित ही है।

जिस प्रकार हिंदू धर्मावलंबी श्रीमद् भागवत्‌गीता को, ईसाई बाईबिल को, इस्लामी कुरान शरीफ को व बौद्ध त्रिपिटिक को अपना धार्मिक ग्रंथ बताते हैं और उसका समादर किया करते हैं, इसी प्रकार जैन समाज के लिए प्रस्तुत ग्रंथ 'आर्हत् दर्शन' आदरणीय व आराधनीय है। यह लघु ग्रंथ विशाल श्रुतसागर की कुंजी के समान है। इस लघु ग्रंथ व्याख्या में प्रवेश करने वाला साधक यदि सही मायने में जिज्ञासु है, धैर्यवान है, मुमुक्षु है, तो निश्चित ही वह आगमप्रज्ञ बनकर आत्माभा को प्रगट कर पाएगा। यह गुरूकृपा से बनी श्रुत व्याख्या गुरूचरणों में ही समर्पित है।

इस ग्रंथ के प्रकाशन से पूर्व चल रहे संशोधन व व्यवस्थितिकरण के समय हमें जैनागम मर्मज्ञ निर्ग्रंथ साधक श्री श्रीकुमार जी मेनन (मूल दक्षिण भारतीय, मुम्बई निवासी) का परिचय मिला। उन्होंने भी ध्यानपूर्वक इस ग्रंथ का अवलोकन किया, हम सबने साथ में इसकी वाचना की और अनेक स्थानों पर उनकी टिप्पणियों को भी इसमें समाहित किया गया। उनके विशुद्ध दर्शन से प्राप्त 'सम्यग् श्रद्धा' शब्द का व्याख्यान प्रस्तुत ग्रंथ के प्रथम अध्याय में उल्लिखित है। उनके सहयोग के लिए हम हृदयपूर्वक आभारी हैं। उनके ज्ञान की एक लघु झलक उनकी वेबसाइट 'www.nirgranth.in' पर भी देखी जा सकती है।

प्रकाशन का गुरूतर कार्य सबके सहयोग के बिना संभव नहीं था। इस कार्य में सहयोगी साध्वी देशनाश्री जी, साध्वी चरमश्री जी व साधिका प्रागभा विराट जी के साथ-साथ टाईपिंग, सेटिंग व प्रूफ रीडिंग में सहयोगी श्रीमति सीमा विराट जी, श्री कामता प्रसाद द्विवेदी व प्रत्यक्ष-अप्रत्यक्ष समस्त सहयोगियों का तहे दिल से आभार-आभार-आभार ! !

पुस्तक प्रकाशन में अपना बहुमूल्य द्रव्य सहयोग देने के लिए उदारमना श्रीमती सुलोचना देवी समदड़िया, श्री अशोककुमार-बीना बोथरा, श्री पवन-हर्षा बूरड, श्री मनीष-जूली कोठारी (रायपुर, छत्तीसगढ़) वालों की श्रुत भक्ति को बहुत-बहुत साधुवाद व धन्यवाद।

- आगमवेत्ता साध्वी श्री वैभवश्री 'आत्मा'

आशीर्वचन :

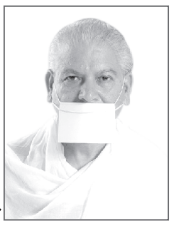

श्रमणसंघीय चतुर्थ पट्टधर ध्यानयोगी आचार्य डॉ. श्री शिव मुनिजी म.सा.

जैन धर्म में तत्त्वार्थाधिगम सूत्र का अपना विशिष्ट स्थान है। आचार्य उमास्वाति ने समस्त आगमों का संक्षिप्त रूप 10 अध्यायों में वर्णित किया है। आचार्य श्री आत्मारामजी म. सा. ने 'तत्त्वार्थ सूत्रः जैनागम समन्वय' लिखकर यह सिद्ध किया कि तत्त्वार्थ सूत्र 32 आगमों का सार है। उन्होनें संदर्भ सहित इस अनमोल ग्रन्थ की रचना की। पं. सुखलाल जी सिंघवी की तत्त्वार्थ सूत्र पर व्याख्या भी दार्शनिक रूप में है। इस सूत्र का दूसरा नाम 'मोक्ष शास्त्र' भी है।

महासाध्वी श्री वैभवश्री 'आत्मा' ने इस पर सूत्र व्याख्या लिखकर इसके रहस्य प्रकट करने का सफल पुरूषार्थ किया है। मैं इनके पुरूषार्थ की अनुमोदना करता हूँ। सत्य की शोध करते हुए पाठक आत्मार्थ की ओर बढ़े। साधक इस ग्रन्थ के स्वाध्याय द्वारा सम्यक् दर्शन से लेकर 'आत्मार्थी' अवस्था को प्राप्त करता हुआ आत्म ध्यान व भेद विज्ञान के प्रयोग से अपने अंतिम लक्ष्य सिद्धालय को प्राप्त करे।

सहमंगल मैत्री

शिवमुनि

इन्दौर, मध्य प्रदेश
दिनांक - 20.06.2017

(आचार्य शिवमुनि)

आशीर्वचन

नेपाल हिंद गौरव श्रमणसंघीय वाचनाचार्य डॉ. श्री विशाल मुनि जी म. सा.

जैन धर्म को सांगोपांग समझने के लिए अनेक आगम उपलब्ध है। आगम-साहित्य सम्पूर्ण रूप से वैज्ञानिक धरातल पर आधारित है। जैसे-जैसे विज्ञान आगे बढ़ रहा है, जैन आगम सूत्रों की वैज्ञानिकता एवं समग्र मानव जाति के लिए उनकी उपयोगिता बढ़ती जा रही है। जैन आगम साहित्य भारतीय प्राचीन साहित्य की अद्‌भुत एवं अनमोल धरोहर है।

समग्र आगम सूत्रों का अध्ययन कर पाना हर किसी के लिए सरल नहीं है, इसलिए समय-समय पर आचार्यों एवं विद्वानों द्वारा जैन दर्शन की वास्तविकता को सरल भाषा में, सार-संक्षेप में प्रस्तुत करने का प्रयत्न किया जाता रहा है।

ऐसे ही महान आचार्यों में (वाचनाचार्य) वाचक उमास्वाति जी का नाम बड़े आदर से लिया जाता है। उन्होनें जैन आगम एवं जैन दर्शन को समझाने के लिए 10 अध्यायों का एक छोटा-सा सूत्र ग्रन्थ तैयार किया , जिसे 'तत्त्वार्थ सूत्र' कहा जाता है। इस में छोटे-छोटे सूत्र हैं, पर उन सूत्रों में गागर में सागर समाया हुआ है। तत्त्वार्थ सूत्र को इतना मान-सम्मान, आदर-सत्कार मिला है कि जैन परम्परा के चारों सम्प्रदायों में इस सूत्र को विशेष महत्व दिया जाता है। इस का अध्ययन किए बिना ज्ञान अधूरा रह जाता है। यह बेहद महत्वपूर्ण लघुग्रन्थ है।

हमारी साध्वी वैभवश्री जी बड़ी विलक्षण प्रतिभा की धनी साध्वी हैं। इनकी ज्ञान पिपासा को निर्ग्रन्थ विराट गुरूजी ने शान्त किया था, यही कारण है कि साध्वी जी उनके प्रति विशेष अहोभाव रखती हैं।

आत्मज्ञानी श्री विराट गुरूजी की प्रेरणा थी कि वर्तमान के वातावरण को देखते हुए तत्त्वार्थ सूत्र पर वैज्ञानिक ढंग से चिन्तन करते हुए, नया रूप प्रस्तुत किया जाए; जिससे कि सामान्य से सामान्य साधक भी तत्त्वार्थ सूत्र का अमृत रसास्वादन कर सके। इसी भावना से उद्‌प्रेरित होकर आगम मर्मज्ञ साध्वी वैभवश्री जी म. सा. ने तत्त्वार्थ सूत्र पर विशेष विवेचन 'आर्हत् दर्शनः तत्त्वार्थाधिगम सूत्र' के रूप में प्रस्तुत किया है। इस सद्‌प्रयत्न के लिए साध्वी जी को लाख-लाख साधुवाद है, धन्यवाद है, आशीर्वाद है।

साध्वी जी ने इस प्रथम भाग में तत्त्वार्थ सूत्र के पाँच अध्यायों का विवेचन प्रस्तुत किया है। इसका दूसरा भाग जल्द ही पाठकों के हाथ में पहुँचेगा-ऐसी आशा है।

बैंगलूरू
16 जून 2017

वाचनाचार्य डॉ. विशाल मुनि

आशीर्वचन

श्रमणसंघीय उपाध्याय श्री रविन्द्र मुनि जी म. सा.

'साहित्य' वह दर्पण है जिसमें समाज और संस्कृति को अपना विश्लेषण करने का अवसर मिलता है। जिससे स्वयं में रही हुई भूलों का ज्ञान व परिष्कार करने का अवसर मिलता है। आज जब सब जगह भौतिकवाद ने अपनी आसुरी वृत्तियों और कृत्यों का फैलाव कर लिया है, तब दैवीय शक्तियों को भी अपने अस्त्र के लिए प्रतिबद्ध हो जाना उचित है। और इसमें अगर ऐसी साहित्य विधा, जिसे पुरातन और नूतन का सोने और सुगन्ध के जैसे मेल में रचा गया हो तो सर्वाधिक कारगर उपाय है।

वाचक उमास्वाति का सुप्रसिद्ध ग्रन्थ 'तत्त्वार्थाधिगम सूत्र' एक बहुत ही संक्षिप्त और सटीक सूत्र शैली में रचित ग्रन्थ है। जिसमें जैनत्व के सम्यक् बोध का सारा सार कुछ ही सूत्रों में परोस दिया गया है। इस ग्रन्थ पर स्वयं वाचक उमास्वाति जी से लेकर अन्य बड़े-बड़े आचार्यों और विद्वान मुनियों ने समय-समय पर सूत्रों की सुबोधता को बनाए रखने के लिए खुलासावार ग्रन्थों की रचना की। सभी ही योग्य विद्वानों ने जो भी लिखा, वो सब सम्माननीय है। परंतु कई बार गतानुगतिकता का प्रभाव ऐसा होता है कि लोग चाहकर भी साहित्य सृजन में कुछ नया और पठनीय नहीं दे पाते। पूर्वकथित बातों को ही नए कलेवर और नए नाम के साथ परोसकर इतिश्री कर ली जाती है। इधर प्रज्ञाचक्षु पण्डित सुखलाल जी के अलावा सब ग्रन्थों में पिष्टपेषण जैसा ही हाल रहा है। परंतु उन सबका भी धन्यवाद ही है क्योंकि उनके अनुवादों, व्याख्याओं और परिभाषाओं ने भी पुरातन को संभाले रखने और संरक्षित करने का सौभागी कार्य किया है।

सौभाग्य से इधर कुछ समय से हमारी संघ की विदुषी साध्वी रत्ना श्री वैभवश्री जी 'आत्मा' द्वारा रचित साहित्य प्रकाश में आ रहा है। उनकी प्रज्ञा शक्ति ऋतम्भरा प्रज्ञा है, बोध शक्ति गहन है और व्यक्त करने की शक्ति भी सद्गुरू और जिनदेव की कृपा से बहुत श्रेष्ठ है। उन्होनें कुछ सूत्रों पर नवीन शैली में व्याख्याएँ दी हैं जो सर्वाधिक मौलिक व सत्य के समीप हैं। आचारांग और सामायिक सूत्र पर आपकी व्याख्याओं और परिभाषाओं से आपके मौलिक साहित्य सम्पादिका और लेखिका होने का पूरा विश्वास किया जा सकता है।

बहुत ही प्रसन्नता की बात है कि अभी आपने पूज्य विराट गुरूजी की देशना के अनुसार अपनी प्रज्ञा धार को और पैनापन देकर 'तत्त्वार्थाधिगम सूत्र' पर भी अपनी मौलिक व्याख्या प्रस्तुत की है। आपके इस महनीय सद्प्रयास के लिए आपके प्रति साधुवाद प्रेषित करता हूँ। आपका प्रयास घर-घर में प्रशंसनीय और अनुमोदनीय बने, इसकी शुभाशंसा करता हूँ।

आप आगे भी शास्त्रों, ग्रन्थों, आगमों की नवीन और मौलिक व्याख्याओं से संघ व समाज को इसी भाँति सौभाग्यवर्धित करती रहेंगी, ऐसी आशा आप से है। 'तत्त्वार्थ सूत्र' पर आपके इस संक्षिप्त परन्तु विद्वत्तापूर्ण लेखकीय कृत्य सम्पादन के लिए आपको बहुत-बहुत आशीर्वाद और साधुवाद। इस सुन्दर सम्पादन हेतु बहुत-सी मंगलकामनाएँ।

तिरूवोट्टियूर
दिनांक - 20.06.2017

रविन्द्र मुनि
श्रमण संघीय उपाध्याय

आओं जानें ग्रंथ एवं ग्रंथकार को

ग्रंथकार का परिचय –

तत्त्वार्थाधिगम सूत्र के रचयिता 'वाचक उमास्वाति' रहे हैं। आपका जन्म दक्षिण भारत के जिस प्रान्त में हुआ, उसे आज केरल नाम से जाना जाता है। ऐसा कहा जाता है कि आपकी माता का नाम 'उमा' तथा पिता का नाम 'स्वाति' था। इसी कारण आपका नाम 'उमास्वाति' प्रचलित हुआ। दक्षिण भारत में ऐसी परंपरा आज भी प्रचलित है, जहाँ बालक का नाम माता-पिता के संयुक्त नाम से जाना जाता है।

आपका जीवनकाल विक्रम की तीसरी व चौथी शती के मध्य माना जाता है, किंतु आपके संबंध में जीवन वृत्तांतों का अधिक उल्लेख नहीं मिलता है। स्वयं वाचक उमास्वाति द्वारा रचित तत्त्वार्थ कारिका में कुछ गाथाएँ मिलती है, जिनके आधार पर इनका जन्म नाम 'उमास्वाति' एवं उनके दीक्षा प्रदाता गुरू का नाम 'घोषनन्दि क्षमासमण' मिलता है, जो स्वयं ग्यारह अंग सूत्रों के ज्ञाता थे। आपका अध्ययन वाचक वंश के मुख्य आचार्य 'शिवश्री' के पास हुआ। आप बाल्यकाल से ही कुशाग्र मेधा के धनी थे। आगम ग्रंथों के साथ-साथ अन्य दार्शनिक धर्मग्रंथों के ज्ञाता वाचक उमास्वाति ने जब यह महसूस किया कि जैनागमों का विस्तार जैन दर्शन को संक्षिप्त शैली में, कम शब्दों में प्रगट होने में और अन्य धर्मावलंबियों या दार्शनिकों द्वारा संक्षिप्त में समझे जाने में मुश्किलें पैदा करता है, तब उन्होंने समस्त अंग सूत्रों का सार-संक्षेप कुछ इस भांति सूत्रबद्ध किया कि जैन विद्या का जिज्ञासु शोधार्थी छात्र इसे कम समय में, तात्कालिक प्रचलित संस्कृत भाषा में सूत्रात्मक रूप से प्राप्त कर लेवे।ऐसा कहा जाता है कि संस्कृत भाषा में जैन सूत्रों के प्रथम रचयिता वाचक उमास्वाति ही रहे हैं।

मात्र दस अध्यायों में व 344 सूत्रों में संपूर्ण जैन तत्त्व ज्ञान को सूत्रबद्ध करना किसी विशिष्ट प्रज्ञालब्धि के बिना संभव ही नहीं है। संक्षिप्त सूत्रों को विस्तार में व्याख्यायित करना सदा ही आसान होता है किंतु विस्तृत जैन दर्शन को संक्षिप्त में इस भाँति प्रगट करना कि विषय-वस्तु क्रमवार भी आए और एक-दूसरे को परस्पर संयुक्त करती भी प्रतीत हो, निश्चित ही 'अनुपम' है। प्रस्तुत कृति 'तत्त्वार्थाधिगम सूत्र' द्वादशांगी जैन सूत्रों को समझने की एक कुंजी के समान है। इसे श्रुतरूपी महल में प्रवेश करने का लघु किंतु भव्य द्वार भी समझ सकते हैं, जिसके खुलने पर अथाह ज्ञान राशि प्रगट होगी। अथवा इस सूत्र रचना को हम आगम सूत्र रूपी बिखरी मणियों को गूँथकर बनाई गई मणिमाला भी कह सकते हैं। अस्तु, वाचक उमास्वाति का यथार्थ सूत्र ज्ञान, सरल व गहन प्रज्ञा, भाषा का वर्चस्व व समयानुकूल अभिव्यक्ति का सशक्त दर्शन इस तत्त्वार्थ सूत्र में प्राप्त होता है। वैसे भी ज्ञानी का परिचय उसका जन्म स्थान, नाम, माता-पिता का नाम या बाल्यकालीन वातावरण न होकर उसकी अपनी ज्ञानमयी देशना ही होती है। कलाकार की कृति ही कलाकार का वास्तविक परिचय है, शेष परिचय से क्या ? नाम, गौत्र, स्थान व समय तो सभी का कोई न कोई होता ही है, किंतु जो अपने जीवन काल में उपलब्ध समयाकाश में महत्वपूर्ण दस्तावेज़ छोड़ जाता है, वह मरकर भी अमर हो जाता है।

एक विशिष्ट बात यह भी है कि वाचक उमास्वाति जी को दिगंबर वर्ग दिगंबर साधु मानता है व इस ग्रंथ को 'मोक्षशास्त्र' कहता है तो श्वेतांबर वर्ग आपको श्वेतांबर साधु मानता है। इस प्रकार दोनों ही वर्ग द्वारा आदरणीय वाचक उमास्वाति की यह कृति संपूर्ण जैन समाज द्वारा एकमत से स्वीकार्य व सम्माननीय है। तत्वार्थाधिगम सूत्र की रचना कैसे हुई ? इस संदर्भ में ऐसा उल्लेख मिलता है कि सौराष्ट्र प्रान्त में उर्जयन्तगिरि के समीप गिरनार नगर में आसन्नभव्य द्वैपायन नामक विद्वान थे। उन्होनें 'दर्शन ज्ञान चारित्राणि मोक्ष मार्गः' सूत्र बनाया और कदाचित् भूल न जाएँ इसलिए एक पटिये पर लिख दिया। गोचर चर्या से लौटते वक्त गृद्धपिच्छाचार्य उमास्वाति जी की दृष्टि उस पटिये पर पड़ी। तब आपने उस सूत्र में आगे 'सम्यक्' शब्द जोड़ दिया। द्वैपायन विद्वान ने जब पूछा कि यह शब्द किस महानुभाव ने जोड़ा है ? तब उनकी माता ने उत्तर दिया कि किसी निर्ग्रंथ ने यह शब्द जोड़ा है। उन निर्ग्रंथ वाचक उमास्वाति जी की खोज कर उस द्वैपायन विद्वान ने निर्मल मुमुक्षा से अभिभूत होकर अपनी जिज्ञासाएँ रखी और उचित समाधान पाकर उनके चरणों में निवेदन किया कि आप आर्हत् दर्शन का तत्त्वज्ञान संस्कृत भाषा में सूत्रात्मक शैली में प्रस्तुत करें। इस प्रकार इस महाग्रंथ की रचना प्रारम्भ हुई। जो जीव आदि तत्त्वों की व्याख्या के साथ उसके परम इष्ट 'मोक्ष' तक की यात्रा को संक्षिप्त में निर्देशित करता है। इस लघु कृति पर आज तक अनेक आचार्य, उपाध्याय व विद्वत् वर्ग द्वारा टीकाएँ, भाष्य, व्याख्या ग्रंथ व प्रवचन इत्यादि हो चुके हैं। आईये, संक्षिप्त में एक नज़र उन पर भी डाल लें।

सर्वप्रथम स्वयं वाचक उमास्वाति ने स्वरचित तत्त्वार्थाधिगम सूत्र पर 'स्वोपज्ञभाष्य' लिखा जो 'तत्त्वार्थाधिगम भाष्य' के नाम से प्रसिद्ध है। यह संस्कृत भाषा में गद्य शैली में लिखा गया विवेचन है। प्रसिद्ध जैनाचार्य सिद्धसेन दिवाकर ने इस भाष्य को आधार बनाकर वृत्ति लिखी जो 'सिद्धसेनीया टीका' के नाम से प्रसिद्ध हुई। दूसरी वृत्ति के रचयिता आचार्य हरिभद्र है, जो स्वयं प्रकाण्ड पण्डित व 444 ग्रंथों के लेखक विद्वानभट्ट हुए। यद्यपि उनके द्वारा लिखी गई लघुकृति को उनके शिष्य यशोभद्र जी ने पूर्ण किया। पूज्यपाद, अकलंक आदि अनेक दिगंबर विद्वानों ने इस पर विस्तृत टीकाएँ लिखी। पूज्यपाद की 'सर्वार्थसिद्धि', अकलंक की 'राजवार्तिक टीका' सुप्रसिद्ध है। साथ ही 'श्लोकवार्तिक' नाम की भी इसकी एक विस्तृत टीका है। जिसे विद्यानन्दि स्वामी ने लिखा है। भास्करानन्दी ने भास्करी टीका, श्रुतसागराचार्य ने श्रुतसागरी टीका, द्वितीय श्रुतसागर ने तत्त्वार्थ सुख-बोधिनी टीका, विबुधसेनाचार्य ने तत्त्वार्थ टीका, योगीन्द्रदेव ने तत्त्व प्रकाशिका टीका, अभयनन्दि सूरि जी ने भी तत्त्वार्थ सूत्र पर टीका लिखी। हिंदी भाषा में पण्डित खूबचंद जी सिद्धांत शास्त्री, प्रज्ञाचक्षु पंडित प्रवर सुखलाल जी संघवी का तत्त्वार्थ सूत्र विवेचन बहुत सरल, गमनीय व सुव्यवस्थित रचना है। श्री वर्द्धमान स्थानकवासी श्रमण संघ के प्रथम आचार्य सम्राट पूज्य श्री आत्माराम जी महाराज जी ने 'तत्त्वार्थसूत्र-जैनागम समन्वय' नाम का ग्रन्थ लिखा है, जिसमें तत्त्वार्थसूत्र के प्रत्येक सूत्र का ग्यारह अंग व बारह उपांग सूत्रों में कहाँ कैसा साम्य है, उसका दिग्दर्शन कराया गया है। आचार्य भगवन् रचित इस ग्रंथ की व्याख्या कर उपाध्याय केवल मुनि जी ने भी जिज्ञासु पाठकों के लिए बहुत सुंदर भूमिका तैयार की है। इन समस्त महापुरूषों के सिवाय भी अन्य अनेक साध्वी भगवंत, साधु भगवंत द्वारा जो कुछ भी लिखा गया है, हमारे पढ़ने में न आया हो, तब भी समस्त श्रुत महोदधि गुरू भगवंतों का आभार ज्ञापित करते हैं।

ग्रंथ की विषय वस्तु -

जैसा कि प्रस्तुत ग्रंथ के नाम से ही सुस्पष्ट है कि यह ग्रंथ जीव-अजीव आदि तत्त्व, उनके अर्थ और

उनको सीखने (Learning) का ज्ञान देता है इसीलिए इसका नाम 'तत्त्वार्थाधिगम सूत्र' रखा गया है। आर्हत् दर्शन में जीव, अजीव, आस्रव, (पुण्य,पाप), संवर, बंध, निर्जरा व मोक्ष- इस तरह कहीं सात तो कहीं नौ तत्त्वों का उल्लेख मिलता है। तत्त्वार्थाधिगम सूत्र के दस अध्यायों में से प्रथम पाँच अध्यायों की व्याख्या प्रस्तुत ग्रंथ का वर्ण्य विषय है। शेष पाँच अध्याय हम इसके द्वितीय खण्ड में प्रकाशित कर पाएँगे। प्रथम पाँच अध्यायों में से चार अध्याय तक का विवेचन आप्तज्ञानी आगमप्रज्ञ पूज्य श्री विराट गुरूजी की निश्रा में हुआ है, इसीलिए वह पूर्ण प्रामाणिक तो है ही साथ ही विशद् गहराई लिए हुए भी है।

प्रस्तुत सूत्र के 5 अध्यायों में से प्रथम अध्याय में सम्यग्दर्शन, सम्यक् ज्ञान व सम्यक् चारित्र को मोक्ष का मार्ग बताते हुए सम्यग्दर्शन की परिभाषा, उसकी प्राप्ति के उपाय, सम्यक् ज्ञान के पाँच भेद, पाँचों ज्ञानों के अपर भेद, उनका विषय-क्षेत्र, उनमें परस्पर संबंध, उनकी प्राप्ति का क्रम, प्रमाण और नय, नय के भेद-प्रभेद इत्यादि का वर्णन संक्षिप्त शब्दों में मात्र 35 सूत्रों में किया गया है।

द्वितीय अध्याय में जीव मात्र में पाए जाने वाले विविध भाव जैसे औदयिक, औपशमिक, क्षायिक, क्षायोपशमिक, परिणामिक आदि के भेद-प्रभेद, समस्त जीवों के सापेक्ष भेद जैसे-संसारी व मुक्त, समनस्क व अमनस्क, त्रस व स्थावर, पंचइंद्रियों के भेद जैसे-द्रव्येन्द्रिय-भावेन्द्रिय, निवृत्ति-उपकरण, लब्धि व उपयोग, इन्द्रिय आदि, विग्रह व अविग्रह गति, जन्म के प्रकार जैसे-सम्मूर्च्छन, गर्भज व औपपातिक, पाँच प्रकार के शरीर यथा औदारिक, वैक्रिय, आहारक, तेजस् व कार्मण इनकी पारस्परिक तुलनात्मक विशेषताएँ, इनके स्वामी व एक साथ कितने शरीरों की शक्यता तथा अपवर्तनीय व अनपवर्तनीय आयुष्य के स्वामी का वर्णन है। इस प्रकार इस अध्याय में जीव-देह संबंधी कुल 52 सूत्रों का उल्लेख है।

तीसरे अध्याय में अधोलोक व तिरछे (मध्य) लोक का वर्णन है। सात नरक, उनके नाम, उनकी वेदना व भवस्थिति को संक्षिप्त शैली में मात्र 18 सूत्रों में प्रस्तुत किया गया है। मध्यलोक में प्रतिष्ठित जंबूद्वीप, लवण समुद्र, भरत-ऐरावत-महाविदेह, घातकीखण्ड, पुष्करार्ध व अकर्मभूमि का तथा मनुष्यों व तिर्यंचों की आयुस्थिति का वर्णन है। चतुर्थ अध्याय में देवों के चार निकायों का, उनकी भवस्थिति, लेश्या, दैविक भोग शैली का तथा उनकी कल्पातीत व कल्प व्यवस्था का उल्लेख 53 सूत्रों में हुआ है।

प्रस्तुत तृतीय व चतुर्थ अध्याय जैन सूत्रों में पारंपरिक रूप से उल्लिखित देव व नरक की अवस्थाओं को बयाँ करते हैं। इनका समुचित ज्ञान मात्र अवधिज्ञान आदि अतीन्द्रिय ज्ञान संपन्न विशिष्ट महात्माओं को ही संभव है, वे ही अपनी अतीन्द्रिय क्षमता से इन्हें जान-देख सकते हैं। शेष मति-श्रुत ज्ञानियों के लिए तो यह विषय विशेष उपयोगी नहीं है। पूज्य श्री विराट गुरूजी ने परंपरा से वर्णित अवधि ज्ञान के छः भेदों के सिवाय भी अनेक भेदों को आत्मानुभव से जाना व प्रगट किया है। नारकी व देवता संबंधित कई नई जानकारियाँ प्रस्तुत ग्रन्थ में अभिव्यक्त की है, उनकी आप्त वाणी से ही यह ग्रंथ-लेखन अब तक लिखित समस्त तत्त्वार्थ विवेचनों से अपनी अलग भूमिका रखता है, विशिष्ट महत्ता रखता है।

पाँचवें अध्याय का विवेचन पूज्य गुरूजी ने प्रत्यक्ष भौतिक रूप से उपस्थित रहकर तो नहीं करवाया किंतु उनकी अभौतिक उपस्थिति तो समस्त ग्रंथ में आद्योपान्त रही ही है। इस पंचम अध्याय में द्रव्य का स्वरूप, षडद्रव्यों की विशिष्टताएँ, पुद्गल की संरचना तथा सत्य का त्रिपदी स्वरूप वर्णित है। पाँचवे अध्याय में 44 सूत्रों के माध्यम से लोक स्वरूप को संकेतित किया गया है।

आत्मज्ञानी पूज्यश्री विराट गुरूजी का मार्गदर्शन व प्रेरणा वचन न मिलता तो इस विवेचन का आविर्भाव असंभव प्रायः ही था। हमारा समस्त लेखन पूज्य गुरूजी के द्वारा संप्रेरित व संशोधित है, अतः यह

संपूर्ण लेखन उन्हीं के श्री चरणों में समर्पित है।

'त्वदीय कृति तुभ्यमेव समर्पयामि।'

अरहंत प्ररूपित तत्त्व ज्ञान को प्रणाम ! !

वाचक उमास्वाति के ज्ञान को प्रणाम ! !

आत्मज्ञानी श्री विराट गुरूजी के सम्यग्दर्शन को प्रणाम... ! !

समस्त दिव्य प्रेरणाओं को प्रणाम... ! !

जो यह 'आर्हत् दर्शन : तत्त्वार्थाधिगम सूत्र 'ग्रंथ विरचित हो पाया।

तत्त्वार्थाधिगम सूत्र का अपर नाम मोक्ष मार्ग भी है। यही एक मात्र ऐसा सूत्र है जो दिगंबर व श्वेतांबर की सभी आम्नाओं में समान रूप से स्वीकृत है, महत्ता प्राप्त है। स्वाध्याय व वाचना के क्षणों में इस सूत्रागम का अध्ययन खूब किया-कराया जाता है।

आत्मज्ञानी श्री विराटगुरूजी ने अपनी ज्ञानमयी देशना से हमारी मति को निर्मल किया, हमारे भीतर श्रुत का संचार किया और अपने अवधि ज्ञान से दिव्य स्वरूप को प्रत्यक्ष अनुभव करते हुए हमारी जिज्ञासा व समझने की क्षमता के अनुसार उसकी झलक प्रस्तुत ग्रंथ के अनेक सूत्रों की व्याख्या में प्रगट की।

(अवधि ज्ञान का, पाँच शरीरों का, नरक व देवलोकों का जो विशद वर्णन प्रस्तुत ग्रंथ में मिल रहा है वह अन्यत्र अप्राप्य है, दुर्लभ है। ऐसी व्याख्या वे ही कर सकते हैं, जो स्वयं अवधि ज्ञानी है, प्रत्यक्ष ज्ञानी है।) पूज्य विराट गुरूजी द्वारा दिया गया उद्बोधन समस्त जिज्ञासुओं को मिले, मुमुक्षु साधकों को मिले, जन-जन को मिले-इसी उद्देश्य से हमारा यह लघु प्रयास आप सबकी सेवा में समर्पित है। जिज्ञासु साधकों की जिज्ञासाएँ व विद्वान पाठकों के अभिमत सदैव आमंत्रित हैं। आप सभी इस श्रुतनिधी का उपयोग कर गुरू ज्ञान का प्रसाद पाएँ, आत्मज्ञान उजागर कर पाएँ। भवयात्रा का परिसमापन हो। यही सद्भावना-

गुरू का गरिमा मण्डित ज्ञान, बलिहारी लूँ रे।
ज्ञान की नित्य निराली शान, बलिहारी लूँ रे।।

सत्गुरूदेव को अहरह वंदन।
क्षण-क्षण अभिनंदन।।
जय हो ! जय हो ! जय हो !

अध्याय-1

मोक्ष मार्ग

अनुक्रमणिका

		मूल सूत्र एवं अर्थ	:	14
सूत्र - 1	:	मोक्षमार्ग	:	19
सूत्र - 2	:	सम्यक् दर्शन यानि क्या ?	:	24
सूत्र - 3	:	सम्यग्दर्शन प्राप्ति का मार्ग	:	27
सूत्र - 4	:	सप्त तत्त्व आख्यान	:	30
सूत्र - 5	:	निक्षेप चार	:	33
सूत्र - 6	:	प्रमाण और नय	:	35
सूत्र - 7	:	अधिगम के तरीके-1	:	38
सूत्र - 8	:	अधिगम के तरीके -2	:	40
सूत्र - 9	:	पाँच ज्ञान	:	44
सूत्र - 10-12	:	ज्ञान प्रमाण है	:	46
सूत्र - 13	:	मति के पर्याय	:	49
सूत्र - 14	:	मतिज्ञान कैसे होता है ?	:	53
सूत्र - 15	:	मतिज्ञान के भेद-1	:	55
सूत्र - 16	:	मतिज्ञान के भेद-2	:	57
सूत्र - 17	:	मतिज्ञान का विषय-1	:	59
सूत्र - 18	:	मतिज्ञान का विषय-2	:	62
सूत्र - 19	:	मतिज्ञान का विषय-3	:	64
सूत्र - 20	:	श्रुतज्ञान प्रकरण	:	66
सूत्र - 21-23	:	अवधिज्ञान प्रकरण	:	70
सूत्र - 24-25	:	मनः पर्याय ज्ञान प्रकरण	:	76
सूत्र - 26	:	अवधि ज्ञान-मनः पर्याय ज्ञान में अंतर	:	78
सूत्र - 27	:	मति-श्रुत ज्ञान की विषय सीमा	:	80
सूत्र - 28-29	:	अवधि और मनः पर्याय ज्ञान की विषय सीमा	:	82
सूत्र - 30	:	केवलज्ञान का विषय-क्षेत्र	:	84
सूत्र - 31	:	एक समय में कितने ज्ञान ?	:	87
सूत्र - 32	:	तीन ज्ञान हो सकते अज्ञान	:	89
सूत्र - 33	:	ज्ञान क्यूँ बनता अज्ञान... ?	:	92
सूत्र - 34-35	:	सात नय	:	94

।। अथ प्रथमोऽध्यायः।।

मोक्षमार्ग

मूल सूत्र एवं अर्थ

सूत्र- सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्राणि मोक्षमार्गः ।।1।।
अर्थ- सम्यग्दर्शन, ज्ञान व चारित्र का संयुक्त मार्ग ही मोक्ष मार्ग है ।।1।।

सूत्र- तत्त्वार्थश्रद्धानं सम्यग्दर्शनम् ।।2।।
अर्थ- तत्त्व के अर्थ का श्रद्धान सम्यग्दर्शन है ।।2।।

सूत्र- तन्निसर्गादधिगमाद्वा ।।3।।
अर्थ- तत् निसर्गात् अधिगमात् वा अर्थात् वह सम्यग्दर्शन निसर्ग से और अधिगम से होता है ।।3।।

सूत्र- जीवाऽजीवाऽस्रव बन्धसंवरनिर्जरामोक्षास्तत्त्वम् ।।4।।
अर्थ- जीव, अजीव, आस्रव, बंध, संवर, निर्जरा और मोक्ष- ये सात तत्त्व हैं ।।4।।

सूत्र- नामस्थापनाद्रव्यभावतस्तन्न्यासः ।।5।।
अर्थ- नाम, स्थापना, द्रव्य और भाव से उसका न्यास (समझना) होता है ।।5।।

सूत्र- प्रमाणनयैरधिगमः ।।6।।
अर्थ- प्रमाण और नय से अधिगम होता है ।।6।।

सूत्र- निर्देशस्वामित्वसाधनाधिकरणस्थितिविधानतः ।।7।।
अर्थ- 1. निर्देश 2. स्वामित्व 3. साधन 4. अधिकरण 5. स्थिति और 6. विधान-इनसे भी ज्ञान प्रक्रिया (learning) का विधान होता है ।।7।।

सूत्र- सत्संख्याक्षेत्रस्पर्शनकालांतर भावाल्पबहुत्वैश्च ॥8॥
अर्थ- सत्-अस्तित्त्व (existence) होना, संख्या-गिनती, क्षेत्र-वर्तमान निवास स्थान, स्पर्शन-तीनों काल संबंधी निवास स्थान, काल-रहने-ठहरने की मर्यादा, अंतर-विरहकाल, भाव-अवस्था (परिणाम विशेष), अल्पबहुत्व-थोड़ा बहुत पन (quantity) इन आठ अनुयोगों के द्वारा भी सप्त तत्त्वों का और रत्नत्रय का ज्ञान होता है ॥8॥

सूत्र- मतिश्रुताऽवधिमन:पर्यायकेवलानि ज्ञानम् ॥9॥
अर्थ- मति, श्रुत, अवधि, मनःपर्यव और केवल-ये पाँच ज्ञान है ।।9 ।।

सूत्र- तत्प्रमाणे ॥10॥
अर्थ- तत् अर्थात् वह पाँच प्रकार का ज्ञान दो प्रमाण रूप है ।।10 ।।

सूत्र- आद्ये परोक्षम् ॥11॥
अर्थ- जो आद्य के दो रूप है वे परोक्ष है अर्थात् मति ज्ञान व श्रुत ज्ञान परोक्ष (Indirect) प्रमाण ज्ञान है ॥11॥

सूत्र- प्रत्यक्षमन्यत् ॥12॥
अर्थ- अन्य (तीन) प्रत्यक्ष प्रमाण रूप है। अवधि ज्ञान, मनः पर्यव व केवल ज्ञान प्रत्यक्ष (Direct) ज्ञान प्रमाण है ॥12॥

सूत्र- मति:स्मृति:संज्ञा चिंता ऽभिनिबोध इत्यनर्थान्तरम् ॥13॥
अर्थ- मति, स्मृति, संज्ञा, चिंता, अभिनिबोध इत्यादि अनर्थांतर (अर्थ भेद से रहित) है अर्थात् पर्यायवाची है ॥13॥

सूत्र- तदिन्द्रियाऽनिन्द्रियनिमित्तम् ॥14॥
अर्थ- मतिज्ञान इंद्रिय और अनिन्द्रिय के निमित्त से होता है अर्थात् वह मतिज्ञान पाँचों इंद्रियों और मन की सहायता से होता है ॥14॥

सूत्र- अवग्रहेहाऽवायधारणाः ॥15॥
अर्थ- मतिज्ञान के अवग्रह, ईहा, अवाय और धारणा- यह क्रमशः चार मुख्य भेद हैं ॥15॥

सूत्र- बहु-बहुविध-क्षिप्रानिश्रिताऽ संदिग्ध ध्रुवाणां सेतराणाम् ॥16॥
अर्थ- प्रतिपक्ष सहित बहु, बहुविध, क्षिप्र, अनिश्रित, असंदिग्ध और ध्रुव रूप में अवग्रह, ईहा, अवाय, धारणारूप मतिज्ञान होता है ॥16॥

सूत्र- अर्थस्य ॥17॥
अर्थ- अवग्रह आदि मतिज्ञान के जो भेद हैं, वे अर्थ के हुआ करते हैं ॥17॥

सूत्र- व्यञ्जनस्याऽवग्रह : ॥ 18 ॥
अर्थ- व्यञ्जन का अवग्रह होता है ॥18॥

सूत्र- न चक्षुरनिन्द्रियाभ्याम् ॥19॥
अर्थ- चक्षु और मन से व्यंजनावग्रह नहीं होता।।19।।

सूत्र- श्रुतं मतिपूर्वंकंद्वयनेकद्वादशभेदं ॥ 20॥
अर्थ- श्रुतज्ञान मतिपूर्वक होता है। वह दो, अनेक और बारह भेदों वाला है ॥20॥

सूत्र- द्विविधोऽवधिः ॥21॥
अर्थ- अवधि ज्ञान दो प्रकार का है ॥21॥

सूत्र- तत्र भवप्रत्ययो: नारकदेवानाम् ॥22॥
अर्थ- उन दो में से भव प्रत्यय नारक और देवों को होता है ॥22॥

सूत्र- यथोक्तनिमित्तः षड्विकल्पः शेषाणाम् ॥23॥
अर्थ- यथोक्त निमित्त-क्षयोपशमजन्य अवधि छः प्रकार का है, जो शेष को अर्थात् तिर्यंच तथा मनुष्यों को होता है ॥23॥

सूत्र- ऋजुविपुलमति मनःपर्यायः ॥24॥
अर्थ- ऋजुमति और विपुलमति ये दोनों मनः पर्यायज्ञान के भेद है ॥24॥

सूत्र- विशुद्धयप्रतिपाताभ्यां तद्विशेषः ॥25॥
अर्थ- विशुद्धि से और अप्रतिपाति होने से विपुल मति मनः पर्याय, ऋजुमति मनः पर्याय से विशेष है ॥25॥

सूत्र- विशुद्धिक्षेत्रस्वामिविषयेभ्योऽवधिमनः पर्याययोः ॥26॥
अर्थ- विशुद्धि, क्षेत्र, स्वामी और विषय की अपेक्षा अवधिज्ञान और मनःपर्यव ज्ञान में भेद है ॥26॥

सूत्र- मतिश्रुतयोर्निबंधः सर्वद्रव्येष्वसर्वपर्यायेषु ॥ 27॥
अर्थ- मति ज्ञान और श्रुत ज्ञान इन दोनों का विषय (निबंध) संपूर्ण द्रव्यों में है किंतु उनकी समस्त पर्यायों में नहीं है ॥27॥

सूत्र- रूपिष्ववधेः ॥28॥
अर्थ- अवधिज्ञान रूपी पदार्थों को विषय करता है ॥28॥

सूत्र- तदनन्तभागे मनःपर्यायस्य ॥29॥
सूत्र- मनःपर्यव ज्ञान रूपी पदार्थ के अनन्तवें भाग मात्र को ही जानता है ॥29॥

सूत्र- सर्वद्रव्यपर्यायेषु केवलस्य ॥30॥
अर्थ- केवल ज्ञान सभी द्रव्य और सभी पर्यायों को जानता है ॥30॥

सूत्र- एकादीनि भाज्यानि युगपदेकस्मिन्ना चतुर्भ्यः ॥31॥
अर्थ- एक आत्मा में एकसाथ एक से लेकर चार तक ज्ञान विकल्प से अनियत रूप से होते हैं ॥31॥

सूत्र- मतिश्रुताऽवधयो विपर्ययश्च ॥32॥
अर्थ- मति,श्रुत और अवधि ये तीनों ज्ञान विपरीत भी होते हैं ॥32॥

सूत्र- सदसतोरविशेषाद् यदृच्छोपलब्धे रून्मत्तवत् ॥33॥
अर्थ- वास्तविक और अवास्तविक का अंतर न जानने से, यदृच्छोपलब्धि के कारण, उन्मत्त की तरह ज्ञान भी अज्ञान ही है ॥33॥

सूत्र- नैगमसंग्रहव्यवहारर्जुसूत्र शब्दा नया: ॥34॥
अर्थ-नैगम, संग्रह, व्यवहार, ऋजुसूत्र, शब्द, समभिरूढ़ और एवं भूत-ये सात नय है ॥34॥

सूत्र- आद्यशब्दौ द्वित्रिभेदौ ॥35॥
अर्थ- आद्य अर्थात् नैगम नय के दो भेद है व शब्द नय के तीन भेद होते हैं। ॥35॥

॥ इति मूल सूत्र प्रथमोऽध्याय: सम्पूर्णम् ॥

सूत्र-1

मोक्ष मार्ग

सूत्र- सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्राणि मोक्षमार्गः ॥1॥

अर्थ- सम्यग्दर्शन, ज्ञान व चारित्र का संयुक्त मार्ग ही मोक्ष मार्ग है ॥1॥

विवेचन- धार्मिक-ज्ञान प्राप्त करने से पूर्व दो प्रश्न ज़हन में उभरते हैं-

1. धर्म क्या है ? 2. धर्म की अनिवार्यता क्यों ?

पहले प्रश्न का उत्तर है कि धर्म शाश्वत सुखी होने का भाव है क्योंकि संसार में कोई भी कार्य करने के मूल में सुखी होने की ही भावना रहती है और व्यक्ति सनातन सुखी तभी हो सकता है जब वह अपने स्वभाव में गति करे। क्योंकि जो पराया है वह आपको आकर्षित तो कर सकता है मगर सुखी कदापि नहीं कर सकता। इंद्रिय सुख सच्चा सुख नहीं हो सकता, वह तो सदा ही दुःख में बदलता है। क्षणिक सुख या उत्तेजक खुशियाँ हमारा स्वभाव नहीं है। वास्तविक सुख तो आप की अपनी स्वभाव गति में ही संभव है। अतः धर्म आत्मा की स्वभाव गति है। चूँकि संसार में पौद्गलिक आकर्षण-विकर्षण की भ्रमणा में आदमी भूल कर उलझ गया, इसलिए अपनी निजत्व गति को जान-समझ लेना और पुनः अपने स्वभाव में स्थापित होना भी अनिवार्य ही है। यहाँ धर्म की अनिवार्यता प्रमाणित होती है।

अब प्रश्न होता है कि धर्म का शुद्ध पाषण्ड अर्थात् मार्ग क्या है ? तो भगवान ने जगत् में दो पाषण्ड बताए हैं। एक-स्व पाषण्ड व दूसरा-पर पाषण्ड। स्वपाषण्ड का अर्थ है-आत्मा का मार्ग, आध्यात्मिक सुख का मार्ग। आध्यात्मिक सुख का अर्थ है कि जब आत्मा किसी बंधन में न होकर सर्वार्थ सुखी हो जाए, यानि मोक्ष का मार्ग। दूसरा मार्ग है-संसार की दूसरी सारी स्थितियों में ही सुख मानकर फिर-फिर इस लोक संबंधित या परलोक (स्वर्ग, नरक आदि) संबंधित नए-नए बंधनों को प्राप्त करना। जैसी कि वेदों में कामना की गई है कि-'हे अग्नि ! हमें धन-माल, पत्नी-पुत्र, गौधन-आदि प्रदान कर', इसे पर-पाषण्ड कहा गया है। पर अर्थात् पुद्गल में सुख मान कर उसे प्राप्त करने का मार्ग पर-पाषण्ड है। निर्ग्रन्थ दर्शन, जिसे आज जैन धर्म कहा जाता है, स्वर्ग की कामना नहीं करता। समणों ने कहा है कि 'स्वर्ग व नरक दोनों ही बंधन है। बेड़ी चाहे लोहे की हो या सोने की, बेड़ी ही है। अतः हे भव्य जीव ! तू मोक्ष मार्ग का पुरूषार्थ कर।' जहाँ यह जानने योग्य है कि मोक्ष मार्ग क्या है ? तो तत्त्वार्थाधिगम सूत्र के प्रथम सूत्र में मोक्ष मार्ग का निरूपण किया गया है-

सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्राणि मोक्षमार्गः

तत्त्वार्थाधिगम सूत्र के प्रस्तुत प्रथम सूत्र में मोक्षप्राप्ति के लिए सम्यक् त्रिरत्न की बात कही गई है। इन

तीनों में से पृथक्-पृथक् कोई भी एक अथवा दो मोक्ष का मार्ग नहीं बन सकते। तीनों का साहचर्य अति आवश्यक है। तीनों मिलकर ही मोक्षमार्ग है। उत्तराध्ययन सूत्र के मोक्षमार्ग नाम के 28 वें अध्याय में भी यही बात उल्लिखित है-

नादंसणिस्स नाणं, नाणेण विना न हुंति चरणगुणा।
अगुणिस्स नत्थि मोक्खो, नत्थि अमोक्खस्स निव्वाणं।।

गाथा का अर्थ इस प्रकार है-सम्यग्दर्शन रहित जीव को सम्यक् ज्ञान नहीं होता, सम्यक् ज्ञान के बिना चारित्र गुण नहीं होता। अगुणी को मोक्ष नहीं होता और मोक्ष हुए बिना निर्वाण नहीं होता।

मोहनीय कर्म के क्षय से मोक्ष व सर्वकर्मक्षय से निर्वाण घटित होता है। अब हम इन तीनों को यथार्थतः समझेंगे -

सम्यग्दर्शन अर्थात् वह वेदन (दर्शन) जो निहायत ही निजी होता है या यों कहो कि एक आत्म श्रद्धा होती है। सम्यक् ज्ञान अर्थात् वह जानकारियाँ, जो कई-कई पहलुओं वाली है। कई तरह से वाणी आदि संकेतों से समझी व समझाई जा सकती है, जानी जा सकती है और सम्यक् चारित्र अर्थात् वह जीवन शैली, जिससे आप इस भौतिक शरीर की लीला वर्तित करते हो। ये तीनों ही विधाएँ समकित (सम्यक्) हो। समकित शब्द का तात्पर्य है कि न रागमय और न द्वेषमय। किसी कामना अथवा ऊब अर्थात् विकामना से रहित। सर्वथा निरपेक्ष व निष्पक्ष (neutral) भाव से जीवन को जीना। इस प्रकार सर्वथा निरपेक्ष भाव से दर्शन, ज्ञान व चारित्र का जो मार्ग है, बस वही मोक्ष का मार्ग है। आत्मज्ञानी पूज्य श्री विराट गुरूजी ने किसी समय कहा कि 'अनुभव के कान नहीं होते, व्याख्या की आँख नहीं होती, शैली में वीर्य तो होता है परन्तु समझ नहीं होती; इसलिए ज्ञान-दर्शन-चारित्र (तप) की संयुक्त जीवन प्रणाली ही सच्चा धर्म है।' सम्यक् रत्नत्रयी है। यहाँ अनुभव अर्थात् दर्शन, व्याख्या अर्थात् ज्ञान व शैली अर्थात् चारित्र। जहाँ अनुभव है वहाँ कान नहीं अर्थात् वहाँ ज्ञान नहीं मात्र दर्शन है, व्याख्या यानि ज्ञान के पास आँख नहीं यानि दर्शन नहीं है किन्तु जब तीनों समवेत होते हैं तब सम्यक् घटित होता है।

सम्यक् क्या है? इस शब्द पर ध्यान देवें-सम्यक् शब्द 'समय' से बना है। जब हम 'समय' (An indivisible unit of time) (भगवती सूत्र 11/11) में होते हैं तब दर्शन, ज्ञान और चारित्र बिना अंतराल (gap) के होता है। जबकि साधारणतया हमारे भीतर कभी ज्ञान पहले होता है या कभी दर्शन पहले होता है फिर वह चारित्र बनता है। जब तक दर्शन, ज्ञान और चारित्र में अंतराल है; तब तक वह सम्यक् नहीं है। सम्यक् नहीं है अर्थात् असम्यक् है। जब कभी हम पूर्व संस्कारित व संग्रहीत सोच-विचार से संबद्ध होकर बोलते हैं अथवा कुछ भी करते हैं, तब वास्तविक अर्थों में वह सम्यक् नहीं है क्योंकि वह Planned है, योजनाबद्ध है। जहाँ योजना है, वहाँ भूत और भविष्य दोनों मौजूद है। वहाँ हमारा होना वर्तमान में संपूर्ण नहीं है। हमारी चेतना बँटी-बँटी है, खंड-खंड है, अखंड नहीं है। इसी को आरंभ-समारंभ भी कहते हैं। किंतु जहाँ सोचना, बोलना और करना - तीनों सहज हो, जुगवं अर्थात् युगपत् हो, प्राकृत हो, सहज स्वाभाविक हो, spontaneous हो - उसे 'सम्यक्' जानना चाहिए। **सम्यक् होना यानि समय मात्र में होना।** निर्ग्रंथदर्शन में समय को ही 'आत्मा' कहा गया है, अतः सम्यक् होना यानि आत्मस्वभाव में होना। पूर्वाग्रह, अपेक्षा, मान्यता व संस्कार से अप्रभावित होना - सम्यक् होना है।

'सम्यग् अयः बोधो यस्य भवति स समयः आत्मा'

पूर्वाचार्यों ने उपरोक्त व्युत्पत्ति द्वारा यह प्रगट किया है कि जिसको सम्यक् बोध होता है, वही समय है अर्थात् आत्मा है। पूर्वाचार्यों ने ऐसा भी कहा है कि-

'समं एकभावेनायनं गमनं समयः'

अर्थात् जो समरूप से एकभाव से गति करे व जाने यानि ज्ञान प्राप्त करे, जो निष्पक्ष हो, निरपेक्ष हो-वह समय मात्र में है। वह, जो समय में उपस्थित है वही सम्यक् है, शेष सभी असम्यक् है। इस प्रकार 'सम्यक्' शब्द का अर्थ है- समयरूप, समयमय, आत्मस्वभाव में।

आचार्य कुंदकुंद कहते हैं कि 'समयो खलु णिम्मलो अप्पा।' अर्थात् निर्मल आत्मा समय है। जो समय में उपस्थित है वही सम्यग्दर्शनी है।

अब प्रश्न उठना स्वाभाविक है कि यह सम्यक् अवस्था घटित कैसे हो ?

यह सम्यक् अवस्था तब ही घटित हो सकती है, जब 'मैंपना' और 'मेरापना' दोनों ही न रहे। 'अप्पाणं वोसिरामि' हो चुका हो। 'हूँपना' विसर्जित हो चुका हो। अन्यथा 'मैंपने' का चश्मा हमें कभी सम्यक् होने नहीं देगा। आखिर क्या है 'मैंपना'? पूर्व संचित संस्कारों व आकारों का जोड़ ही तो 'मैंपना' (Ego) है, अहं भाव है, झूठी पहचान है, कल्पित व्यक्तित्व है जो कि यथार्थ नहीं है। अवास्तविक है। आरोपित है। आवरण रूप है। इसे ही ज्ञान-आवरणीय और दर्शन-आवरणीय कहते हैं। (आवरणिज्जाण दुण्हंपि -उत्तरा. 33 वाँ)

जब कभी हम spontaneous होते हैं, चाहे वह किसी साहसिक अवस्था में ही क्यों न हो, तब हम सम्यक् होते हैं। जब कभी अचानक विपत्ति या संकट आ जाए, हम चारों ओर से घिर जाएँ तब हमारा सोचना, बोलना और करना तीनों एक साथ घटित होते हैं, तब हम क्षण भर के लिए ही सही, सम्यक् अवस्था में होते हैं। आचारांग सूत्र के छठे अध्याय में कछुए का दृष्टांत आता है। एक कछुआ, जो एक ऐसे सरोवर में अपने परिवार, संघ-समाज के साथ जीता है, जिस पर शैवाल ही शैवाल है। सरोवर के पानी की ऊपरी सतह शैवाल (काई, algae) से पूरी तरह ढकी हुई है। ऐसे में किसी एक पूर्णिमा की रात को उस कछुए ने शैवाल के ज़रा-सा हट जाने पर अपनी गर्दन ऊँची की तो निरभ्र आकाश में पूरा चाँद देखा। एक पल के लिए वह कछुआ 'अहा' अनुभव में आया। वह निःस्तब्ध हुआ। उसका सोचना-बोलना-करना ठहर गया। वह चाँद को आवरणरहित देख पाया किंतु तभी पूर्व संचित संस्कारों व स्मृतियों ने उसे याद दिलाया तो वह अपने परिवार की ओर पलटा। उसे लगा कि वह जाए और उन्हें भी यह दृश्य दिखाने के लिए लेकर आए। उन सभी को यह अद्भुत नज़ारा दिखाए। जब वह दुबारा अपने परिवार के साथ लौट कर आता है, तब तक शैवाल पुनः पानी को घेर लेती है और छिद्र बंद हो चुका होता है। उसे वह दृश्य दिखलाई नहीं पड़ता। इस प्रकार वह कछुआ अपने पारिवारिक जनों के मोह के कारण उस दर्शन से वंचित रह जाता है और उन लोगों के लिए झूठा भी साबित हो जाता है जिन्हें समझा-बुझाकर वह चंद्रदर्शन के लिए एकत्रित कर ला पाया था। अब वह कछुआ, जो अनुभव कर चुका है, उसे भूलता तो नहीं किंतु परिवार के मोह की ग्रंथि व अतीत की संचित जानकारियों के लगाव के कारण पुनः नूतन अनुभव पाने से वंचित ही बना रहता है। वह सम्यक् नहीं हो पाता। समय में ठहर नहीं पाता। ज़रा चिन्तन करें, कहीं ऐसी ही स्थिति हमारी तो नहीं।

प्रस्तुत सूत्र कहता है कि जिसका वेदन, ज्ञान और परिणमन-तीनों संयुक्त व समय मात्र में हो, वह सम्यक्त्रयी को उपलब्ध जीवात्मा मोक्ष मार्ग को गतिशील होता है एवं इसके विपरीत वाला जीवात्मा मोह मार्ग को यानि संसार परिभ्रमण को। वस्तुतः मोह ही संसार है जो जीवात्मा के दर्शन, ज्ञान व चारित्र को खंडित करता

रहता है। उन्हें अभंग (holistic) नहीं होने देता। यह मोह ही सभी कर्मों का राजा कहा गया है। इस मोह का क्षय होना ही मोक्ष है। 'मोक्ष' अक्ष से मुक्ति है। पक्ष-विपक्षमय दृष्टि से मुक्ति ही सम्यक् दर्शन-ज्ञान-चारित्र की उपलब्धि है। सम्यग्दर्शन होने पर ज्ञान व चारित्र स्वयमेव सम्यक् हो जाते हैं।

जिस प्रकार समण दर्शन में मोक्षप्राप्ति का मार्ग त्रिपदी बतलाया है, ठीक इसी तरह बौद्ध दर्शन में भी त्रिविध साधना मार्ग का वर्णन मिलता है। बौद्ध दर्शन के इस त्रिविध साधनामार्ग के तीन अंग इस प्रकार है-

1. शील 2. समाधि और 3. प्रज्ञा (सुत्तनिपात 28/8)

भगवद्गीता के अनुसार 'ज्ञान योग, भक्ति योग व कर्म योग'-ये तीन साधना के मार्ग हैं। गीता के अध्याय 4 के 34 वें श्लोक में साधनामार्ग के रूप में प्रणिपात, परिप्रश्न और सेवा का भी उल्लेख मिलता है। इसमें प्रणिपात श्रद्धा रूप है, दर्शन का विषय है। परिप्रश्न ज्ञान का और सेवा चारित्र रूप है।

तद्विद्धि प्रणिपातेन, परिप्रश्नेन सेवया।
उपदेक्ष्यन्ति ते ज्ञानं, ज्ञानिनस्तत्त्वदर्शिनः (भगवद्गीता 34/4)

उपनिषदों में ही मोक्ष प्राप्ति के लिए श्रवण-मनन और निदिध्यासन-इन तीन साधनों की बात की गई है। यहाँ श्रवण दर्शन रूप है, मनन ज्ञान रूप और निदिध्यासन चारित्र रूप है।

पाश्चात्य दार्शनिक भी जीवन के चरम सत्य को उपलब्ध होने के तीन परम वाक्य कहते हैं-

Know Thyself (स्वयं को जानो)
Accept Thyself (स्वयं को स्वीकारो)
Be Thyself (स्वयं ही बन जाओ)

ये तीनों ही वाक्य सम्यक् ज्ञान, सम्यक् दर्शन व सम्यक् चारित्र को ही संकेतित कर रहे हैं। स्वयं को जानना ही सम्यक् ज्ञान है। इसी प्रकार स्वयं को स्वीकारना ही आत्मदर्शन अर्थात् सम्यग्दर्शन है व आत्म रमण ही सम्यक् चारित्र है। इन तीनों का समवेत जीवन ही मुक्ति मार्ग है। ऐसी मुक्ति भविष्य में कभी होगी, ऐसा नहीं है। इसी क्षण में हम मुक्त होते हैं, जब हम त्रिविधेन सम्यक् होते हैं। त्रिविधेन यानि जानना, महसूस करना व करना। इन तीन में हमारा संपूर्ण होनापन समाहित है। हमारा समग्र अस्तित्त्व ज्ञान-दर्शन व चारित्र रूप ही है। कहने का अभिप्राय यह है कि चाहे हम स्त्री हो या पुरूष, साधु हो या गृहस्थी, अनपढ़ हो या शिक्षित-हम सभी बिना किसी प्रकार की conditioning के 'त्रिरूपा' जीते हैं। हम सभी सतत् महसूस करते हैं, यानि Perceive करते हैं, feel करते हैं, सतत् जानते हैं और सतत् कुछ-न-कुछ करते भी रहते हैं।

अक्सर हमारा वेदन (Perception) या तो अच्छा रूप होता है या बुरा रूप यानि हम Good or Bad feel करते रहते हैं। जो जैसा है बस वैसा है, बिना किसी विशेषण के महसूस करना 'सम्यग्दर्शन' है। इसी प्रकार हम पाँचों ज्ञानेन्द्रियों व मन से सतत् कुछ-न-कुछ जानते रहते हैं, देखते, सुनते, चखते, सूँघते व स्पर्श करते रहते हैं, सोचते भी रहते हैं, किंतु हमारा ये सारा इंद्रिय ज्ञान liking & disliking में अथवा अपना-पराया में विभाजित रहता है, इसी कारण असम्यक् बना रहता है। किंतु जब जानना मात्र जानना हो, विशेषणों की पकड़ से मुक्त हो तो वह सम्यक्ज्ञान होता है। सम्यक्ज्ञान में मात्र जानना होता है। किसी प्रकार की यादें, स्मृति, कल्पनाएँ व मानसिक धारणाएँ नहीं होती। जब हमारा देखना व जानना अर्थात् दर्शन व ज्ञान-दोनों ही भ्रमणा मुक्त होते हैं, तब वे हमारे जीवन की प्रत्येक क्रिया (activity) को भी सम्यक् चारित्र बना देते हैं। यहाँ सम्यक् चारित्र का मतलब साधु बनना या धार्मिक क्रियाएँ करना नहीं है, वरन् जो कुछ भी किया जा रहा है वह सब सहज, स्वाभाविक,

आत्मस्फूर्त व तनावमुक्त है, तो वह सम्यक् चारित्र है।

हम कहीं ऐसा न समझें कि ये दर्शन-ज्ञान-चारित्र का सम्यक् होना तो धार्मिक बनने या साधु बनने पर ही संभव है। ये किसी भी प्रकार की बनावट की अपेक्षा रखे बिना भी संभव है, किसी में भी, कहीं भी, कभी भी संभव है। मात्र समझदारी हो, ईमानदारी हो, खुद में जागृति हो, तो किसी को भी यह मोक्षमार्ग सहज सुलभ है। अगर हम स्वीकार भाव दशा में जीने का अभ्यास करें, तो सम्यक् होना सम्भव हो जाएगा। कहा भी गया है कि-

Life is bliss if one accept things as they are.

अर्थात् जीवन आनंद है अगर हम चीज़ों को, जो जैसी है, उसे वैसा ही स्वीकार करने लगें। हम अपनी अपेक्षाएँ जोड़कर देखने की बजाए यथातथ्य (as is) देखने लगें-यही जीने का सम्यग् मार्ग है और जीने का उद्देश्य भी। जीने का उद्देश्य कुछ पाना या कुछ बनना नहीं है वरन् सम्यक् तरीके से जीना, सहमय जीना, समय में जीना ही हमारा जीवन-उद्देश्य है। हमें किसी भी तरह की विशिष्ट उपलब्धि मिले-यह हमारे जीवन का ध्येय नहीं है बल्कि हमें हर समय 'समय मात्र' में जीना आए-यही हमारा जीवन ध्येय है। आप पूछ सकते हैं ऐसा क्यों ? क्योंकि हर उपलब्धि अनित्य है, वह पहले और पीछे तनाव देती ही है, जबकि जीवन नित्य है। वह चाहे किसी भी प्रारुप में क्यों न हो, कितनी ही भिन्न-भिन्न अवस्थाओं में क्यों न हो, वह सदा मौजूद है। उसे सतत्, सहज, सजग, तनावमुक्त आत्मिक भाव से जीना सम्यक् जीना है। जिसे सम्यक् जीना आया वह प्रत्येक क्षण, क्षण-क्षण जीता हुआ, मुक्त हो ही रहा है। हमें मुक्ति को भी कभी उद्देश्य (Goal) रुप नहीं देखना है, बल्कि वह जीवन जीने के सम्यक् तरीके में ही निहित है। जीने का, जानने का सम्यक् मार्ग ही मोक्ष मार्ग है। वस्तुतः मोक्ष व सम्यक् जीवन एक ही है, भिन्न-भिन्न नहीं है। अगर हम मोक्ष को इस जीवन का लक्ष्य अथवा उद्देश्य बना कर जीते हैं तो निश्चित है कि हम भविष्यपरक (Future Oriented) ज़िंदगी जीते हैं क्योंकि लक्ष्य सदा भविष्य निर्मित करता है जबकि जीवन क्षण में है, वह भूत भविष्य में नहीं है। आयारो सूत्र कहता है कि 'खणं जाणाहि पंडिए'। अर्थात् जो क्षण को जानता है वह पंडित है, ज्ञानी है। उसे ही क्षण-क्षण मुक्ति का अनुभव होता है। वही 'खणंसी मुक्के' हुआ अर्थात् क्षण में, समय मात्र में मुक्त हुआ। कहने का तात्पर्य है कि मोक्ष हमारा लक्ष्य नहीं है बल्कि हमारे सम्यक् जीवन का सुपरिणाम है जो जीने के, जानने के, महसूस करने के तरीके में ही निहित है। पूज्य विराट गुरूजी कहते हैं कि 'क्षणे-क्षणे निर्जरा, क्षणे-क्षणे मोक्ष' अर्थात् प्रतिक्षण हो रही निर्जरा ही मोक्ष है, अगर पुनः प्रतिबंध न हो।

अब वाचक उमास्वाति जी प्रथम अध्याय के दूसरे सूत्र में सम्यग्दर्शन को परिभाषित करते हैं।

सूत्र-2
सम्यक् दर्शन यानि क्या ?

सूत्र- तत्त्वार्थश्रद्धानं सम्यग्दर्शनम् ॥2॥

अर्थ- तत्त्व के अर्थ का श्रद्धान सम्यग्दर्शन है। तत्त्व दर्शन की वह उत्कृष्ट स्थिति, जब सब कुछ यथार्थ स्वरूप की रूचिमय हो, 'सम्यग्दर्शन' है ॥2॥

विवेचन- यह सूत्र कहता है कि तत्त्व के अर्थ का श्रद्धान सम्यग्दर्शन है। 'तत्त्व' शब्द दो शब्दों से मिलकर बना है-तत्+त्व। 'तत्' यानि जो जैसा है और 'त्व' यानि वैसा। जो जैसा है, उसे वैसा ही देखना 'तत्त्व' है। (what is as is) वस्तु का वास्तविक स्वरूप 'तत्त्व' है। 'अर्थ' यानि पदार्थ। 'तत्त्वार्थ' यानि प्रत्येक पदार्थ को यथावत् सद्धापूर्वक देखना। भावात्मक सारभूत समझ, वास्तविकता, यथार्थता, असलियत अथवा जगत के मूलभूत कारण प्रकार को 'तत्त्व' कहते हैं।

यहाँ श्रद्धा शब्द को भी समझते हैं। समण भगवान महावीर ने 'सद्धा परम दुल्लहा' कह कर श्रद्धा को परम दुर्लभ बताया है। जबकि आज श्रद्धा शब्द का अत्यंत रूढ़ अर्थ-'विश्वास' अथवा मूढ़ विश्वास चल पड़ा है जो चिन्तनीय विषय है। अगर अंधभक्ति व अंधविश्वास ही सद्धा (श्रद्धा) है तो फिर सूत्र वचन झूठे हो जाएँगे। क्योंकि इसमें दुर्लभता की क्या बात है। यहाँ तो हर आदमी अपनी-अपनी मान्यता व अपनी-अपनी श्रद्धा में दृढ़ता से जमा हुआ मिलेगा। कोई राम पर श्रद्धावंत है, तो कोई ईसा पर, कोई शिव पर, तो कोई भैरव पर, कोई रामदेव पर। दृढ़ भी इतना कि कोई किसी के श्रद्धा-स्थान की आलोचना तो करके देखे। आदमी मरने- मारने पर उतर जायेगा। जब करपात्री जी जैसे साधु द्वारा 'रामचंद्र जी के और रानियाँ थी'-ऐसे ऐतिहासिक तथ्य की बात करने पर देश में हिंसा के ताण्डव को उकसा दिया तो साधारण आदमी की क्या बात ? मामला राम मंदिर का हो या केसरियाजी तीर्थ का श्रद्धा तो दुर्लभ नहीं ही हुई ना। फिर ऐसा शास्त्रों में क्यों लिखा गया ?

शास्त्रों में ठीक लिखा गया है। अगर कुछ गलत है तो वह है हमारी समझ। प्राकृत के सद्धा शब्द का अर्थ होता है (सत्+धा) सत्य धारणा। यथावत दृष्टि, जो निश्चय ही दुर्लभ है। मान्यताएँ तो सुलभ है। जो आपने बचपन में भोली-भाली व अल्पज्ञानी नानी की जुबानी सुनी, बस उसे सत्य मान लिया व दृढ़ धारणा बना ली। श्रद्धा बन गई, आपका अंधविश्वास। और यह अंधविश्वास खूब सुलभ है। एक में क्या ढूँढें हज़ारों में व्याप्त है, आज की बात नहीं पुराणों से प्राप्त है। अगर दुर्लभ है तो वह सत्य तथ्य की समझ। वस्तु व विषय को यथावत् देखना। जो निरपेक्षता के बिना संभव ही नहीं है और निरपेक्षता निश्चय ही दुर्लभ है। आध्यात्म योगी कवि श्री आनंदघन जी के शब्दों में -'अवधू ! निरपख विरला कोई'

जो व्यक्ति मान्यताओं (श्रद्धा) से निरपेक्ष है, वही सत्य ज्ञान सद्धा का अधिकारी है जो बड़ी दुर्लभ बात

है। अपने-अपने तथाकथित गुरू, संप्रदाय व वाद का पक्षपात तो सभी करते हैं मगर निरपेक्ष जिज्ञासु बन कर शोध कोई विरला ही करता है, श्रद्धा शब्द उसके लिए ही प्रयुक्त हुआ है। और वह भव्य जीव निश्चय ही मोक्ष का अधिकारी है। जहाँ तक श्रद्धा शब्द के व्याकरण की बात है- यह शब्द श्री+ङ्ति अथवा श्रत्+धा+अङ्+टाप् से बना है जिसके कई अर्थ होते हैं जैसे समृद्धि के समा लेने का ज्ञान। श्री की धारणा, सत्य का अनुभव आदि। हमें इस विवाद से कोई प्रयोजन नहीं है कि सद्धा शब्द को आप सद्धा कहें या श्रद्धा; उससे कोई फर्क नहीं है मगर सूत्र के भावार्थ को समझें तो स्पष्ट हो जाएगा कि सद्धा शब्द से ग्रंथकारों का तात्पर्य सम्यक्, समकित, समभाव, समण आदि शब्दों से है। यह सत्य है कि मनुष्यभव व शास्त्रज्ञान की प्राप्ति के बाद भी समकित की प्राप्ति अत्यंत दुर्लभ है। अगर आप मुक्ति चाहते हैं तो जिज्ञासु बनकर खोजो।

जो खोजेगा पाएगा, दुर्लभ सद्धा ज्ञान।
बैठा ही रह जाएगा, जो बैठा है मान।।

जो जानता है वह मानता नहीं, जो मानता है वह जानता नहीं। श्रद्धा शब्द का एक अन्य अर्थ सावधानता भी होता है। 'Shraddha' is to be attentive. श्रद्धा अर्थात् सावधानता से देखना व सुनना। द्रविड़ भाषा में 'श्रद्धा' शब्द बहुत प्रचलित है। यहाँ श्रद्धा शब्द का अर्थ है-Be attentive, to look and to pay attention. दक्षिण भारतीय लोग विद्यार्थियों को पढ़ने की प्रेरणा देते हुए कहते हैं कि 'श्रदिक्यू' (shraddaqiu) यानि पढ़ाई में सावधानी बरतो। श्रद्धा मतलब श्रवण और दर्शन। 'श्र' मतलब श्रवण, सुनना और 'द्ध' अर्थात् दर्शन, देखना। जब एक व्यक्ति मात्र सुनता और देखता है, तब वह श्रद्धावान है। किंतु जैसे ही वह अपनी धारणा, मान्यता, संस्कार व सोच को सम्मिलित करके देखता-सुनता है, तब वह वस्तु के वास्तविक स्वरूप को नहीं सुनता-समझता है यानी तत्त्व की श्रद्धा नहीं करता यानि as is नहीं देखता। यहाँ श्रद्धा का अर्थ मान्यता, यक़ीन व विश्वास (faith) करना नहीं है, जैसा कि प्रायः समझा जाता है। वह सम्यक् नहीं होता है। सम्यक् अर्थात् समय मात्र, अद्धा समय। समय मात्र में होना विचारों से मुक्त होने पर ही संभव है विचारों के प्रवाह से अप्रभावित चेतना ही निष्पक्ष दर्शन को उपलब्ध होती है। यहाँ 'सम्यक्' शब्द को किसी धार्मिक ग्रन्थावली का रुढ़ शब्द नहीं समझना है। 'सम्यक् निष्पक्ष अवस्था का नाम है', उसे किसी जाति-बिरादरी, पंथ-समुदाय या धर्म के अनुयायी से जोड़कर नहीं देखना है। कोई भी व्यक्ति सम्यक् हो सकता है किंतु जैसे ही हम किसी विचार, धारणा या मान्यता से संयुक्त हो जाते हैं, हम सम्यक् नहीं रह जाते क्योंकि ये सब तब ही प्रभावी होते हैं जब कि हम प्रत्यक्ष समय को पूर्ण सावधानी से स्वीकार नहीं कर रहे होते हैं। विचार-मान्यता या धारणा सदा ही काल्पनिक होती है अथवा भूतकाल से संबंधित होती है। ये सब हमारे भीतर कहीं-न-कहीं जड़ता लाती है। मान्यताएँ व्यक्ति को मूढ़ व हिंसक बना देती है। मूढ़तावश व्यक्ति अपनी मान्यता से लगाव रखता है व भिन्न मान्यता से दुराव। इस प्रकार वह भेदभावों में पड़कर हिंसक बन जाता है और हिंसा का प्रेरक भी। जबकि सद्धा अर्थात् निष्पक्ष (neutral) होकर जानना व देखना-हमारे होनेपन की एक अवस्था है, विचार या विश्वास नहीं है। विचार या विश्वास हमारे मन से जुड़ा हुआ होता है, जो किसी-न-किसी संस्कार से प्रभावित होता ही है। अतः श्रद्धा को faith या चित्त की वृत्ति विशेष न समझकर मात्र निरपेक्ष अवस्था (neutrality) समझना चाहिए।

सद्धावान अर्थात् स्वीकार अवस्था में रहने वाला, जिसमें किसी प्रकार का प्रतिरोध व प्रतिक्रिया का भाव नहीं होता, ऐसा व्यक्ति कभी मूढ़ नहीं होता। उसमें देवमूढ़ता, लोकमूढ़ता व पाषण्ड मूढ़ता नहीं पाई जाती। देवमूढ़ता अर्थात् देवी-देवताओं से मानसिक लगाव, मोह, उनके प्रति शरणा का भाव, वे मेरा भला करेंगे, वे मुझे सुख-साधन, वैराग्य या मोक्ष दे देंगे-ऐसी धारणा या विश्वास 'देवमूढ़ता' कहलाती है। अक्सर देव-देवी भक्तों में ऐसी भावना देखने को मिलती है किंतु सम्यग्दर्शनी में ऐसा काल्पनिक मनोभाव नहीं होता। वह देव को आदर

करता है किंतु उसका शरणा तलाशता हो, ऐसा नहीं है। इसी प्रकार सम्यग्दर्शनी में लोकमूढ़ता भी नहीं होती। लोकमूढ़ता अर्थात् भेड़चाल। वह जनता का पिछलग्गू नहीं होता। लोग क्या कहेंगे (L K K factor) इस सोच में नहीं जीता। स्व-विवेक से जीता है। उसकी समझ उसे निर्देशित करती है कि उसके लिए क्या उपयोगी है व क्या अनुपयोगी; क्या आवश्यक है व क्या अनावश्यक। समझदारी, जवाबदारी, ईमानदारी व बहादुरी- ये चारों गुण सम्यग्दर्शनी में पाए जाते हैं। सम्यग्दर्शनी में पाषण्डमूढ़ता भी नहीं होती। पाषण्ड यानि मार्ग, पंथ, मत। वह किसी भी पंथ या मत के प्रति अंधा लगाव या अंधा विद्वेष नहीं रखता। वह मूढ़ नहीं है, विवेकी है। अतः समझपूर्वक ही किसी भी बात को स्वीकारता है अथवा छोड़ता है। चाहे कोई उस पर कितना ही नैतिक या अनैतिक दबाव बनाए, उसे प्रलोभन दे या उसको डराए-धमकाए। वह किसी भी बात पर 'यह पुराने समय से चली आ रही परंपरा या धारणा है', मात्र इसीलिए अंधविश्वास नहीं करता। वह सोच-समझपूर्वक, छानबीन करके, तटस्थ निरीक्षण द्वारा तथ्य का ज्ञाता बनता है। तथागत होता है। वह आंतरिक अनुशासन में जीता है, स्वस्थचित्ता होता है। वह ऐसा भी नहीं सोचता कि 'जब बरसों से मैं या मेरा परिवार इस पंथ को आँख मूंदे मानते आए हैं तो अब भी मानते रहे तो क्या फर्क पड़ता है, जब हमारे पूर्वजों ने इसे माना है अथवा इसे नकारा है तो हम भी उन्हीं का अनुसरण करेंगे। हम क्यों चली आ रही धारणाओं में विवेक का उपयोग करें? इस प्रकार की sunk fallacy सम्यग्दर्शनी में नहीं होती। वह पुरातन का अंध समर्थक या आलोचक नहीं होता वरन् समीक्षक होता है।

स्वप्रज्ञा द्वारा (सहसम्मुइयाए), ज्ञानी या बहुश्रुत के व्याख्यान द्वारा (पर वागरणेणं), एकांत ध्यान द्वारा अथवा श्रुत समझ द्वारा (अण्णेसिं वा अंतिए सोच्चा) बोध को प्राप्त करके अवधानपूर्वक जो जीता है, वह सम्यग्दर्शनी है। वह असम्मोहित होता है। व्यक्तिगत और सामूहिक दोनों प्रकार की सम्मोहित अवस्था से मुक्त होता है। ऐसा श्रद्धावान व्यक्ति कभी किसी भी प्रकार से सांप्रदायिक नहीं होता। वह न तो किसी पक्ष में होता है, न किसी विपक्ष में। वह मानसिक रूप से पूर्ण स्वस्थ होता है, अविक्षिप्त होता है यानि समझदार (sane) होता है। हर प्रकार के भ्रमों (delusions) से मुक्त होता है।

सम्यग्दर्शनी में अर्थात् श्रद्धावान में आभिग्रहिक मिथ्यात्व (Rigidity), अनाभिग्रहिक मिथ्यात्व यानि स्वच्छंदता व मनमानीपना, सांशयिक मिथ्यात्व यानि शक्कीपना और आभिनिवेशिक मिथ्यात्व यानि झक्कीपना एवं विपर्यासिक मिथ्यात्व अर्थात् तार्किक, अड़ंगेबाजी, छिद्रान्वेषी वृत्ति नहीं रहती। वह वस्तु स्वरूप को निरपेक्ष जिज्ञासा भाव से व शोध भाव से ग्रहण करने में सदा तत्पर रहता है। जबकि साधारणतया व्यक्ति मोह या द्रोह की सम्मोहित अवस्था में जीवन जीता है। वह किसी विधा को सुख या दुःख के रूप में पहले से ही आरोपित कर देता है। इस प्रकार वह सृष्टि की किसी विधा को यथातथ्य (as it is) ग्रहण नहीं कर पाता। किसी-न-किसी अपेक्षा से ही देख पाता है। इस प्रकार उसकी श्रद्धान (रूचि) ही निष्पक्ष नहीं होने के कारण वह सत्य तथ्य को उपलब्ध नहीं हो सकता। हमारे यहाँ तो ॐ आदि आकृतियों को भी ध्यान में आरोपित करवाया जाता है जो कि उस व्यक्ति की मनोदशा को ही विकृत कर देता है। एक बार आकृति की आरोपणा चित्त में कर दी गई तो फिर वह व्यक्ति ॐ के अव्यक्त स्वरूप का कभी दर्शन ही नहीं कर पाता। यहाँ तक कि कई बार तो साधक इतना ज्यादा आत्म सम्मोहित होता है कि उसे अपनी सोच के अनुसार भूत-प्रेत व देवी-देवता आदि दिखने लग जाते हैं। व्यक्ति उसे ही सर्वथा सत्य मान लेता है। निर्ग्रंथ दर्शन कहता है कि वह सम्यग् दर्शन नहीं है। सम्यग् दर्शन निरपेक्ष जिज्ञासा व शोध भाव से ही संभव है। विषय वस्तु को यथावत् (as is) अनुभूत करना ही सम्यग् दर्शन या यथावत् श्रद्धान् कहा गया है। वीतराग निर्ग्रंथ कभी भी ऐसा नहीं कहते कि 'तुम मुझमें विश्वास करो, मुझे मानो' या 'जो मैं कहता हूँ, उसको मानो।' वे कहते हैं-'स्वयं देखो और जानो। स्वयं तत्त्वार्थ का अधिगम करो।' इसी कारण वाचक उमास्वाति ने इस ग्रंथ का नाम 'तत्त्वार्थाधिगम सूत्र' रखा है।

सूत्र-3
सम्यग्दर्शन प्राप्ति का मार्ग

सम्यग्दर्शन अर्थात् यथावत् दर्शन या यथावत् श्रद्धान आर्हत् दर्शन या कहें समण धर्म की अमूल्य उपलब्धि रही है। साधारणतया व्यक्ति जीवन के सारे सांस्कृत मूल्यों में अपने निर्णय आरोपित करता रहता है। चूँकि व्यक्ति की समझ प्रायः राग-द्वेष द्वारा उत्प्रेरित ही होती है, अतः उसके निर्णय भी मोह-द्रोहग्रस्त ही होते हैं। ऐसी स्थिति में व्यक्ति किसी भी वस्तु-विषय या वाद को यथावत् नहीं देख पाता। चूँकि व्यक्ति की समझ ही विभंग होती है, खंड-खंड होती है; अतः वह अभंग निसर्ग अर्थात् अनेकांत सृष्टिमय लोक के अनेक अंतों (पहलुओं) पर एक साथ निष्पक्ष गौर नहीं कर पाता। अनेकांत लोक के किसी एक या कुछ एक पहलू को ही देख-जान पाता है। उसे ही सत्य मान लेता है। इस प्रकार एकपक्षीय सत्य को ही प्ररूपित करता है। अलग-अलग लोग अपनी-अपनी समझ से सत्य की अलग-अलग व्याख्याएँ कर देते हैं। न केवल भिन्न आयामी व्याख्याएँ ही करते हैं, अपनी-अपनी धारणा पर अड़ भी जाते हैं, बहसबाजी भी करते हैं। वे अप्रतिबद्ध नहीं होते, स्वीकार भाव में नहीं जीते 'अहासुहं देवाणुप्पिया मा पडिबंधं करेह' इस आप्त वाक्य को नहीं समझते। इसी कारण धर्म के नाम पर भी विवाद खड़े होते रहते हैं। सम्यक् दर्शन के बिना इन विवादों का कोई हल नहीं है। सम्यग्दर्शन ही holistic vision है, जिसमें वस्तुस्वरूप पूर्ण व अभंग समझा जाता है। समय में उपस्थित चेतना का दर्शन सम्यग्दर्शन है, वह वस्तु के समग्र स्वरूप को यथातथ्य महसूस कर पाता है।

अब प्रश्न उठता है कि यह सम्यग् दर्शन कैसे उत्पन्न हो ? वह तथागतता कैसे प्रगट हो, जिससे हम वस्तु-विषय-वाद को यथावत् वेद कर पाएँ। सूत्र कहता है कि-

सूत्र- तन्निसर्गादधिगमाद्वा ॥3॥

अर्थ- तत् निसर्गात् अधिगमात् वा अर्थात् वह सम्यग्दर्शन निसर्ग से और अधिगम से होता है।।3।।

विवेचन - यह सूत्र बहुत ही प्राथमिक है। इसके कई अर्थ होते हैं। हर अर्थ सम्यग्दर्शन का दीपस्तंभ है। सम्यग् मार्ग का प्रथम सोपान है। इसे समझें-

अर्थ- 1. वह नियोजित सृष्टि के अधिगम से अर्थात् बाह्य निमित्त की परख से प्राप्त होता है।

2. यह निसर्ग अर्थात् स्वभाव रमण से प्राप्त होता है।

3. यह त्याग (निसर्ग) रूपी वीतराग दशा से कर्मों के क्षीण होने पर प्राप्त होता है।

4. यह अदला-बदली (निसर्ग) के मार्ग से प्राप्त होता है।
5. यह पुरस्कार (निसर्ग) रूप गुरू उपदेश से प्राप्त होता है।
6. यह खराबियों के त्याग की वृहत् गति से होता है।
7. यह सृष्टि की अनेकांत समझ से होता है।

ये सातों ही अर्थ पाणिनी व्याकरण के अनुसार निसर्ग शब्द के हैं, ये सभी अलग-अलग व संयुक्त रूप से सटीक सत्य है। जिस प्रकार सात रंग मिलकर एक सफेद रंग बन जाता है, उसी प्रकार प्रवृत्ति का भेद-विज्ञान व्यक्ति को सम्यग्दर्शी श्वेत लेश्यावान बना देता है।

प्रस्तुत सूत्र निरपेक्ष सत्य खोज को महत्व देता है। किसी एक धारणा विशेष को रूढ़िग्रस्त होकर मान भर लेने से व्यक्ति सम्यक् दृष्टि नहीं बनता। चाहे वह अंधश्रद्धा सत्य ही क्यों न हो अर्थात् किसी सच्ची बात पर भी झूठा लगाव व्यक्ति को समकित नहीं होने देगा। जहाँ प्रवृत्ति के कारण (निसर्ग) उपलब्ध नहीं है, वहाँ व्यक्ति सम्यक् दृष्टि नहीं हो सकता अथवा भय, लोभ, ज़िद्द, प्रमाद, घमण्ड, दंड या शल्यवश त्याग से भी सम्यक् दृष्टि नहीं हो सकता। क्योंकि मल त्याग तो मल की समझ से ही हो सकता है। हेय व उपादेय की समझ ज्ञेय के बिना संभव ही नहीं है। अतः सम्यक् दृष्टि निसर्ग की निरपेक्ष जिज्ञासा व शोध से ही संभव है। इसे हम यूँ भी कहते हैं कि निसर्ग के अधिगम से सम्यग्दर्शन होता है।

प्रवृत्ति की निष्पक्ष अनेकांत समझ से ही निवृत्ति संभव है, अतः हमें त्याग भी जान-समझकर करना चाहिए। भगवान ने कहा कि जो रास्ते संसार को जाते हैं, वे ही समझ शुद्ध होने से मोक्ष को चले जाते हैं। यहाँ 'सर्ग' शब्द का अर्थ संसार के प्रति विभाव जानना चाहिये और निसर्ग का अर्थ मुक्त स्वभाव जानना चाहिये। जो भी व्यक्ति भीतर-बाहर समस्त संसार को पक्ष-विपक्ष मुक्त देख सकता है, वह सम्यग्दर्शन को उपलब्ध हुआ जानना। फिर भी यहाँ यह समझ लेना ज़रूरी है कि सम्यग्दर्शन subjective होता है; objective हो ही, यह ज़रूरी नहीं है। Subjective होना यानि विषयीगत होना, आत्मगत होना व objective होना यानि विषयगत होना। जब हम निष्पक्षदृष्टा होते हैं तब सम्यग्दर्शन है। हम जिसे विषय कर रहे हैं, जिसको जान-देख रहे हैं, वह वस्तु कैसी है, उसको सम्यक् नहीं होना है, वह तो जैसी है वैसी है, वह तो अपने स्वरूप में ही है। हमें अपने स्वरूप में रहना है, हमें अपनी दृष्टि को यथार्थ बनाना है। यथार्थ नज़रिया सम्यग्दर्शन है जिसमें सही-गलत के संस्कारों का आरोपण नहीं होता।

प्रायः सम्यग्दर्शन को लोग सही नज़रिया कहते हैं। किंतु 'सही' क्या है ? इस संबंध में सबकी मान्यताएँ भिन्न-भिन्न होती है और हर कोई अपनी मान्यता-सोच व संस्कार को सही व अन्य की सोच-मान्यता व संस्कार को ग़लत ठहराने के प्रयास करता है। अपनी मान्यताओं की तुला पर अन्यों की मान्यताओं को तोलने में व्यस्त बने लोग कभी भी सम्यग्दर्शन को उपलब्ध नहीं हो पाते। आत्मज्ञानी श्री विराट गुरूजी तो यहाँ तक कहते हैं कि 'मान्यताएँ व संस्कारों की आरोपणाएँ दर्शन पर आवरण है। ये व्यक्ति को समकित नहीं होने देते, अर्थात् पक्ष-विपक्ष से परे नहीं जाने देते।' यह भी विचित्र किंतु सत्य तथ्य है कि आज तक धार्मिक मान्यताओं व लगावों ने इंसान को इंसानों से जितना दूर किया है, बाँटा है, मतभेद व कलह-क्लेश पैदा करवाए है, उतने किसी अन्य ने नहीं। अतः हमें चेतने की ज़रूरत है। सम्यग्दर्शन मान्यता से मुक्त 'समय मात्र का दृष्टा' होना है। सही-गलत के पक्ष-विपक्ष की बहसबाजी ज्ञान व दर्शन पर आवरण का ही कारण बनेगी। सम्यग्दर्शन चित्त पर आरोपित संस्कार

नहीं हो सकता, चाहे वह संस्कार नैतिक दृष्टि से कितना ही अच्छा हो एवं समाज में मान्य भी हो। सम्यग्दर्शन सभी प्रकार के संस्कारों, आरोपणों व सैद्धांतिक या दैविक लगावों से मुक्त यथार्थ को देखने का ढंग है। उत्तराध्ययन सूत्र के अनुसार-

तहियाणं तु भावाणं, सब्भावे उवएसणं।
भावेणं सद्दहंतस्स, सम्मत्तं तं वियाहियं॥

अर्थात् तथ्य भूत भावों से सद्भाव के निरूपण में उसी भाव से सद्दान करना सम्यग्दर्शन है। जो जैसा है उसे वैसा ही देखना-जानना, सुनना-समझना व स्वीकारना सम्यग्दर्शन है। बिना किसी प्रकार के प्रतिकार के सर्व स्वीकार भाव ही सम्मत्तं है। सम्मत्तं अर्थात् सर्व स्वीकार भाव, क़बूल, Total Acceptance without Resistance। स्थानांग सूत्र के दूसरे स्थान के अनुसार-

सम्मद्दंसणे दुविहे पण्णत्ते, तं जहा-
णिसग्गसम्मद्दंसणे चेव अभिगमसम्मद्दंसणे चेव।

अर्थात् यह सम्यग्दर्शन दो प्रकार का है-एक निसर्गज अर्थात् स्वभाव से तथा दूसरा अधिगमज यानि सीख कर, सत्गुरू की प्रत्यक्ष पर्युपासना से, उनकी वाणी को सुनकर एवं क्षयोपशम आदि कारणों से। कर्मग्रंथ के अनुसार अनंतानुबंधी क्रोध-मान-माया-लोभ एवं मिथ्यात्व मोहनीय, सम्यक्त्व मोहनीय व मिश्रमोहनीय इन सात मोहनीय कर्म की प्रकृतियों के क्षय, उपशम अथवा क्षयोपशम होने पर जीव में सम्यक्त्व प्रगट होता है। निसर्गज हो अथवा अधिगमज-दोनों ही प्रकार के सम्यक्त्व में अन्तरंग कारण तो अंतर् में मौजूद कर्मों की निर्जरा होना ही है किंतु अंतर है केवल परनिमित्त निरपेक्षता और सापेक्षता का। निसर्गज सम्यक्त्व को प्राचीन आचार्य एक दृष्टांत से समझाते हैं। समुद्र में कई बड़ी-बड़ी चट्टानें होती है। लहरों के थपेड़े खा-खाकर कई चट्टानें समय-समय पर टूटती जाती है। चट्टानों के टूटने पर कई कठोर व नुकीले पत्थर पानी की धारा में बहने लगते हैं। पानी की धारा में बहते-बहते किसी समय थपेड़े खा-खाकर वह नुकीला पत्थर एकदम गोल व चिकना हो जाता है। उसी प्रकार कालचक्र की धारा में बहते-बहते, कर्मों की मार के थपेड़े खाते-खाते कई जीव स्वाभाविक तौर से समकिती हो जाते हैं।

जब मोहनीय कर्म की सत्तर कोटाकोटि सागरोपम की कर्म-स्थिति घटकर अन्तः कोटाकोटि की रह जाए तब ही कोई जीव सम्यक्त्व की अवस्था में आने योग्य हो पाता है। सम्यक्त्व आंतरिक निष्पक्ष भाव अवस्था है, जिसके होने पर भीतरी जगत से शंकाएँ, आकांक्षाएँ, विचिकित्साएँ व पर-पाषण्ड आकर्षण-विकर्षण-संबंध स्थापन एवं अनेकों प्रकार की मूढ़ताएँ समाप्त हो जाती है अथवा उपशांत हो जाती है। सम्यग्दर्शनी जीव के भीतर सम-संवेग-निर्वेद-अनुकंपा व आस्था प्रगटित होती है। सम्यग्दर्शन बिना भेदभाव किए समस्त तत्त्वों को उनके वास्तविक स्वरूप में देखता-जानता है। सत्पुरूष की ज्ञानकृपा से भी किसी-किसी जीव को सम्यक्त्व की प्राप्ति हो जाती है। जो समर्पण भाव में जीते हैं, वे सत्गुरू कृपा से सत्य को उपलब्ध हो पाते हैं। वाचक उमास्वाति अब अगले सूत्र में सप्ततत्त्वमयी लोक की व्यवस्था को संक्षिप्त में निर्दिष्ट करते हैं।

सूत्र-4
सप्त तत्त्व आख्यान

जब तक हम समकित नहीं हो पाते तब तक हमें शुद्ध स्वपाषण्ड की अर्थात् आत्मधर्म की प्राप्ति नहीं होती। जब तक हमारी दृष्टि निरपेक्ष नहीं होती, ज्ञान व चरित्र अंधे व लंगड़े की तरह अनुपयोगी होते हैं। शुद्ध दर्शन को आर्हत् वाङ्मय में सूत्र-पुरूष माना गया है जिसके बारह अंग होते हैं। चूंकि हमारे शरीर के भी बारह अंग होते हैं, अतः आगम पुरूष के भी बारह अंग माने गए हैं। इन बारह अंगों में प्रारंभ के दो अंग व अंतिम एक अंग दृष्टिवाद महत्वपूर्ण है। दृष्टिवाद से हमें समकित (निष्पक्ष) सोच व अनेकांत समझ (भेद-विज्ञान) प्राप्त होती है। एक व्यक्ति आचारांग सूत्र से चलना सीखता है व सूत्रकृतांग सूत्र से मार्ग निरूपण करता है अर्थात् मार्ग का ज्ञान पाता है।

अक्सर उपासक धर्म क्रिया में तो प्रवृत्त हो जाता है मगर व्यक्तिवाद से ग्रंथित ही रहता है। 'मेरा गुरू, मेरा संप्रदाय' आदि-आदि की झूठी समझ के कारण 'णमो लोए सव्व साहूणं' मंत्र आत्मसात् नहीं हो पाता । अस्तु, धार्मिक परिपाटियों का वहन करते हुए व उग्र तपस्या करते हुए भी स्यात् नरक का भागी बन जाता है। अतः सूत्र कहता है कि दृष्टि निर्मल करो। व्यक्ति-पूजा बंद करो। गुणानुवादी बनो। यही मुक्ति का मार्ग है। व्यक्ति पूजा से प्रतिबंधित होओगे तो आप कई जन्मों के लिये बंध जाओगे। गुणानुवादन से अरहंत, सिद्ध, आचार्य, उपाध्याय व साधु के गुण उपासक में प्रगट होकर उसे सम्यक् दृष्टि बना देंगे। यथार्थ श्रद्धा निमित्त की निष्पक्ष एषणा से अर्थात् धर्म ध्यान से उत्पन्न होती है। यह ध्यान में लेने योग्य बात है, अन्यथा, 'मेरा गुरू तो सही है, दूसरे को नमस्कार क्यों करूँ। मेरा संप्रदाय ही सही है, या जो मैंने एक बार मान लिया उससे विपरीत बात को क्यों सुनूँ' इस तरह की आज-कल जो लवक चल पड़ी है वह व्यक्ति व समाज दोनों को अधोगामी करती है। अतः व्यक्तिवाद को छोड़ कर 'णमो णाणस्स' भाव से यथार्थ उपदेश का ध्यान करना चाहिए, जो अगला सूत्र बताता है-

सूत्र- जीवाजीवास्रव बंध संवर निर्जरा मोक्षास्तत्त्वम् ॥4॥

अर्थ- जीव, अजीव, आस्रव, बंध, संवर, निर्जरा, मोक्ष- ये सात तत्त्व हैं। इनका सम्यक् चिंतन करो ॥4॥

विवेचन- इस लोक की त्रैकालिक समस्त घटना को सात तत्त्वों में समझा जा सकता है। इनमें दो तत्त्व कायरूप (पदार्थ, अस्तिकाय) है, बाकी के पाँच आदाय रूप घटन मात्र है। कुछ देवज्ञ पाप-पुण्य को मिलाकर नौ तत्त्व मानते हैं। मगर पाप व पुण्य आस्रव के पारिभाषिक शब्द मात्र हैं, अतः मूल तत्त्व की अपेक्षा से यहाँ इन्हें ग्रहण नहीं

किया गया है।

यह सृष्टि एक स्वचालित सप्तसुरी लीला भूमि है। इसे जानकर, इस निमित्त से सम्यक् दृष्टि बनो। जीव-अजीव अस्तिकाय है। 'जीव, आकाश (अजीव) के रंगमंच पर धर्म व अधर्म की सहायता से पुद्गल के नाम-रूप वस्त्र धारण कर अभिनय करता है। इससे आस्रव (कर्मों का प्रवाह), बंध (चिपकना), संवर (कर्मों को चिपकने से रोकना), निर्जरा (कर्मों को छोड़ना), मोक्ष (निष्कर्म हो जाना) - ये पाँच घटन घटते रहते हैं। आस्रव व बंध-ये दो तत्त्व ज्ञेय व हेय हैं अर्थात् जानने योग्य तो हैं मगर जानकर छोड़ने योग्य है। संवर, निर्जरा व मोक्ष-ये उपादेय हैं। उपासक का चरम-मंगल मोक्ष है, अतः मोक्ष का पुरूषार्थ करो। पाप व पुण्य दोनों शब्द आस्रव में अंतर्गर्भित है, अतः दोनों ही हेय है। अतः मुमुक्षु साधक को देवरूप अरहंत भगवान व सिद्ध भगवान के सिवाय किसी व्यक्ति विशेष की पूजा-अर्चन, कीर्तन, वंदन, महिमा नहीं करनी चाहिए व देवी-देवताओं की कामना व चमचागिरी महिमावादन नहीं करना चाहिए। आचार्य, उपाध्याय व साधु पद को जानकर भाव सहित व व्यवहार में व्यवहारित वंदन करना चाहिए। मगर व्यक्ति विशेष को नहीं, उनके गुणों को ही वंदन करना चाहिए। अपनी तुच्छ समझ से सुनी-सुनाई मनगढ़ंत टीका-टिप्पणी भी किसी के प्रति नहीं करनी चाहिए।

जीव-अजीव आदि सप्त तत्त्वों की संक्षिप्त परिभाषा इस प्रकार है-

1. जीव तत्त्व- वह जो भाव करने में सक्षम है, यानि हम स्वयं। जिसमें feelings है, वह जीव है। ज्ञान-दर्शन-उपयोग आदि स्वाभाविक गुणपिण्ड जीव तत्त्व है।

2. अजीव तत्त्व-वह जो चेतन नहीं है, जड़ रूप है, वह अजीव है। अजीव तत्त्व में धर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकाय, आकाशास्तिकाय, काल व पुद्गल-ये पांचों द्रव्य समाहित होते हैं। इनमें से पुद्गल ही वह द्रव्य है जिसमें वर्ण (Colour), गंध (Smell), रस (taste), और स्पर्श (touch) है, किंतु इन पुद्गल पदार्थों (materials) में भाव करने की क्षमता नहीं है। क्योंकि ये जड़ (non-living) है। किन्तु सचेतन द्वारा इनका उपयोग किया जाता है।

3. आस्रव तत्त्व- विभावों एवं विचारों के प्रवाह का निरंतर आवागमन, जिससे आकर्षित होकर संपूर्ण लोक में मौजूद कर्म परमाणु आत्मा के साथ संबंधित होते रहते हैं, 'आस्रव' कहलाता है। आत्मा में रहे हुए हर प्रकार के विभाव परिणमन का नाम 'आस्रव' है। जिस प्रकार विविध छिद्रों से तालाब में पानी भरता है, उसी प्रकार विविध भावों से कार्मण वर्गणा के परमाणु जीवात्मा के साथ संपर्क स्थापित करते रहते हैं, यह कर्मरज का आगमन आस्रव तत्त्व है। यह सकारात्मक भाव प्रवाह होने पर 'पुण्य आस्रव' कहलाता है तथा नकारात्मक होने पर 'पाप आस्रव'। यही कारण है कि वाचक उमास्वाति पुण्य व पाप दोनों को ही आस्रव रूप स्वीकार करते हुए इन्हें भिन्न तत्त्व नहीं मानते। यहाँ सात तत्त्व का ही विवेचन हुआ है। उत्तराध्ययन सूत्र एवं स्थानांग सूत्र में तत्त्व के नौ भेद भी वर्णित किए गए हैं। यद्यपि पाप-पुण्य दोनों ही आस्रव तत्त्व है, दोनों में ही भावों का परमाणु जगत के साथ संबंध होता है, फिर भी पुण्य व पाप दोनों की प्रकृतियाँ जुदा होने से कहीं-कहीं दोनों को परिगणित भी किया गया है। यथा-

नव सब्भावपयत्था पण्णत्ता, तं जहा-
जीवा अजीवा पुण्णं पावं आसवो संवरो निज्जरा बंधो मोक्खो (ठाणांग-9)

तथा उत्तराध्ययन सूत्र के 28 वें अध्याय की 14 वीं गाथा में कहा गया है कि-

जीवाजीवा य बंधो य, पुण्णं पावासवो तहा।
संवरो निज्जरा मोक्खो, सन्तेए तहिया नव॥

4. बंध तत्त्व- आस्रव होने पर कर्म आत्मा से संबंधित होते हैं एवं कार्मण शरीर के साथ चिपकते रहते हैं। कार्मण शरीर के साथ बंधन हो जाना ही बंध तत्त्व है। भावों की तरतमता के अनुरूप यह भी कई प्रकार का होता है।

दृष्टांत रूप में समझें तो खिड़की खुली होने पर धूल आदि कणों का घर में प्रविष्ट होना 'आस्रव' है व घर की दीवारों व आँगन पर चिपक जाना 'बंध' है। दूध में पानी की तरह जीवात्मा के साथ कर्मरज का मिलान बंध तत्त्व है। ये तत्त्व अनादिकालीन है।

5. संवर तत्त्व- आस्रव के विपरीत है-संवर तत्त्व। जहाँ कर्मों का आगमन आस्रव कहलाता है, वहीं कर्माश्रवों का रूक जाना संवर तत्त्व है। चाहे धूल चल रही हो, पर अपनी सुरक्षा के लिए खिड़की बंद कर लेना संवरित होना है। जब एक इंसान प्राकृत प्रवाह से बचाव के लिए अपने भावों को समभाव में रखता है, आवेगों-उद्वेगों से रहित बना लेता है, सम्यक् का वरण करता है, पक्ष-विपक्ष रूपी बंध से विरत होता है तो उसे 'संवर' कहते हैं। संवर साधक की साधना का पथ है। अध्यात्म पथ का प्रारंभ संवर तत्त्व से ही होता है।

6. निर्जरा तत्त्व- बंध का विपरीत छोर निर्जरा है। बंधे हुए कर्म परमाणुओं का आत्मा से पुनः विलग हो जाना निर्जरा है। इसके भी दो प्रकार समझें-एक वह जो प्राकृतिक रूप से स्वतः होती है। जैसे, पक जाने पर फल का वृक्ष से अलग होकर झरना, गिरना। दूसरी सायास होती है, प्रयत्नों से की जाती है। जब जप-तप-ध्यान आदि द्वारा साधक अपने अतीत के दोषों को अलग करता है तो उसे भी निर्जरा ही कहते हैं। बंध व निर्जरा-ये दोनों ही प्रतिक्षण होते हैं। यदि पुनः बंध न पड़े तो प्रत्येक निर्जरा मोक्ष रूप ही है।

7. मोक्ष तत्त्व-कर्मबंधन की प्रक्रिया से पूर्णतया मुक्त हो जाना 'मोक्ष' तत्त्व है। जब जीवन पूर्ण स्वभावमय ही हो, विभावों का अभाव हो जाए, उसका नाम 'मोक्ष' है। जिसके बाद जन्म-मरण की श्रृंखला की समाप्ति हो जाए, उस अवस्था का नाम मोक्ष है। मोक्ष चरम-परम तत्त्व है। यहाँ आत्मा का विराट वैभव उद्घाटित हो जाता है। यही जीव का परम इष्ट है। संपूर्ण तत्त्वार्थाधिगम सूत्र की रचना का उद्देश्य भी जीव तत्त्व को मोक्ष तत्त्व तक पहुँचाना है। इसके लिए उसे इन सातों ही तत्त्वों को जानना ज़रूरी है। अनेक-अनेक आयामों से जानने पर ही एक साधक को यह बोध हो पाएगा कि उसके लिए क्या हेय है अर्थात् छोड़ने योग्य है व क्या उपादेय यानि ग्रहण करने योग्य है। इसीलिए अगले सूत्र में ज्ञान प्राप्ति के रास्ते (ways) बतलाए जा रहे हैं।

सूत्र-5
निक्षेप चार

पिछला सूत्र ज्ञान सूत्र था। दर्शन को निर्मल करने के लिए ज्ञान की आवश्यकता होती है। जैसे शुक्ल ध्यान में प्रवेश से पहले धर्म-ध्यान के दरवाज़े तक पहुँचना आवश्यक है। वैसे ही तत्त्वार्थ दर्शन (श्रद्धा) के लिए सम्यक् ज्ञान ही सेतु (bridge) है। अतः इस अर्हद् प्ररूपित धर्म में 'पढमं णाणं तओ दया' के आप्त वाक्य की विशेष महत्ता है अर्थात् पहले ज्ञान फिर सम्यक् दर्शन-चरित्र (दया)। अब प्रश्न पैदा होता है कि कैसे हम संपूर्ण लोक के ज्ञान को सम्यक् प्रकार से जानें कि हमारा दर्शन शुद्धतर होता जाए और अन्तःतोगत्वा शुद्धतम बन जाए। सूत्र कहता है कि-

सूत्र- नामस्थापनाद्रव्यभावतस्तन्न्यासः ॥5॥
अर्थ- नाम, स्थापना, द्रव्य और भाव से उसका न्यास होता है ॥5॥

विवेचन- जिस प्रकार तीर्थंकरों द्वारा स्थापित एक संघ में चार तीर्थ होते हैं- साधु, साध्वी, सावक और साविका; उसी प्रकार हर वस्तु, वाद अथवा विषय को समझने के लिए सात नय और चार निक्षेप होते हैं। चार निक्षेपों से समस्त सप्तभंगी लोक का न्यास करो। सम्यक् दर्शन करो। न्यास अर्थात् बिना प्रयत्न की पहचान, विवेकशील ज्ञान, विश्वास, सम्यक् श्रद्धा। 'यास' पद का अर्थ होता है-सहकार संबोधन, प्रयत्न; और न्यास अर्थात् वह ज्ञान जिसमें कोई प्रयास नहीं होता, मगज़मारी नहीं होती। इसे सरल शब्दों में इस तरह भी कह सकते हैं कि किसी भी वस्तु अथवा विषय को यथावत् जानना न्यास है, निक्षेप है। ये निक्षेप अथवा पहचान चार प्रकार से होती है-

1. वर्णात्मक पहचान - श्रुत (कान) का विषय
2. दृश्यात्मक पहचान - दृष्टि (आँख) का विषय
3. द्रव्यात्मक पहचान - गंध-स्वाद-स्पर्श का विषय
4. गुणात्मक पहचान - मन का विषय

इन चारों समझ शैलियों को क्रमशः नाम स्थापना द्रव्य भाव निक्षेप से समझाया गया है। प्रथम पहचान वर्णात्मक ही होती है। वर्णात्मक अर्थात् वर्ण से, नाम से, पहचान हेतु थोपी गई संज्ञा से। जैसे किसी का नाम शांतिचंद्र है। अब शांतिचंद्र शांति वाला हो या न हो। वह चाहे व्यक्ति हो या पुस्तक का नाम। मात्र नामकरण से पहचान करना 'नाम निक्षेप' हुआ। नाम के लिए गुण, जाति, द्रव्य और क्रिया की अपेक्षा नहीं रहती। उदाहरण के लिए शांतिचंद्र नाम वाला चाहे क्रांतिकारी ही क्यों ना हो, किंतु नाम निक्षेप उसके लिए गुण का ध्यान नहीं रखता। प्रत्येक तत्त्व की पहचान सर्वप्रथम नाम (नाम संज्ञा) से होती है, चाहे हम सांसारिक क्षेत्र की बात करें अथवा आध्यात्मिक क्षेत्र की। भगवान की वाणी कुछ आयामों में बंधी-बंधाई लकीरें मात्र नहीं होती। वह तो जीवन के

हर क्षेत्र में अपना जीवंत अर्थ रखती है।

किसी भी तत्त्व की दूसरी पहचान दृश्य से होती है, रूप अथवा आकार (form) से होती है, जिसे सूत्र में स्थापना-निक्षेप कहा गया है। इस निक्षेप का आलंबन लेकर मूर्तिपूजक आम्नाय वाले मूर्ति की महत्ता को सिद्ध करते हैं। हमारा कहना है कि न केवल मूर्ति वरन् जीवन का हर घटक, हर परिस्थिति अथवा हर विषय-वस्तु दृश्यात्मक होती है। यहाँ तक कि हमारा हर विचार भी दृश्यमय (visible) होता है, आकार लिए होता है। यदि हम उन आकारों को सम्यक् प्रकार से पहचान सकें तो हम उस वस्तु का यथार्थ ज्ञान प्राप्त कर सकते हैं। उदाहरण के लिए शांतिचंद्र को ही लें। अब वह शांतिचंद्र नाम किसी व्यक्ति का है अथवा मकान का है या फिर किसी फोटो का या मूर्ति का ही क्यों ना हो, हमें इसका दृश्य-आकार देखे बिना शांतिचंद्र का सम्यक् ज्ञान नहीं हो सकेगा। इसलिए पहचान का दूसरा तरीका दृश्य है, स्थापना है। जैसे कि शांतिचंद्र को देखकर पहचान सकते हैं।

तीसरा निक्षेप द्रव्य निक्षेप है। द्रव्यात्मक रूप से किसी की पहचान उस वस्तु-विषय के घनत्व, परिमाण आदि से जानी जाती है। उदाहरण के लिए शांतिचंद्र से समझें कि शांतिचंद्र नाम वाला व्यक्ति पतला है या मोटा है। गोरा है या काला है, आदि पहचान द्रव्य निक्षेप है। द्रव्य निक्षेप में physical property या chemical compostion को देखा जाता है। कुछ आचार्यों के अनुसार सत्यगुण रहित भूत भविष्य की पर्यायों को मुख्यता से कहना द्रव्य निक्षेप है। जैसे घी के खाली कनस्तर को घी का डिब्बा कहना द्रव्य निक्षेप है। ऐसी कई अपेक्षाओं से हर निक्षेप को समझना चाहिये।

किसी भी तत्त्व को उसकी गुणात्मक पहचान से जानना भाव निक्षेप है। जैसे कि शांतिचंद्र के स्वभाव से उसकी पहचान करना भाव निक्षेप है। जैसे शांतिचंद्र गुस्सैल है। नेतागिरी वाला है। फिरकाबाज़ भरतपुरी लोटा है। सप्त तत्त्व को वस्तु के यथार्थ रूप में भावपूर्वक अनुभव करना भाव निक्षेप है।

हम आस्रव तत्त्व के उदाहरण से इसे समझ सकते हैं। जैसे सप्त तत्त्व का तीसरा तत्त्व आस्रव तत्त्व है जिसमें परमाणु पुद्गल आत्मप्रदेशों पर आवेष्टित होते हैं। इसका वर्णात्मक परिचय यथा आयुष्य कर्म, गोत्र कर्म आदि नाम निक्षेप हुआ। अब वे परमाणु जो आत्मप्रदेशों के साथ संलग्न हुए हैं उनसे कार्मण शरीर का कैसा आकार परिवर्तित हुआ, कार्मण शरीर का वह बदला हुआ आकार स्थापना निक्षेप है। वह कार्मण शरीर अब उस आस्रव से प्रभावित होकर कितने प्रदेशात्मक कर्म समूह से कितना मोटा हुआ-यह परिचय द्रव्यात्मक होने से द्रव्य निक्षेप हुआ। किसी भी कर्म समूह की कार्मण शरीर के साथ रहने की स्थिति भी द्रव्य निक्षेप है। अब अंतिम परिचय है-गुणात्मक अर्थात् भाव निक्षेप। यह आस्रवरज (परमाणु पुद्गल) किस अनुभाव-रस (intensity) से आत्मप्रदेशों पर संलग्न हुए-यह समझ भाव निक्षेप है। वह आस्रवरज किस प्रकृति की थी, किन भावों से ग्रहीत हुई, इस रज के निर्जरित होने के समय की, सुख-दुःख की, संवेदना आदि क्या होगी ? यह सब विवेकशील ज्ञान, -'भाव न्यास' है। इसी प्रकार हम प्रत्येक तत्त्व को एवं सप्त नय को चारों निक्षेपों के माध्यम से समझ सकते हैं। चारों निक्षेपों से समझने वाला साधक कभी एकांतग्राही न हो सकेगा वरन् उसकी मति विकसित भी होगी व परिशुद्ध भी। मति ज्ञान (intelligence) को बढ़ाने के लिए प्रस्तुत सूत्र एवं आगामी कई सूत्र हमारी मदद करेंगे।

सूत्र-6

प्रमाण और नय

पूर्व सूत्र में हमने निक्षेप के चार प्रकारों को समझा था। निक्षेप का मतलब है-अपनी बात को समझाने का तरीका, सम्यक् रूप से क्षेपण का अर्थात् फैंकने का तरीका, अभिव्यक्ति के प्रकार। अब प्रश्न यह है कि निक्षेप की आवश्यकता क्या है ? निक्षेप की आवश्यकता है-ज्ञान प्राप्त करने के लिए। जब निक्षेप हो जाएगा तब अधिगम होगा, अत्यधिक ज्ञान होगा। अधिगम अर्थात् संपूर्ण ज्ञान। गम अर्थात् गति और गति ही ज्ञान है, गति में ही ज्ञान है, गति से ही ज्ञान है। यह सारा ज्ञान कहाँ से होगा ? उत्तर है निक्षेप से होगा। निक्षेप के बाद अगला सूत्र 'अधिगम' के बारे में बताता है-

सूत्र- प्रमाणनयैरधिगमः ॥6॥

अर्थ- प्रमाण और नय से अधिगम होता है ॥6॥

विवेचन- निक्षेप एवं प्रमाण नय को हम इस उदाहरण से समझ सकते हैं-निक्षेप का अर्थ है-'मानो स्कूल जाना' किंतु स्कूल में जाकर ज्ञान दो तरीकों से प्राप्त होगा। पहला पुस्तक से और दूसरा है अध्यापक के आख्यान से। ये समझाने के लिए तरीके हुए। पुस्तक से जो ज्ञान प्राप्त हो रहा है वह प्रमाण है और अध्यापक की व्याख्या नय (view point) है। आँखों द्वारा प्राप्त ज्ञान प्रमाण है क्योंकि पुस्तक प्रत्यक्ष है और जो कानों से सुना जा रहा है, वह नय है। इसे इस प्रकार भी समझा जा सकता है कि जो 'दर्शन' है वह प्रमाण है और जो ज्ञान है वह 'नय' है।

जीवन के हर क्षेत्र में ज्ञान सीखने के ये दो तरीके हैं। कई आचार्य, उपाध्याय, विज्ञवेत्ता और आज के शिक्षक ऐसा कहते हैं और हमें जगह-जगह पुस्तकों में भी मिल जाएगा कि सम्यक्दर्शन आदि त्रिरत्न व जीवादि सप्त तत्त्वों का अधिगम प्रमाण व नय से प्राप्त करो, मगर हम मात्र इतना ही नहीं कहते। हम कहते हैं कि अरहंतों के वचन, अरहंत प्ररूपित ज्ञान मात्र किसी धार्मिक परंपरा में बंधा हुआ नहीं रह सकता, वह तो जीवन के हर क्षेत्र में व्याप्त रहता है। चाहे आप व्यापार-व्यवसाय कर रहे हो, चाहे गृहस्थी के कार्य अथवा अपने बच्चों का पालन-पोषण ही क्यों न कर रहे हो, जो कुछ भी आपको प्रत्यक्ष रूप में अनुभव होता है उसको एकचित्तता से, संपूर्ण ध्यान से समितिपूर्वक अनुभव करो और उस अनुभव को बुद्धि की कसौटी पर सप्त नयों से निर्णीत करो। हम विश्वास के साथ कहते हैं कि यह प्रक्रिया आपके जीवन में उतर जाए तो आप स्वतः धार्मिक हो ही जाओगे। यह अर्हतों के सूत्र की विशेषता है, वाणी का अतिशय है। अब प्रमाण को और अच्छी तरह से समझें तो प्रमाण ज्ञान प्राप्ति का वह तरीका है जिसमें समस्त को एक साथ अभंग (holistically) जाना जाए, जो पदार्थ को सर्वदेश से ग्रहण करे। 'नय' ज्ञान प्राप्ति के उस तरीके को कहते हैं जो विषय के एक देश अथवा कुछ देश (विभाग) को ग्रहण

करे, अपेक्षाओं से ग्रहण करे, किस देश को ग्रहण करना उस अपेक्षा से ग्रहण करे।

प्रमाण और नय को पुनः समझें-पाँचों इंद्रियों से अथवा मन से प्राप्त सूचनात्मक ज्ञान नय ही हो सकता है, प्रमाण तो वह ही होगा जिसका आत्मरूप वेदन होगा। यथार्थ अनुभव होगा। इस अपेक्षा से कहें तो प्रमाण निश्चयात्मक अनुभूति है व नय व्यावहारिक अभिव्यक्ति।

उदाहरण के लिए, आप अमेरिका गए, वहाँ आपको एक व्यक्ति मिला। आपने उसको देखा और देखते ही समझ गए कि ये भारतीय है। यह तो एक प्रमाण था, कुछ सोचना नहीं पड़ा। बस, बंद लिफाफे ने ही बता दिया कि मजमून क्या है? उसके facial features ने, infrastructure ने ही बता दिया कि यह भारतीय है। मगर वह बंगाली है या पंजाबी, शाकाहारी है या मांसाहारी, जैन है या अजैन, इस तरह का सापेक्ष ज्ञान -'नय' है। प्रमाण और नय-ये दोनों रेलगाड़ी की दो पटरियों के समान है, जिससे हमारे जीवन की समझ की गाड़ी चलती है और अक्सर हमारी गलती यह होती है कि हम एक ही पटरी पर दौड़ना चाहते हैं।

हमें बार-बार प्रश्न पूछा जाता है कि पहले ज्ञान या दर्शन। कई जगह दर्शन को पहले बताया गया है और कई जगह ज्ञान को। अलग-अलग अपेक्षाओं एवं नय से ऐसा बताया गया है, मगर हकीकत यह है कि ज्ञान-दर्शन दोनों साथ-साथ ही है। कौन पहले या कौन पीछे-ये तो ऐसा प्रश्न है कि पहले पति या पहले पत्नी। अब पुरूष प्रधानता की अपेक्षा से पहले पति है और home minister की अपेक्षा से, बच्चों को पालने की अपेक्षा से, पहले पत्नी हुई; तो प्रमाण और नय दोनों एक साथ ही चलेंगे। प्रमाण और नय दोनों एक साथ चलते हैं। फिर प्रश्न पैदा होता है कि जब ये दोनों एक साथ चलते हैं तो चारित्र का क्या ? अरे, जब गाड़ी दोनों पटरियों पर एक साथ चलेगी तो चारित्र तो अपने आप ही घटित हो जाएगा। उत्तराध्ययन सूत्र के 28वें अध्याय की 29वीं गाथा में कहा गया है कि-

नत्थि चरित्तं सम्मत्तविहूणं, दंसणे उ भइयव्वं।
सम्मत्त-चरित्ताइं, जुगवं पुव्वं व सम्मत्तं।।

इस गाथा में कहा गया है कि चारित्र सम्यक्त्व के बिना नहीं होता है, किन्तु सम्यक्त्व चारित्र के बिना हो सकता है। सम्यक्त्व और चारित्र युगपद् यानी एक साथ भी होते हैं। चारित्र से पूर्व सम्यक्त्व का होना आवश्यक है। इस तरह हम देखें कि प्रमाण और नय से जीवन की सच्ची समझ तय की जाती है और फिर जो घटित होता है, वो सच्चा चरित्र है। इस तरह से यह एक ऐसा सूत्र है जिसमें ज्ञान-दर्शन-चारित्र तीनों ही एक साथ है; एक साथ अभिव्यक्त होते हैं; एक साथ चारित्रित होते हैं; एक साथ में उद्भूत होते हैं इसलिए इस सूत्र को साधारण रूप में मत समझो। यह सूत्र गति चारित्र अधिगत है। अब जो सापेक्ष कथन है वह नय है और जो एक साथ, एकदम एक ही प्रकरण से ग्रहण किया जाता है, भले वह अनुमान (आभास) ही हो, वह प्रमाण है। प्रमाण दो प्रकार के बताए गए हैं-1. प्रत्यक्ष, 2. परोक्ष

1. प्रत्यक्ष प्रमाण- निश्चय नय की दृष्टि से जहाँ इंद्रियादि की सहायता के बिना सीधा आत्मा द्वारा जाना जा रहा है, उसे प्रत्यक्ष प्रमाण कहते हैं। 'प्रत्यक्ष' शब्द 'प्रति+अक्ष' से बना है। संस्कृत का यह शब्द बड़ा ही महत्वपूर्ण है। 'अक्ष' शब्द आँखों के लिए भी प्रयुक्त होता है और यह शब्द किसी समय इतना प्रसिद्ध (popular) रहा है कि उर्दू, अरबी और फारसी में भी प्रयुक्त हुआ है। उर्दू में एक शब्द आता है-नक़्श, नक्शा। वह है 'नः अक्ष' अर्थात् आँखें,

हमारे दृश्य। 'नः' का संस्कृत में एक अर्थ होता है-हमारा (अस्माकं) और 'न' अक्षर लगातार प्रक्रिया (continuity) के लिए भी प्रयुक्त होता है। जैसे-जनन, मरण, मनन, खनन इत्यादि। तो 'नः अक्ष' शब्द का प्रयोग किसी समय संस्कृत भाषा में इस तरह से हुआ कि वह अरबी में भी गया और फारसी में भी। अंग्रेजी में भी आँख के लिए Eye शब्द बना जो अक्षी, अक्ष के अर्थ का ही द्योतक है। उर्दू में जो नक़्शा शब्द है हिंदी में उसे मानचित्र कहते हैं, यानि जो हमारी आँखों के सामने है, समक्ष है, सम+अक्ष अर्थात् उत्कृष्ट रूप से हमें अनुभव हो रहा है, उसे हम प्रत्यक्ष प्रमाण कहते हैं। यह प्रत्यक्ष प्रमाण ज्ञान जितना भी होता है, उतना सदा अभंग ही होता है। चूँकि यह ज्ञान अभंग है, अतः आकाश (Space) का विषय नहीं है वरन् 'समय' (Time) में है। इसे यूँ कह सकते हैं कि जो समयदृष्टा है, वह प्रत्यक्ष प्रमाण से जानता है। उसका ज्ञान प्रमा है और जिसे वह जान रहा है वह प्रमेय (Subject) है, जानने वाला प्रमाता (Knower) है।

यह प्रमाण ज्ञान भी दो तरह का है-एक वह जो प्रत्यक्ष है तथा दूसरा वह जो परोक्ष है। परोक्ष अर्थात् indirect है, जो सीधे आत्मा से नहीं वरन् पाँच इंद्रियों-मन एवं बुद्धि की सहायता से जानता है, वह भी प्रमाण है। अब यहाँ प्रश्न उठ सकता है कि जो प्रत्यक्ष है, वह तो अनुभूति है-अतः प्रमाण है किंतु जो परोक्ष है, वह तो अनुभूति नहीं है, उसे तो अनुमान से ही जानोगे। तो ऐसा नहीं है। इसे एक उदाहरण से समझें, कि आप और हम सामने हैं, तब तो प्रत्यक्ष हुआ किंतु अभी किसी जीवित आदमी को शेर की गुफा में छुपा दिया जाए तो क्या होगा ? शेर उसे ना देखता हुआ भी गंध से तो उसका अनुमान कर ही लेता है। उसके लिए तो वह गंध भी प्रमाण है क्योंकि इंद्रियों द्वारा ग्राह्य तो है ही।

समण दर्शन में वर्णित अतिथि संविभाग व्रत का एक बहुत प्यारा उदाहरण कुरआन शरीफ में आता है, जहाँ मोहम्मद साहब कहते हैं कि आप जो भी खाना बनाते हो, उसे मिल-बाँट कर खाओ, अतिथि संविभाग हो। तब प्रश्न पैदा हुआ कि किनमें बाँटे ? अब यदि मोहल्ले में सबको बाँटे तो आदमी की इतनी हैसियत तो नहीं। वो सबमें बाँट दे तो खुद क्या खाए ? तब मोहम्मद साहब ने कहा, जहाँ तक भोजन की गंध फैलती है, वहाँ तक के लोगों में बाँट कर फिर भोजन ग्रहण करो।

अब इसमें बाँटने की सीमा रेखा क्या ? यह नय की बात है। बाँट के खाना-यह प्रत्यक्ष प्रमाण की बात है किंतु उसकी सीमा रेखा, उसकी आचार संहिता, उसकी नीति मर्यादा-ये सब नय की बात है। तो मोहम्मद साहब ने कहा-'जहाँ तक उस खाने की सुगंध जाती है', वो प्रमाण है, भले ही अनुमान है, मगर प्रत्यक्ष ही है। मगर यह विधि है कि जहाँ तक सुगंध जाती है, वह हमारा मेहमान है। तो जो सुगंध जाती है, वह प्रमाण की बात है और 'मिल-बाँट कर खाना चाहिए' यह नय की बात है।

नय और प्रमाण दोनों साथ-साथ चलते हैं। इस प्रकार जो आत्मा के उपादान (योग्यता) से, भावों से, आत्म रूप में वेदन किया जा रहा है, वह प्रमाण है और उसका नीति नय के हिसाब से जो निर्णय किया जा रहा है, जो समझ स्थापित की जा रही है, जो आचार-संहिता और संस्कृति बनाई जा रही है वह सब 'नय' है।

जो प्रत्यक्ष आत्मा से जाना जाए वह प्रत्यक्ष प्रमाण है, इस प्रमाण को किसी बाह्य निमित्त की आवश्यकता नहीं है, इस प्रमाण को किसी श्रुत की आवश्यकता नहीं है, क्योंकि यह जो वेदन है, वह दर्शन है। मगर एक बात ध्यान रहे कि ये दर्शन और श्रुत (ज्ञान) परस्पर एक दूसरे के पूरक हैं। ये अंधे और लंगड़े की जोड़ी के समान है। जिस प्रकार अंधा लंगड़े के बिना और लंगड़ा अंधे के बिना गति नहीं कर सकता है; ठीक इसी प्रकार दर्शन और श्रुत या कहो प्रमाण और नय (viewpoints) हैं।

सूत्र-7
अधिगम के तरीके - 1

जीवन के हर सोपान में 'अधिगम' (learning) के दो तरीकों की चर्चा हमने पूर्व सूत्र में की। वे दो तरीके थे-प्रमाण और नय। किंतु इस विशाल अधिगम प्रक्रिया को और भी कई-कई रूपों में समझा जा सकता है। इस सूत्र में अधिगम प्रक्रिया के दूसरे तरीके (एक भिन्न अपेक्षा) से छः भेद बताए गए हैं-

सूत्र- निर्देशस्वामित्वसाधनाधिकरणस्थितिविधानतः ॥7॥

अर्थ- 1. निर्देश 2. स्वामित्व 3. साधन 4. अधिकरण 5. स्थिति और 6. विधान-इनसे भी ज्ञान प्रक्रिया का (learning) विधान होता है ॥7॥

विवेचन- ज्ञान प्राप्ति के ये षट् सोपान सामायिक के प्रतिज्ञा सूत्र (करेमि भंते का पाठ) में वर्णित षट् आवश्यक है। 'करेमि भंते सामाइयं..... 'पाठ में ये सामायिक के छह सोपान निम्न पदों में प्रगटित व उल्लिखित है, यथा..... पच्चक्खामि, पज्जुवासामि, पडिक्कमामि, निंदामि, गर्हामि एवं अप्पाणं वोसिरामि। इन छह सोपानों की साधना घटित होने पर किसी साधक का 'समय 'में प्रवेश होता है। सामायिक चारित्र संभव होता है। इनमें प्रथम आवश्यक है 'प्रत्याख्यान'। यह प्रत्याख्यान अधिगम के प्रथम सोपान 'निर्देश 'पद से होगा। निर्देश अर्थात् instruct करना, संकेत करना, निर्देश-नियोजित हिस्सा (देश)। इस प्रथम आवश्यक में साधक मन को निर्देश देता है। जिसे जानना है, उसकी ओर ध्यान देता है तथा इस हेतु जिस ओर नहीं जाना है, नहीं जानना है उसका प्रति-आख्यान करता है। इस 'प्रति-आख्यान' आवश्यक 'पच्चक्खामि' को ही यहाँ निर्देश पद से सूचित किया गया है। यदि किसी भी विषय-वस्तु का अधिगम करना है तो सर्वप्रथम 'प्रत्याख्यान' हो। प्रत्याख्यान उस विषय का किया जाए, जिस ओर ध्यान नहीं देना क्योंकि यह प्रत्याख्यान शब्द निषेधपरक है। अतः मन को निर्देश दो अथवा प्रत्याख्यान करो कि वह अपने लक्ष्य (goal) के सिवाय अन्य किसी विषय में न सोचे, न ध्यान दे ताकि उसे अपने लक्ष्य का स्पष्ट ज्ञान हो सके। ज्ञान प्रक्रिया का यह प्रथम सोपान 'निर्देश' सामायिक का प्रथम आवश्यक प्रत्याख्यान हुआ।

जब निर्देश के द्वारा मन को अपनी विषय-वस्तु अर्थात् Determined Goal की ओर प्रवाहित कर दिया गया है, तब द्वितीय सोपान पर आरोहण होता है, जो है-स्वामित्व, पर्युपासना। आत्मा के पास बैठकर मन को शुद्ध करो, फिर मन की कार्यप्रणाली पर स्वामित्व करो। यह स्वामित्व ही सामायिक का दूसरा आवश्यक 'पर्युपासना' है। पर्युपासना अर्थात् समग्ररूपेण समीप उपस्थित होना। मन, वचन एवं काया-इन योगों द्वारा आत्मभावों के समीप उपस्थित होना ही पर्युपासना है, यही स्वामित्व भी है। स्वामी शब्द का एक अन्य अर्थ होता है-अपने मैंपने

को जिसने स्वाहा कर दिया अर्थात् वोसिरा दिया। "The one who dissolves his ego is Swami." जब तक हम किसी विषय-वस्तु की पर्युपासना (पज्जुवासामि) नहीं करते, तब तक उसका स्वामित्व भी हस्तगत नहीं हो सकता है। सीखने के लिए संबंधित विषय का स्वामित्व होना आवश्यक है, इसीलिये अंग्रेज़ी में किसी विषय के निष्णात ज्ञानी को मास्टर (master) यानी स्वामी कहा जाता है।

स्वामित्व के लिए साधन भी अपेक्षित है। अतः तीसरा सोपान है साधन, जो कि सामायिक का तृतीय आवश्यक 'प्रतिक्रमण' है। प्रतिक्रमण कहते हैं विगत भावों (वि+भावों) से स्वभाव में आने को। स्वभाव में आने के लिए, संबंधित विषय क्षेत्र में प्रवेश के लिए, स्वामित्व के लिए 'साधन,' या कहें 'प्रतिक्रमण' आवश्यक है। यहाँ आकर साधक विपरीत क्रमा (प्रति+क्रम) होने लगता है। पूर्व निर्धारित एवं आदतन क्रमों के विपरीत गए बिना, उससे प्रतिक्रम हुए बिना अधिगम संभव नहीं है। अतः साधन है-प्रतिक्रमण। साध्य सामायिक है। समय में प्रवेश है। समणा में जीना है। उसके लिए तीसरा आवश्यक प्रतिक्रमण साधन है। इस प्रतिक्रमण के बाद साधक वर्तमान में आ जाता है। अतः साधक का चौथा सोपान है-अधिकरण, और वही सामायिक का चतुर्थ आवश्यक है-निरीक्षण, जिसे करेमि भंते के पाठ में 'निंदामि' पद से कहा गया है। जब प्रतिक्रमण हो गया तो अब साधक चारित्र में उपस्थित हुआ। जब आप चारित्र में आ गए तो अब अधिकरण होगा। अब जो कुछ भी कर दिया है, उसका पूरा का पूरा ज्ञान प्राप्त करना है, अपने निर्धारित विषय क्षेत्र को कई-कई तरीकों से देखना है, तभी सम्यक् ज्ञान होगा। अधिकरण-निरीक्षण के बगैर सम्यक् ज्ञान की स्थिति नहीं हो सकती, अतः अब पंचम सोपान है-'स्थिति'। अपने विषय के विज्ञान की संपूर्ण अवस्थिति ही 'स्थिति' है जो कि पंचम आवश्यक 'गर्हा' से प्राप्त होती है। जैसे ही हम अपनी मानसिक ग्रंथियों की गुरू के समक्ष अभिव्यक्ति कर देते हैं, ग्रंथियाँ खुल जाती है। मन की गाँठे खुलते ही भीतर एक Vaccum अर्थात् शून्यावस्था पैदा होती है और उस Vaccum में आत्मा का ज्ञान बाहर झलकता है। इसे इस उदाहरण से समझो कि दर्पण के कुछ हिस्से से भी यदि धूल हट जाए तो बाहर स्थित दृश्य की उसमें 'स्थिति' प्रारंभ होती है। अतः पंचम सोपान है 'स्थिति' जो कि गर्हा द्वारा प्रकट होती है। इससे अधिगम की स्थिति होती है और अधिगम की स्थिति होने पर ज्ञान का विधान होता है। 'विधान' षट् आवश्यक सोपान का अंतिम पड़ाव है, 'अप्पाणं वोसिरामि' है। यह विचय, विसर्जन प्रक्रिया है। इस विसर्जन प्रक्रिया से ही विवेक का आविर्भाव होता है और विवेक के होने पर ही ज्ञान का विशेष रूप से आधान (विधान, वि+धान) संभव होता है।

गर्हा से ग्रंथियाँ खुल जाने पर साधक उन समस्त ग्रंथियों को अपने आप से पृथक् कर देता है, विसर्जित कर देता है, अतीत को भुला डालता है और तभी भीतरी ज्ञान का विधान होता है। ज्ञान आत्म रूप हो जाता है। व्यष्टि (Individual) में ही समष्टि का (Universe) प्रगटीकरण होता है। बिंदु में सिंधु का आविर्भाव होता है।

इस प्रकार चाहे प्रमाण ज्ञान हो अथवा नय ज्ञान-किसी भी प्रकार के अधिगम का व्यवहार इन छः सोपान क्रम से, छः आवश्यक प्रक्रिया से होता है। इन छः सोपान क्रम को और भी कई भिन्न-भिन्न तरीकों से समझा जा सकता है। ये ही छः आवश्यक सोपान साधक के षट्चक्र भेदन एवं आत्मज्ञान प्रगटीकरण के सूत्र है। सामायिक के छः आवश्यक का विशद् विज्ञान जानने के जिज्ञासु 'समयवज्जिका' पुस्तक का अध्ययन कर सकते हैं; जो कि 'करेमि भंते' का विस्तृत विज्ञान प्रगट करती है।

सूत्र-8
अधिगम के तरीके-2

अधिगम (learning) के बारे में पूर्व सूत्र में 6 अनुयोगों (steps) की चर्चा की गई थी, अब आठवें सूत्र में पुनः अनुयोगों (द्वारों) द्वारा सीखने की प्रक्रिया को कहते हैं। सूत्र इस प्रकार है-

सूत्र- सत्संख्याक्षेत्र स्पर्शनकालांतर भावाल्पबहुत्वैश्च ॥8॥

अर्थ- सत्-अस्तित्व(existence) होना, संख्या-गिनती, क्षेत्र-वर्तमान निवास स्थान, स्पर्शन-तीनों काल संबंधी निवास स्थान, काल-रहने-ठहरने की मर्यादा, अंतर-विरहकाल, भाव-अवस्था-परिणाम विशेष, अल्पबहुत्व-थोड़ा बहुत पन (quantity)-इन आठ अनुयोगों के द्वारा भी सप्त तत्त्वों का और रत्नत्रय का ज्ञान होता है ॥8॥

विवेचन- प्रश्न पैदा हो सकता है कि सीखने के छः उपायों का निर्देश पूर्व सूत्र (निर्देश स्वामित्व...) में किया जा चुका है, फिर आठ उपायों द्वारा भी उसके कथन करने की भला क्या आवश्यकता प्रतीत हुई ? इसका समाधान है कि इस संसार में सभी व्यक्तियों का सीखने का स्तर सरीखा नहीं होता। सभी इंसानों का बुद्धि स्तर (I.Q.) अलग-अलग होने के कारण कुछ तो इतनी तीव्र मेधा के धनी होते हैं कि पूर्व सूत्र 'प्रमाण नयैरधिगम' मात्र से ही सब कुछ समझ जाते हैं किंतु ऐसे भी तो कई लोग हैं जिन्हें संक्षेप में समझाने से ज्ञान नहीं हो जाता, तब उन्हें समझाने के लिए कुछ विस्तार से छः भेदों का कथन किया गया। किंतु न तो कोई विषय (subject) इतना संक्षेप में होता है कि उसे मात्र कुछ द्वारों से ही ग्रहण कर लिया जाए और न ही किसी विषयी अर्थात् ज्ञाता (object) की प्रज्ञा ऐसी होती है कि जो बहुत-बहुत भेदों से भी ना ग्रहण करे। इस अनेकांत सृष्टि में हर तत्त्व अपने अनेक धर्मों, अनेक रूपों के साथ प्रतिष्ठित है अतः उसे सीखने और जानने के भी अनेक तरीके हैं, आयाम हैं। वस्तुतः विविध समझ, विविध विधा, विविध विद्या इस अनेकांत सृष्टि का अटल नियम है। जिस प्रकार एक ही रोग कई सारी चिकित्सा पद्धतियों द्वारा ठीक किया जा सकता है, अलग-अलग दवाईयों से ठीक किया जा सकता है। हर चिकित्सा पद्धति के मौलिक सिद्धांत अलग-अलग होते हैं। हर दवाई की रासायनिक संरचना भिन्न-भिन्न होती है, फितरत भिन्न-भिन्न होती है। ठीक उसी प्रकार एक ही बात को अलग-अलग देश, काल, पात्र, भाव से अलग-अलग सोच व समझ के अनुसार बताया जा सकता है। महत्वपूर्ण यह होता है कि किसी भी उपाय द्वारा हम बात की गहराई को समझ जाएँ। पूर्व सूत्र में छः द्वारों द्वारा समस्त को जानने का मार्ग दिया गया था, अब यह सूत्र उससे भिन्न आठ द्वारों द्वारा समस्त को जानने का मार्ग देता है।

यह सूत्र बताता है कि सर्वप्रथम किसी भी तत्त्व को उसके अस्तित्व से जाना जाता है क्योंकि समस्त ज्ञेय सत् तो है ही। अस्तित्व (Existence) को जाना जा सकता है ,अनस्तित्व को तो भला जाना ही कैसे जा सकता है। अतः जानने के लिए सर्वप्रथम सत् को जानें। उदाहरण के लिए किसी को तेल प्राप्त करना है तो उसे सर्वप्रथम यह जानना होगा कि इस तेल का अस्तित्व किसमें है, वह कहाँ सत्रूप है। तेल प्राप्त करने के लिए यदि कोई बालू को पेले तो तेल प्राप्त नहीं कर सकता। इसी प्रकार पानी से घी या संसार से बाधारहित सुख प्राप्त नहीं किया जा सकता, क्योंकि वह वहाँ पर अस्तित्व नहीं रखता है, अतः यह जानें। जानने अथवा प्राप्त करने रूप अधिगम के लिए सर्वप्रथम 'सत्' का ज्ञान आवश्यक है।

इसके पश्चात् 'संख्या' (Number) अर्थात् गिनती, परिमाण को जानना है। संख्या से यहाँ अर्थ उस वस्तु अथवा तत्त्व के भेदों से हैं। जैसे-किसी को औरंगाबाद जाना है और कोई भारत आकर कहे 'मुझे औरंगाबाद जाना है' तो प्रश्न पैदा हो सकता है कि भारत में औरंगाबाद नाम का एक ही स्थान है या दो, तीन और भी है। भारत में औरंगाबाद नाम का शहर बिहार में भी है, महाराष्ट्र में भी है। तब उसको उसके क्षेत्र और संख्या दोनों का ज्ञान होना आवश्यक है। यदि संख्या रूप भेदों का ज्ञान ना हो तो हम कई बार विषय-वस्तु में उलझ भी सकते हैं। अतः किसी भी तत्त्व को जानने के लिए उसके भेदों को जानना आवश्यक अनुयोग है। यही कारण है कि जीवादि तत्त्वों का स्वरूप भी उसके भेदों के साथ ही प्ररूपित किया गया है। यथा-जीव के चौदह भेद, अजीव के चौदह भेद, पुण्य के नौ, पाप के अठारह, आस्रव-संवर के बीस-बीस, बंध-मोक्ष के चार-चार तथा निर्जरा के बारह भेद। इन भेदों से तत्त्व का यथार्थ ज्ञान उपलब्ध होता है और वह ज्ञान उस तत्त्व के क्षेत्र को स्पर्शन् कर पाता है। अतः संख्या के पश्चात् क्षेत्र और स्पर्शना अनुयोग का वर्णन किया गया है।

क्षेत्र से यहाँ तात्पर्य किसी भी विषय-वस्तु के वर्तमान के निवास स्थान से है। जैसे, कोई दो व्यक्ति परस्पर फोन पर वार्ता कर रहे हैं। उनमें से एक कह रहा है 'आज बहुत सर्दी है' किंतु दूसरा कह रहा है 'मेरा गर्मी से बुरा हाल हुआ जा रहा है'। तब किसकी बात सत्य मानें। तो यह सूत्र कहता है कि-'क्षेत्र को जानो।' जो लंदन में है, उसके लिए शीत का अनुभव है। किंतु जो मरूभूमि में ज्येष्ठ मास में रह रहा है, उसके लिए तीव्र गर्मी है। ये क्षेत्र के भेद से अनुभव ज्ञान भिन्न-भिन्न है। अतः दोनों ही सत्य है किंतु सापेक्ष (relative) है। इसी बात को हम जगद्गुरू आचार्य सम्राट 1008 श्री विजयशांतिसूरीश्वर जी के वचनामृत में भी पाते हैं। एक बार उनसे किसी जिज्ञासु ने प्रश्न किया 'क्या इस काल में मोक्ष संभव है?' तब उन्होंने कहा कि 'जिसकी आत्मा उच्च श्रेणी पर है, उसके लिए पाँचवाँ आरा होते हुए भी चौथा आरा ही है। वैशाख ज्येष्ठ महीने में जो हिमालय पर बैठा हो, उसके लिए उस वक्त भी शीतकाल है।' सत्य सदा सापेक्ष ही अभिव्यक्त होता है ।इस प्रकार क्षेत्र द्वार से हम बहुत से तत्त्व विषय का अधिगम सरलता से कर सकते हैं।

अब आगे स्पर्शन् द्वार की महत्ता करते हुए यह बताया गया है कि क्षेत्र तो वर्तमान ग्राही निवास है किंतु त्रिकालवर्ती विषयानुभवों को स्पर्शना द्वारा जाना जाता है। किसी भी विषय का संपूर्ण ज्ञान प्राप्त करना है तो उस विषय की स्पर्शना को भी जानना होगा। जैसे किसी को आम की प्रकृति का ज्ञान करना है अथवा किसी को जड़ी-बूटी का; तो उसे प्रत्येक क्षेत्र में, प्रत्येक कालवर्ती वनस्पतियों का अध्ययन करना होगा। जैसे कि रत्नागिरी के हापूस आम अथवा उत्तर प्रदेश के दसेरी। अलग-अलग क्षेत्रों में अलग-अलग किस्म के आम होते हैं। आम विषयक प्रत्येक क्षेत्र स्पर्शना को जानना स्पर्शना है। एक क्षेत्र में रहते हुए किसी भी विषय-वस्तु का प्रभाव व प्रसार जहाँ तक हो रहा है, वह 'स्पर्शना' कहलाता है । यहाँ स्पर्शना शब्द से मात्र स्पर्श का भाव ही नहीं बल्कि

स्वाद, गंध, दृश्य व श्रवण सभी प्रकार के वेदन का कथन है। चूंकि मनुष्य के पाँचों इंद्रियों का मूल स्पर्श ही है, अतः मनुष्य स्वाद, गंधादि द्वारा भी विषय-वस्तु को स्पर्श ही करता है। इसलिए यहाँ स्पर्शन द्वार का कथन किया गया है। इसे ट्यूब के प्रकाश से भी समझ सकते हैं। एक ट्यूब किसी भी क्षेत्र में रहकर जहाँ तक अपना प्रकाश फैंकती है, वह उसकी स्पर्शना है।

स्पर्शना की समझ भी क्षेत्र की अपेक्षा से व प्रदेशों की अपेक्षा से अलग-अलग होती है। सम्यग्दृष्टि जीव कितने क्षेत्र को स्पर्श करते हैं, तो इस विषय में यह जानना कि सम्यग्दृष्टि लोक के असंख्यातवें भाग को स्पर्श कर रहे हैं किंतु क्षेत्र की अपेक्षा से उनकी स्पर्शना अधिक प्रदेशों में हैं। सामान्य रूप से तो क्षेत्र एवं स्पर्शना दोनों में कोई विशेष भेद नहीं होता किंतु क्षेत्र वर्तमान विषयक होता है, वहीं स्पर्शना त्रिकाल विषयक। इस प्रकार स्पर्शना तो समग्र की हो गई, संपूर्ण की हुई किंतु क्षेत्र सीमित हो गया। जिस प्रकार बर्तन में पक रहे चावलों में से एक चावल को स्पर्श करके सारे चावलों के पक जाने के बारे में ज्ञान प्राप्त किया जा सकता है, उसी प्रकार हमें स्पर्शन की सामुदायिक विधा को समझना चाहिये।

अब 'काल' द्वार से भी अधिगम किया जाता है। जैसे कि किसी भी तत्त्व का अमुक स्वरूप कितने काल तक रहेगा, इसे जानना 'काल' अनुयोग पद्धति है। जैसे ग्रीष्म ऋतु-शीत ऋतु-वर्षा ऋतु कितने-कितने काल-परिमाण की होती है-यह जानना काल द्वारा विषय को ग्रहण करना है। काल भेद से वस्तु तत्त्व के स्वरूप में भी परिवर्तन हो ही जाता है। उदाहरण के तौर पर आम फल को ही लें। ग्रीष्म ऋतु में आम का जो स्वाद होता है, वर्षा ऋतु आने पर वही आम विरस होने लगता है। इसी कारण से आर्द्रा नक्षत्र लगने पर आम फल को खाना स्वास्थ्य के लिए हानिकारक हो जाने से निषिद्ध किया गया है।

इसी काल को अंतर (अवधि भेद) द्वारा भी जाना जाता है। अंतर द्वार से तात्पर्य एक अवस्था से च्युत होकर पुनः उसी अवस्था को प्राप्त करने के बीच के विरह काल से है। जैसे वर्षा ऋतु फिर कब आएगी, तो हर आठ मास के बाद भारत में पुनः वर्षा ऋतु प्रारंभ होती है-ये सामान्य ज्ञान हुआ। किंतु यही कथन भिन्न क्षेत्र में भिन्न हो जाएगा। जैसे भारत के कुछ भू-भाग में वर्षा ऋतु हर दो मास के बाद आ जाती है तो कुछ ऐसे भी क्षेत्र हैं जहाँ वर्षा का अभाव है अथवा बहुतायत में वर्षा होती ही रहती है। इस प्रकार किसी भी विषय-वस्तु का अधिगम एक साथ कई आयामों से होता है। किसी एक आयाम को ही यदि सत्य मान कर कोई आग्रहशील हो जाए तो वह मिथ्या ज्ञान को उपलब्ध कहा जाएगा। सम्यग्ज्ञान के लिए तो निरंतर नित नए आयामों से जाना एवं जानना अपेक्षित है।

इन नए-नए रूपों एवं आयामों को जानना 'भाव' अनुयोग द्वार है। यह सातवाँ अनुयोग है। भाव से तात्पर्य किसी भी विषय-वस्तु की प्रकृति को जानने से है। जैसे आत्मा की प्रकृति ज्ञान दर्शनमय है, वह आत्मा का भाव है किंतु जो आत्मा कषायरत है, वह आत्मा का वि-भाव है, विपरीत भाव है। वस्तु के ज्ञान में परिस्थिति व भाव का ज्ञान बड़ा महत्वपूर्ण है। जैसे, राम एक सफेदपोश गुण्डा है, जन नेता भाव से वह एक कुटिल व्यक्ति है मगर पति भाव से वह एक सभ्य व अच्छा आदमी है। इसी तरह धार्मिक सूत्र व आचारसंहिता को देश, काल, पात्र व भाव की अपेक्षा से जानना चाहिये। ये भाव द्वार हर विषय-वस्तु की प्रकृति का ज्ञान देता है।

इसके बाद यदि किसी का तुलनात्मक ज्ञान प्राप्त करना है तो उसे अल्प-बहुत्व द्वार से जाना जाता है। अल्प बहुत्व से तात्पर्य कौन किससे कम है और कौन किससे ज्यादा-यह जानना है। जो ज्यादा होगा वह उस रूप वाले, परिणाम को प्राप्त करेगा; जैसे कि एक व्यक्ति पाप एवं पुण्य दोनों का उपार्जन करता है किंतु यदि उसके पुण्य कर्म ज्यादा है तो वह दिव्य सुखों को प्राप्त करेगा, देव गति में जाएगा किंतु इसके विपरीत पाप कर्म ज्यादा है

तो वह नरक योनि में जन्म ग्रहण करेगा। अतः अल्पाबहुत्व वस्तु-विषयों के स्वरूप निर्धारण एवं तुलनात्मक अध्ययन के लिए आवश्यक द्वार है। इन उपर्युक्त आठों द्वारों द्वारा अधिगम किया जाता है। ये आठों द्वार परस्पर एक-दूसरे के पूरक (Complimentary) एवं संबंधित है तथा समान रूप से महत्वपूर्ण है। इनमें किसी का भी महत्व कम नहीं आँका जा सकता। इन आठ द्वारों से भी संपूर्ण अनेकांतमय सृष्टि का ज्ञान किया जा सकता है।

उपर्युक्त सूत्र संख्या 7 और 8 में जीवादि समस्त तत्त्वों को जानने के कुल 14 उपाय बताए गए हैं, ये कुल उपाय इस प्रकार है-

1. निर्देश,	2. स्वामित्व,	3. साधन,	4. अधिकरण,
5. स्थिति,	6. विधान,	7. सत्,	8. संख्या,
9. क्षेत्र,	10. स्पर्शन,	11. काल,	12. अंतर्,
13. भाव,	14. अल्पबहुत्व ।		

वस्तु स्वरूप का अनुयोग ज्ञान पाने के लिए इन समस्त मार्गणाओं की अपनी-अपनी भी महत्ता है व समवेत भी। ये द्वार अनेकांत दर्शन का ज्ञान उद्घाटित करते हैं। इतने मार्गों से जब पदार्थ को जानोगे तो स्वतः ही एकांत दृष्टि का विलय हो जाएगा। अनाग्रही अवस्था भी प्रगट होगी व साथ ही साथ सबको समझने की योग्यता भी उजागर होगी। जब कोई एक पदार्थ ही इतनी अधिक अपेक्षाओं से समझे जाने पर इतने विविध रूप व्यक्त करता है, तब भला एक सत्य या एक ही स्वरूप का आग्रह कैसे संभव हो सकता है। एक बार आत्मज्ञानी श्री विराट गुरूजी से किसी जिज्ञासु ने प्रश्न किया कि दुनिया में इतने अलग-अलग तरीके के धर्म है, इतनी साधना प्रणालियाँ है, इनमें से कोई एक ही सच हो सकती है ना, सत्य तो कोई एक ही होगा ना ? तब पूज्य गुरूजी ने उत्तर दिया कि-हाँ ! सत्य तो एक ही होता है, परंतु वह एक सत्य यह है कि 'सत्य अनेकांत है।' सत्य अनेक धर्मों को समाहित किए हुए है। अतः सभी का सत्य उसका अपना निजी अनुभव है, जो यदि निरपेक्ष हो, निर्द्वन्द्व हो तो व्यक्ति को बुद्ध बनाता है। आप्त बनाता है।

हम इस तथ्य को जानकर प्रत्येक पदार्थ की अनेकांत समझ को ग्रहण करने वाले बनें।

सूत्र-9
पाँच ज्ञान

ज्ञान प्राप्त करने के इतने अनुयोगों (2-6-8) का वर्णन कर चुकने पर प्रश्न पैदा होता है, इतने अनुयोगों से प्राप्त होने वाला 'ज्ञान' कौनसा है। वह स्वयं कितने भेदों वाला है। तो अब इस सूत्र में ज्ञान के भेदों से ज्ञान का कथन किया गया है-

सूत्र- मतिश्रुतावधिमनःपर्यायकेवलानि ज्ञानम् ॥9॥

अर्थ- मति, श्रुत, अवधि, मनःपर्यव और केवल-ये पाँच ज्ञान है ॥9॥

विवेचन-'ज्ञान' शब्द का अर्थ होता है 'जानने की क्रिया', अवबोधन (knowing) । यह हर जीव का उपादान है। उपादान अर्थात् उसकी मूल योग्यता। हर जीव जानने की क्रिया करता है क्योंकि वह जानने की स्वाभाविक क्षमता रखता है। हाँ, वह क्षमता प्रकट में सभी जीवों की भिन्न-भिन्न व तरतमता लिये हो सकती है किंतु होती अवश्य है। इस जानने और देखने की क्षमता के कारण ही जीव 'जीव' है अन्यथा वह भी जड़वत् जड़ ही होता।

ज्ञान अपने क्षयोपशम की भिन्नता के कारण पाँच भेदों वाला बताया गया है, जो इस प्रकार है -

1. मति ज्ञान- मति ज्ञान यानि जानने-समझने की व्यक्तिगत मानसिक क्रिया। इसे अपनी-अपनी बुद्धि भी कह सकते हैं अथवा पाँच इंद्रियों और मन के द्वारा यथायोग्य पदार्थ जिसके द्वारा मनन किये जाते हैं, उसे मति ज्ञान कहते हैं। वह मनन 'मति' कहलाता है। ('इन्द्रियैर्मनसा च यथा स्वमर्थो मन्यते अनया मनुते मननमात्रं वा मतिः') यह भूत संस्कारों व जानकारियों के आधार पर काल्पनिक भी होता है व यथार्थ भी। जब यह मति ज्ञान अनुभव रूप है, स्वानुभूति सहित है, तब विलक्षण है और यही ज्ञान विकास को प्राप्त कर केवल ज्ञान की ओर ले जाता है। यह मति ज्ञान एकेन्द्रिय से लेकर पंचेन्द्रिय तक सभी जीवों में पाया जाता है। सम्यक् दृष्टि के अभाव में यह अज्ञान रूप होता है।

2. श्रुत ज्ञान- मति ज्ञान से जाने हुए पदार्थ का जो विशेष रूप से ज्ञान होता है, वह श्रुत ज्ञान कहलाता है। ज्ञानावरण का क्षयोपशम होने पर निरूप्यमाण पदार्थ जिसके द्वारा सुना जाता है, भाषा का वह आशय 'श्रुत' कहलाता है। श्रुत ज्ञान संस्कारों से श्रृंगारित अर्थात् सामाजिक होता है। इसमें श्रोत इंद्रिय की विशिष्ट प्रधानता रहती है। मति ज्ञान में व्यक्ति की अपनी समझ होती है तो श्रुत ज्ञान समझने की सामाजिक शैली होती है। यों समझ लीजिये कि यदि मति ज्ञान अंतर् कुण्ड है तो श्रुति बाहर की ओर फूटने वाला सोता, जिसमें सभ्य समाज का हर व्यक्ति नहा सकता है इसीलिए इसे 'श्रुत' कहा गया है। यद्यपि जिसके पास श्रोतेंद्रिय लब्धि नहीं है, उन्हें भी श्रुत

तो होता है किंतु वह अक्षरात्मक (verbal) नहीं होता, अनक्षरात्मक (non-verbal) होता है। वह मात्र संवेदन रूप होता है, अभिव्यक्ति रूप नहीं। जब तक संवेदन और अभिव्यक्ति दोनों ही न हो तब तक यह श्रुत ज्ञान हिताहित का निर्णय एवं विवेक दृष्टि को उपलब्ध नहीं हो सकता। जब श्रुतज्ञान पंचेन्द्रिय समनस्क जीव को मतिपूर्वक होता है, तब वही श्रुतज्ञान उस जीव के चरम विकास 'कैवल्य 'परिणति में सहायक बनता है।

3. अवधि ज्ञान- द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव की मर्यादा लिए हुए रूपी पदार्थ (visible matter) का इन्द्रिय आदि की सहायता के बिना जो प्रत्यक्ष ज्ञान होता है, वह अवधि ज्ञान है। यह ज्ञान अधिकतर नीचे के विषयों को जानने वाला होने से या परिमित विषय वाला होने से अवधिज्ञान कहलाता है। 'अव 'शब्द का एक अर्थ नीचे होता है व 'धि 'का अर्थ धारण करना, समझना भी होता है। इसी कारण अवधिज्ञान को नीचे के क्षेत्रों का ज्ञान कहा जाता है। यह ज्ञान भी चारों गति के जीवों में हो सकता है। यह ज्ञान space और time का सीमायुक्त ज्ञान है। अवधिज्ञान का एक अर्थ 'सीमा 'है, Limit है।

4.मन:पर्यव ज्ञान- दूसरों के मनोगत अर्थ को मन कहते हैं। संबंध से उसका पर्ययण अर्थात् परिगमन करने वाला ज्ञान मन: पर्यव कहलाता है। अथवा सरल शब्दों में इस प्रकार भी कह सकते हैं कि मनुष्य लोक में वर्तमान जीवों के मन में स्थित जो रूपी पदार्थ है, जिनका उन जीवों ने सरल रूप से या जटिल रूप से विचार किया है या विचार कर रहे हैं या भविष्य में विचार करेंगे, उनकी मन की अवस्थाओं को स्पष्ट जानने वाले ज्ञान को मन:पर्यव ज्ञान कहते हैं। यह ज्ञान 'ज्ञानावरणीय कर्म के क्षयोपशम की विशिष्टता से 'मनुष्य मात्र में अप्रमत्त दशा में प्रकट होता है। इसे यूँ भी कह सकते हैं कि मनोवर्गणा पुद्गलों को पहचानने की क्षमता मन:पर्यव ज्ञान होता है।

5. केवल ज्ञान- केवल ज्ञान अर्थात् 'The Only Knowledge' ; मात्र ज्ञान। जहाँ ज्ञानावरण का संपूर्ण क्षय हो जाता है, वहाँ मात्र ज्ञान प्रगट होता है। वह किसी अपेक्षा अथवा भेद से युक्त नहीं होता, वह मात्र होता है; इसीलिए उसे केवल ज्ञान कहा गया है। यहाँ संपूर्ण अपेक्षाओं का एवं विभाजनों का अंत हो जाता है, इसलिए कहा जाता है- 'ज्ञानांत केवलम्। जहाँ समस्त ज्ञानों का अंत है, वह 'केवल ज्ञान' है। जहाँ शेष सारे ज्ञान विषय विलय हो जाते हैं, वह 'केवल 'है। केवल से तात्पर्य The Only से है। जहाँ कोई पूर्व नहीं, कोई पश्चिम नहीं, कोई भंग-विकल्प (option) नहीं-वह कैवल्य है। यह क्षायिक (कभी क्षय न होने वाली) आत्म अवस्था है। शेष चार ज्ञान क्षायोपशमिक है अर्थात् तद्तद् कर्मावरण के कुछ-कुछ क्षीण होने से प्रगट होते हैं किंतु कैवल्य समस्त कर्मावरण (ज्ञान संबंधी) के क्षय से प्रगट होता है इसीलिए यह केवल होते हुए भी अनंत है। जो केवल है वही अनंत है, अंत रहित है; शेष सभी अंतसहित है, सांत है। जो शून्य (0) है, वही पूर्ण है। नंदी सूत्र के अनुसार-

अह सव्वदव्व-परिणाम-भाव-विण्णत्तिकारणमणंतं।
सासयमप्पडिवाई, एगविहं केवलं णाणं॥

यह सर्व द्रव्य, परिणाम, भाव का जानकार, अनंत, शाश्वत और अप्रतिपाति केवलज्ञान है। केवलज्ञानी व्यवहार नय से समस्त द्रव्य-क्षेत्र-काल व भावों को जानता-देखता है। किन्तु निश्चय में वह संपूर्ण आत्मज्ञानी है। स्वयं को परिपूर्ण रूप से जानता-देखता है। चूंकि वह स्वयं को संपूर्णत: देखता है, इसीलिए वह सर्वज्ञ-सर्वदर्शी भी कहलाता है। स्वयं में सर्व है-यह भेद (गुप्त) ज्ञान जिसको परिपूर्ण रूप से प्रगट हुआ, उनको वंदन बारंबार।।

सूत्र-10-12

ज्ञान प्रमाण है

जानने की भावना ज्ञान को प्रगट करती है। यह जिज्ञासा सभी जीवों में समान रूप से नहीं पाई जाती। कुछ जीव, विशेष जिज्ञासा वृत्ति वाले (curious) होते हैं। ऐसे लोगों द्वारा ही किसी भी तथ्य की तह तक पहुँचना संभव हो सकता है। प्रभु महावीर आदि सभी तीर्थंकरों ने आत्मज्ञान के साधन रूप 'प्रज्ञा' का महत्व स्वीकार किया है। जब केशी-गौतम संवाद में केशी स्वामी गौतम स्वामी से धर्म विषयक भिन्नता के कारण पूछते हैं, तब गौतम स्वामी केशी स्वामी को उत्तर देते हुए कहते हैं कि प्रज्ञा से अर्थात् प्रामाणिक ज्ञान, प्रकर्ष ज्ञान से धर्म की समीक्षा करो- 'पन्ना समिक्खए धम्मं, तत्तं तत्त विणिच्छयं।' (उत्तरा.23) अर्थात् प्रज्ञा समीक्षित धर्म से तत्त्व का विनिश्चय करो। अगर आप प्रज्ञापूर्वक देखोगे तो भगवान पार्श्व और समण महावीर की देशना के अन्तःस्तल में मौजूद एकात्मता को स्वयं ही समझ जाओगे। 'प्रज्ञा' क्या है ? प्रकार-प्रकार से प्राप्त ज्ञान प्रज्ञा है। जब कई दृष्टिकोणों से जाना-देखा जाता है, तब भीतर में मंथन होता है, उस मंथन से तत्त्व का ज्ञान तथ्यपूर्ण हो जाता है। वह तथ्यपूर्ण ज्ञान ही सारे विभेदों को समाप्त करता है। पाँच ज्ञानों के भेद का कथन करने के पश्चात् वाचक उमास्वाति दसवें सूत्र में कहते हैं कि-

सूत्र- तत्प्रमाणे ॥10॥

अर्थ- तत् अर्थात् वह पाँच प्रकार का ज्ञान दो प्रमाण रूप है ॥10॥
(प्रमाणे-प्रमाण का द्विवचन)

विवेचन- यथार्थ ज्ञान को 'प्रमा' कहते हैं और जो यथार्थ ज्ञान कराए (actual knowledge) उसे प्रमाण कहते हैं। जिसके द्वारा वस्तु स्वरूप का परिच्छेदन हो, उसे प्रमाण कहते हैं। वह ज्ञान जो संशय, अनध्यवसाय और विपर्यय से रहित है, वह प्रमाण रूप है। 'मैं कलम से लिख रहा हूँ', यह ज्ञान यथार्थ ज्ञान है। लिखने की क्रिया में कोई संशय भी नहीं है, अनिश्चय भी नहीं है और दृष्टि भ्रम रूप में विपर्यास भी नहीं है, तो यह प्रमाण है। संशय, विपर्यय और अनध्यवसाय-इन्हें ज़रा समझें-

(1) संशयः 'विरूद्धानेक कोटिस्पर्शी ज्ञानं संशयः' अर्थात परस्पर विरूद्ध दो कोटियों को स्पर्श करने वाले ज्ञान को 'संशय' कहते हैं, जैसे 'यह पुरूष है या पेड़ का तना ?' ऐसा विकल्पात्मक ज्ञान। यहाँ पुरूष और पेड़ के तनों में कुछ समान धर्म दिखाई देने से ज्ञान में संशय रहता है। 'आत्मा शरीर रूप है या ज्ञान रूप है ?' इस प्रकार के विकल्प को संशय (doubts) कहते हैं।

(2) विपर्ययः 'विरूद्धैक कोटिस्पर्शी ज्ञानं विपर्ययः ' अर्थात् उपरोक्त दो पक्षों में से एक विरूद्ध पक्ष को स्पर्श करने वाले ज्ञान को 'विपर्यय ' कहते हैं। जैसे 'यह पुरूष नहीं (उसे पुरूष होते हुए भी) पेड़ का तना है ', या 'आत्मा शरीर ही है।' यहाँ संशय के समान दोलायमान अनिर्णयात्मक स्थिति नहीं होती। निर्णय तो होता है, परन्तु वह निर्णय विपरीत पक्ष की ओर होता है, जैसे अंधेरे में रस्सी को सर्प समझ लेना। पीतल को सोना या फेन को चाँदी समझ लेना इत्यादि।

(3) अनध्यवसायः 'किमितिमात्रमनध्यवसायः ' अर्थात् ' यह कुछ तो है ' ऐसे अनिर्णयात्मक ज्ञान को अनध्यवसाय कहते हैं। जैसे, चलते समय पैरों के नीचे कुछ तो है, ऐसा ज्ञान अथवा आत्मा शरीर, कर्म, राग, ज्ञान कुछ तो होगा। यह ज्ञान दो से अधिक अनेक विकल्पों को स्पर्श करता है, इसलिए संशय नहीं और विपरीत पक्ष का निर्णय न होने से विपर्यय भी नहीं। ये प्रमाण ज्ञान के तीन दोष हैं।

उपर्युक्त सूत्र अपने पूर्व और अपर सूत्र से जुड़ा है। यह सूत्र अपने आप में पूर्ण नहीं है। संदर्भों के बिना इस सूत्र को नहीं समझा जा सकता। इसका प्रथम पद 'तत् ' इसके पूर्व सूत्र पाँच ज्ञान का द्योतक है और अंतिम पद 'प्रमाणे ' द्विवचनांत होने से दो प्रमाण रूप होने का सूचक है। ये प्रमाण के दो भेद कौन से हैं-इसे आगे के सूत्र में कहा गया है कि-

सूत्र- आद्ये परोक्षम् ॥11॥
प्रत्यक्षमन्यत् ॥12॥

अर्थ- जो आद्य के दो रूप हैं, वे परोक्ष है ॥11॥
तथा अन्य (तीन) प्रत्यक्ष प्रमाण रूप है ॥12॥

विवेचन- जो आदि में हो, उसको आद्य कहते हैं। यहां पर 'आद्ये ' यह द्विवचन पद प्रयुक्त हुआ है, अतएव 'मतिश्रुतावधि मनःपर्यायकेवलानि ज्ञानम् ' इस सूत्र के पाठ क्रम के अनुसार आदि के दो परोक्ष प्रमाण समझने चाहिए, ऐसा सूत्रार्थ है और शेष तीन ज्ञान 'प्रत्यक्ष ' प्रमाण है। मतिज्ञान और श्रुतज्ञान परोक्ष है तथा शेष तीन प्रत्यक्ष है।

क्या है परोक्ष ? परोक्ष अर्थात् indirect, जो अक्ष (आँख, आत्मा) से परोक्ष है। भावार्थ है कि ज्ञान, जो आत्मा से सीधा नहीं होता है , जो इंद्रिय और मन के माध्यम से होता है, वह परोक्ष (indirect) कहलाता है। जिस ज्ञान के उत्पन्न होने में आत्मा से भिन्न पर वस्तु की अपेक्षा हो, उसको परोक्ष (Indirect) कहते हैं। मतिज्ञान और श्रुतज्ञान में इंद्रिय और मन, जो कि आत्मा से भिन्न पुद्गल रूप है, निमित्त हुआ करते हैं अतएव इनको परोक्ष (indirect) कहते हैं। विशेषता यह है कि इनमें से मतिज्ञान में इंद्रिय और मन दोनों ही निमित्त होते हैं। किंतु श्रुतज्ञान में प्रमुख रूप से मन ही निमित्त होता है। चूँकि श्रुतज्ञान मतिज्ञानपूर्वक ही होता है। अतएव उपचार से उसमें भी इंद्रियाँ निमित्त बनती ही है। जैसे कि उपदेश सुनने में श्रोतेन्द्रिय निमित्त है। इस सुनने को ही मतिज्ञान कहते हैं। किंतु सुने हुए पदार्थ को विविध प्रकार से समझने एवं विचारों की आंतरिक क्षमता को श्रुतज्ञान कहते हैं। ये दोनों ज्ञान 'इन्द्रिय प्रत्यक्ष ' तो है किंतु आत्म प्रत्यक्ष न होने के कारण इन्हें 'परोक्ष ज्ञान ' कहा जाता है। यद्यपि न्यायशास्त्र में लौकिक दृष्टि की अपेक्षा इंद्रियजन्य ज्ञान को प्रत्यक्ष और लिंग (हेतु) तथा शब्दादिजन्य ज्ञान को परोक्ष कहा गया है, परंतु उस लक्षण की यहाँ विवक्षा नहीं है।

मति श्रुत के सिवाय शेष अवधि ज्ञान, मनःपर्यव ज्ञान और केवल ज्ञान-ये तीन प्रत्यक्ष प्रमाण है।

क्या है प्रत्यक्ष ? प्रति+अक्ष से मिलकर शब्द बना है-प्रत्यक्ष (direct from soul)। अक्ष शब्द का व्युपत्तिपरक अर्थ होता है 'अक्ष्णोति व्याप्नोति जानातीतिप्रत्यक्ष आत्मा।' अक्ष, व्याप और 'ज्ञा' ये धातुएँ एकार्थक हैं, इसलिए 'अक्ष' का अर्थ होता है जो direct आत्मा से हो, जिसके लिए बाह्य इंद्रियादि की अपेक्षा न रहे, वह प्रत्यक्ष ज्ञान कहलाता है।

लोक व्यवहार में हम आँखों से देखी, कानों से सुनी बात को प्रत्यक्ष कहते हैं। हम प्रायः यह कहते हैं कि 'मैंने स्वयं प्रत्यक्ष देखा है, प्रत्यक्ष सुना है।' किंतु जो कुछ आँखों व कानों से ग्रहण किया जा रहा है, वह प्रत्यक्ष न होकर परोक्ष है। प्रत्यक्ष वह है जो किसी अन्य साधन की अपेक्षा रखे बिना सीधा आत्मा से होता है। क्योंकि इन्द्रियादि से प्राप्त ज्ञान सदा सीमित होता है। तद्-तद् आवरणों के क्षयोपशम की न्यूनाधिकता पर निर्भर करता है, वह मन द्वारा संस्कारित भी कर दिया जाता है, अतएव उसे प्रत्यक्ष प्रमाण न मानकर परोक्ष प्रमाण माना गया है।

ये पाँचों ही ज्ञान 'प्रमाण' रूप तो है ही किंतु उसका स्वामी सम्यग्दृष्टि हो यह बात 'ज्ञानम्' विशेषण में ही अंतर्निहित है। अन्यथा इनमें से तीन ज्ञान मिथ्यादृष्टि को भी हो सकते हैं। तब ये ज्ञान किसी भी प्रकार के प्रमाण रूप नहीं माने जा सकते, अब यहाँ एक प्रश्न शेष रह जाता है कि 'ज्ञान ही प्रमाण क्यों हैं ?' दर्शन आदि क्यों नहीं ? तो इसका उत्तर यह है कि चूँकि दर्शन वैयक्तिक अनुभूति है अतः वह व्यवहारिक नहीं है। उस दर्शन की (अनुभव की) अभिव्यक्ति ज्ञान है, यह अभिव्यक्ति ही प्रमा (authentic) रूप होने से प्रमाण है, यथार्थ की अवबोधक है। आत्मा से प्राप्त ज्ञान आगम प्रत्यक्ष प्रमाण है, शेष दो ज्ञान परोक्ष प्रमाण है।

सूत्र-13
मति के पर्याय

हमने यह स्वाध्याय किया कि ज्ञान पाँच प्रकार के होते हैं-यथा-मतिज्ञान, श्रुतज्ञान, अवधिज्ञान, मनःपर्यव ज्ञान एवं केवल ज्ञान। इनमें मतिज्ञान व श्रुतज्ञान परोक्ष प्रमाण ज्ञान है और शेष तीन अवधि, मनःपर्यव व केवल ज्ञान प्रत्यक्ष प्रमाण है। प्रमाण शब्द का अर्थ होता है कि किसी मानक विशेष से सबूत के तौर पर सिद्ध करना। सूत्र कहता है कि इस अपेक्षा से प्रमाण दो तरह के हुए। एक हुआ परोक्ष प्रमाण व दूसरा हुआ प्रत्यक्ष प्रमाण अथवा स्वाक्ष प्रमाण। इस प्रकार यह सूत्र व्यक्त करता है कि संपूर्ण लोक के अनेकांत ज्ञान के दो प्रमाण है। एक परोक्ष व दूसरा स्वाक्ष (प्रत्यक्ष)। परोक्ष का मतलब पर की आंख की अभिव्यक्ति। किसी दूसरे का आंकलन। मगर ध्यान दीजिए सूत्र 'परोक्ष' शब्द के द्वारा बहुत कुछ ईशारों में कह रहा है। सूत्र कह रहा है कि इस लोक में ज्ञान के दो मार्ग है-एक पर पाषण्ड व दूसरा प्रत्येक आत्मा का अपना निजी प्रत्यक्ष ज्ञान। जो सभ्यतामूलक ज्ञान है, वह सारा का सारा परोक्ष है। मानव मात्र का प्रचलित ज्ञान-विज्ञान परोक्ष ज्ञान ही है। आपकी अपनी आत्मा के निजी ज्ञान का प्रमाण नहीं है। प्रमाण है कोई दूसरी आँख। वह आँख है मन की आँख। मन पुद्गल है, अतः वह आत्मा की आँख नहीं हो सकता। मन 'चेतन' नहीं होता, उसकी अपनी स्वतंत्र योग्यता नहीं होती। वह जड़ पदार्थ है। चूंकि वह आत्मा नहीं हो सकता है, अतः 'स्व' नहीं 'पर' है। जिस प्रकार कोई दूसरा व्यक्ति आपसे कहे कि 'राम मेरे परदादा थे' तो वह 'पर' की बात है। पर का ज्ञान है। प्रमाण के तौर पर वह फोटो भी दिखावे तो भी वह पर की आँख ही है। जो पर की बात है, वह इंद्रियों द्वारा भेजी गई सूचनाएं है और जो पर की आँखे हैं वह मन द्वारा किया गया समायोजन है, मन की सुझाई गई व्याख्या है। चूँकि वह आपका अपना निजी अनुभव नहीं है, अतः उसके एकांत सत्य की कोई गारंटी नहीं है। मन का कार्य मनन, कलन, संग्रहण है किन्तु नई समझ व भाव शक्ति आत्मा का उपादान है, मन का नहीं।

इस प्रकार सूत्र कहता है कि 'हे भव्य जीव ! इस पर-पाषण्ड में कहाँ उलझा हुआ है ? मन द्वारा पूर्व सूचनाओं, संस्कारों, परिपाटियों आदि के आधार पर अनुवादित किया गया यह सारा ज्ञान प्रत्यक्ष ज्ञान नहीं है। तेरा अपना आत्म ज्ञान नहीं है। तू स्वयं को देखने का प्रयत्न कर। तू तो निजनाथ शुद्ध प्रबुद्ध सर्वशक्तिमान आत्मा है। अपने आत्म उपादान रूप ज्ञान को प्राप्त कर, वही तेरा स्वपाषण्ड है। वही तेरा कल्याण है। वही प्रत्यक्ष ज्ञान है और यही भेद विज्ञान है। मन-रूपी पुद्गल द्वारा पुद्गल का टुकड़ा-टुकड़ा व्याख्यायित ज्ञान परोक्ष ज्ञान है। एकांत नहीं है। उसकी कोई गारंटी नहीं। तू कहाँ भटक रहा है। उसमें रति-अरति मत कर और अपनी आत्मा द्वारा सारी सृष्टि के नाथ आत्मा का, 'स्व' का ज्ञान प्राप्त कर। तब वह प्रमाण निश्चय ही प्रत्यक्ष होने से एकांत सत्य होगा। बड़ा विचित्र व विस्मयकारी होगा। उस ज्ञान के बाद इंद्रिय और मन की अब तक संग्रहित सारी सूचनाएँ आत्म ज्ञान के सामने अप्रामाणिक हो जाएगी।'

सूत्र आगे कहता है कि वह आत्म ज्ञान भी तीन प्रकार का है-अवधि ज्ञान, मनःपर्यव ज्ञान व केवल ज्ञान।

ये तीनों ज्ञान निहायत ही वैयक्तिक है; आत्मा द्वारा आत्मा का, आत्मा को अपने उपादान अर्थात् योग्यता का ज्ञान होता है जो यथा तथ्य सत्य होता है। प्रत्यक्ष होता है। स्वपाषण्ड होता है। आगे के सूत्रों में प्रत्यक्ष व परोक्ष ज्ञान रूप इन पाँच ज्ञानों का विशद विवेचन संक्षिप्त सूत्रों में जानेंगे। प्रथम भेद मतिज्ञान है, अतः मतिज्ञान के बारे में निम्न सूत्र बताता है कि-

सूत्र- मतिःस्मृतिःसंज्ञा चिंता ऽभिनिबोध इत्यनर्थान्तरम्॥13॥

अर्थ- मति, स्मृति, संज्ञा, चिंता, अभिनिबोध इत्यादि अनर्थांतर (अर्थ भेद से रहित) है अर्थात् पर्यायवाची (Synonym) है ॥13॥

विवेचन- यद्यपि इन शब्दों की व्युत्पत्ति अलग-अलग धातुओं से हुई है, तब भी रूढ़ि से ये शब्द परस्पर पर्यायवाची है। जैसे इंद्र, शक्र, पुरंदर आदि सभी अलग-अलग शब्द है किंतु एक शचीपति की वाचक संज्ञा होने के कारण सब पर्यायवाची कहलाते हैं। ठीक इसी प्रकार उपरोक्त सूत्र कहता है कि मति, स्मृति, संज्ञा आदि सब एक ही अर्थ को इंगित करने वाले हैं, पर्यायरूप है क्योंकि ये सब मतिज्ञानावरण के क्षयोपशम से उत्पन्न हुए उपयोग रूप है।

मति-स्मृति : वैसे मति ज्ञान इंद्रिय और मन की सहायता से जो वर्तमान विषयक अवग्रह-ईहा-अवाय-धारणा रूप ज्ञान होता है, उसे कहते हैं। जैसे हमने फूल को देखा और फूल विषयक प्रत्यय मस्तिष्क में जगा, फूल का भान हुआ यह मति ज्ञान है। स्मृति-पहले अनुभव की हुई वस्तु का स्मरण स्मृति है, इसलिए यह अतीत विषयक है। जैसे पहले देखे हुए फूलों की वर्तमान में फूल देखते ही याद हो आना स्मृति है।

यहाँ सूत्र मति व स्मृति में कोई भेद नहीं कर रहा है। व्यवहारिक दृष्टि से तो मति बुद्धि को कहते हैं और स्मृति पुरानी याद (memory) को, मगर यह दार्शनिक सूत्र है। दर्शन मनोविज्ञान से भी परे होता है। विज्ञान का भी विज्ञान होता है। इसे ज़रा समझें। सूत्र कहता है कि मति चित्त के चिंतन से उत्पन्न निर्णय को कहते हैं। जबकि चित्त पुरानी सूचनाओं के संचयन का एक चैत्य (ज्ञान पुंज) मात्र है। किसी भी व्यक्ति की मति का मापदंड वही होता है जो उसके दिमाग में भरी हुई भूत के अनुभवों की सूचनाएँ (स्मृति) होती है। अतः यहाँ पर मति व स्मृति को एक ही अर्थ में जानो। गहरे अर्थों में मति व स्मृति दोनों भिन्न-भिन्न होती है। मति वर्तमान विषयग्राही क्षमता है जबकि स्मृति अतीत के अनुभवों का जोड़ है। Experience of the past है। 'अनुभूति' जो संवेदना (sensation) होती है, वह वर्तमान विषयक है। किंतु संवेदनाओं में मन का past अनुभव जुड़ जाने से जो ज्ञान होता है, experience होता है, वह स्मृति है। मन के जुड़ जाने से ही रति-अरति उत्पन्न होती है।

मति-संज्ञा : संज्ञा शब्द का अर्थ होता है सं+ज्ञा = यानि सतत् ज्ञान में बने रहना, जानकारियों का चेतना में सतत् प्रवाह (sense)। अथवा दूसरे शब्दों में जानकारियों का संग्रह, संरक्षण, गणना, पहचान, तुलना एवं निर्णय चरितार्थ करना यानि कम्प्यूटरीकरण।

वर्तमान में किसी वस्तु को देखकर पहले देखी हुई वस्तु का स्मरण होना और फिर पहले देखी हुई वस्तु

का और वर्तमान वस्तु का जोड़ रूप ज्ञान होना भी संज्ञा है, इसे प्रत्यभिज्ञान भी कहते हैं। प्रत्यभिज्ञान (Recognition) अर्थात् स्मरण और प्रत्यक्ष का जोड़ रूप ज्ञान, जैसे कि फूल को देखकर कहना 'यह वही गुलाब का फूल है जिसे कल हमने देखा था।' कल की स्मृति का ज्ञान में सतत् बने रहना 'संज्ञा' कहलाता है। जो हमारे मन मस्तिष्क के कम्प्यूटर में फाईल बन कर Save हो चुकी है, वह संज्ञा है। ये संज्ञाएँ हम सबके भीतर अगणित है और इन्हीं संज्ञाओं के कारण हम प्रत्यक्ष देखे-सुने जा रहे पदार्थों की निरंतर समझ और व्याख्या करते रहते हैं। अब संज्ञा रूप मतिज्ञान जहाँ किसी भी पदार्थ की पहचान कराने में शीघ्र सहायक बनता है, वहीं किसी भी पदार्थ के निष्पक्ष अवलोकन में बाधक भी बनता है। क्योंकि यदि पूर्वग्रहित संज्ञात्मक धारणाएँ प्रतिकूल या असंवेदनात्मक है तो हम वर्तमान में भी उन-उन पदार्थों को उन्हीं रूपों में देखने का प्रयास करेंगे और तब प्रतिपल का नूतन ज्ञान हमें नहीं मिल पाएगा। इसीलिए मतिज्ञान शीघ्र ही भूतकालीन धारणाओं का संग्रह बनता जाता है और प्रत्यक्ष ज्ञान को आवरित भी कर लेता है।

मति-चिंता : चिंता (worry) भावी वस्तु की विचारणा (चिंतन) है, इसलिए वह परिचित है ही। क्योंकि जिसे देखो वह चिंता कर रहा है, भविष्य की योजनाएँ गढ़ रहा है। यह चिंता भी मतिज्ञान से ही संभव है क्योंकि जो जड़ बुद्धि है वे तो चिंता भी नहीं कर सकते। चिंतन और चिंता करने के लिए भी मति का क्षयोपशम होना आवश्यक है। अब चिंता हम दोनों तरह की कर सकते हैं। एक वह भी चिंता है जिसे न्याय शास्त्र की भाषा में तर्क (logic) कहा गया है, जैसे कि किसी चिह्न को देखकर 'यहाँ उस चिह्न वाला अवश्य होना चाहिए' इस प्रकार का विचार करना। जैसे अग्नि के नहीं होने पर धुँआ नहीं होता और जहाँ-जहाँ धूम्र होता है, वहाँ-वहाँ अग्नि अवश्य होती है, यह व्याप्ति है, ऐसा तर्क, ऊहा जिसे हो रही है वह भी चिंता है, चिंतना है। इसके अतिरिक्त जो अनागत की फिक्र है, उसका तनाव है, वह भी चिंता है। ये मतिज्ञान का भेद होते हुए भी मति को कुंठित करती है, उसकी क्षमताओं को पीड़ित करती है। समझने-कहने को तो हम कह देते हैं कि चिंता मति ज्ञान का एक भेद है। मगर प्रस्तुत सूत्र चिंता व मति को एकार्थी बता रहा है। अर्थ स्पष्ट है कि चिंता या चिंतन तभी किया जा सकता है जब चित्त हो और चित्त का अर्थ ही है कि मन के महल में भूत के बाशिंदो की भीड़, एक परिषद और भूत के बाशिंदे पुरानी जानकारियों के पुलिंदों के सिवाय कुछ नहीं होते। उनके परिषद् में जो विचार-विमर्श किया जाता है उसका अगर प्रस्ताव या निर्णय पारित हो जाता है तो चिंतन कहलाता है और विषय-वस्तु अधरझूल में लटकती रहती है तो आज की प्रचलित भाषा में उसे चिंता कहते हैं। प्रश्न उठ सकता है कि सूत्र इन अलग-अलग व्युत्पत्तिपरक शब्दों के एकार्थीपने पर क्यों ज़ोर दे रहा है ? तो कुछ चिंतन-मनन से आप जान सकते हैं कि सूत्र यह रहस्य बता देना चाहता है कि मतिज्ञान मन के भूत के अनुभवों के आधार पर स्खलित एकांगी व अल्पांगी विचारों के अलावा कुछ नहीं है। यथार्थ सत्य तो प्रत्यक्ष ज्ञान ही है।

मति-अभिनिबोध : मति के पर्यायवाची शब्दों में अंतिम शब्द है-अभिनिबोध। इस शब्द का सामान्य अर्थ है सुंदरतापूर्वक नियोजित बोध या ज्ञान। यह अपने आप में मतिज्ञान ही है। मतिज्ञानावरणीय कर्म के क्षयोपशम से होने वाले सब प्रकार के ज्ञानों के लिए अभिनिबोध शब्द सामान्य रूप से प्रयुक्त होता है और मति आदि शब्द क्षयोपशमजन्य खास-खास ज्ञानों के लिए है। नंदी सूत्र, जिससे पाँच ज्ञानों का उल्लेख मिलता है, वहाँ मति ज्ञान के लिए 'अभिनिबोधिक' शब्द ही प्रयुक्त किया गया है। सूत्र पाठ इस प्रकार है-

नाणं पंचविहं-आभिणिबोहिय् णाणं सुय् नाणं
ओहिनाणं मण् पज्जवणाणं केवल णाणं

इन पाँच नामों में अभिनिबोधिक प्रथम भेद है। इस अभिनिबोधिक यानि मति ज्ञान के पर्याय रूप 5 शब्द प्रस्तुत सूत्र में बताए गए हैं-मति, स्मृति, संज्ञा, चिंता व अभिनिबोध। नंदीसूत्र के मतिज्ञान प्रकरण गाथा 80 में और भी कुछ पद प्रयुक्त हुए हैं, जो यह गाथा कहती है-

ईहा-अपोह-वीमंसा-मग्गणा य् गवेसणा।
सन्ना सई मई पन्ना सव्वं आभिणिबोहिअं॥

ईहा, अपोह, विमर्श, मार्गणा, गवेषणा, संज्ञा, स्मृति, मति और प्रज्ञा-यह सब आभिनिबोधिक ज्ञान ही है।

इस प्रकार ये सभी शब्द मतिज्ञान के पर्याय रूप ही है। मंथन करना मन की तात्कालिक योग्यता के अनुसार कई एक तरीके से परख कर किया गया होने के कारण उसे सुंदर तरीके से नियोजित अथवा अभिनिबोध (समझा-बुझा हुआ) विचार, निर्णय या मत कहते हैं। अतः यह शब्द यहाँ नंदी सूत्र में प्रमुख रूप से प्रयुक्त हुआ है। कुल मिलाकर सारे ही शब्द मिलकर मति ज्ञान के मूल दर्शन को सटीक प्रकार से व्याख्यायित करते हैं। ठीक वैसे ही जैसे हमें कई बार अपनी बात को पुख्ता समझाने के लिये एक ही अर्थ के दो शब्दों का प्रयोग करना पड़ता है; गोया-लाज-शर्म, इज्ज़त-आबरू आदि-आदि। हम इन्हें समझकर अपने मतिज्ञान के बारे में जान सकते हैं।

सूत्र-14

मतिज्ञान कैसे होता है ?

मतिज्ञान के पर्यायवाची शब्दों से मतिज्ञान की विषय विशदता का ज्ञान हुआ है। अब, मतिज्ञान के उत्पत्ति का निमित्त क्या है ? किन कारणों से मतिज्ञान होता है, इस तथ्य को निम्न सूत्र स्पष्ट करता है कि-

सूत्र- तदिन्द्रियानिन्द्रियनिमित्तम् ॥14॥

अर्थ- मतिज्ञान इन्द्रिय और अनिन्द्रिय के निमित्त से होता है अर्थात् वह मतिज्ञान पाँचों इंद्रियों और मन की सहायता से होता है ॥14॥

विवेचन- हर कार्य का कारण होता है, यह एक निश्चित सिद्धांत है। चूंकि मतिज्ञान प्रत्यक्ष आत्मा से होने वाला ज्ञान नहीं है, वह परोक्ष ज्ञान है। तब परोक्ष के लिए तो किसी ना किसी उपकरणों की सहायता आवश्यक होती है। तब मतिज्ञान रूपी कार्य के लिए हेतुभूत कारण क्या ? मतिज्ञानावरण का क्षयोपशम प्रमुख कारण है और इंद्रिय और मन की सहायता उपकरण कारक है। अब ज़रा हम 'इंद्रिय' पद को समझ लें-

इंद्रिय- जो इंद्र की पहचान करा दे, वह इंद्रियाँ कहलाती है। इंद्र अर्थात् आत्मा। इंद्र शब्द-इंद्+रन् से बना है। 'इ' का अर्थ होता है इच्छा शक्ति अथवा योग्यता, 'न' का अर्थ होता है सतत्-लगातार गतिमान व 'द' यानि देने वाला तथा र् यानि रमण करना। चूंकि आत्मा अपनी योग्यता में अनिवृत्त रमण करता है। अतः इंद्र शब्द से यहाँ 'आत्मा' अर्थ लिया गया है। इंद्र अर्थात् आत्मा व इंद्रियाँ यानी जो आत्मा की पहचान करावे।

इस अर्थ में हम सभी इंद्र है व हमारी देह यात्रा में सहायक 'इंद्रियाँ' है। वैसे प्रचलित अर्थों में देवताओं के राजा को भी इंद्र कहते हैं। देवताओं का राजा से अर्थ है दिव्य शक्तियों का स्वामी। इस अपेक्षा से भी 'आत्मा' इंद्र ही होती है। यहाँ प्रसंगवश हम उल्लेख कर रहे हैं कि जैन लोग परस्पर अभिवादन में 'जय जिनेन्द्र' शब्द का प्रयोग करते हैं, मगर इसके आध्यात्मिक अर्थ से बहुत कम लोग वाकिफ़ है।

'जय हो' का एक अर्थ होता है, जागृति हो, जतना हो व दूसरा अर्थ होता है-जीत हो। 'जिन' शब्द का अर्थ होता है जिसने वह जान लिया हो जिसे जानने के बाद कुछ भी जानने की आवश्यकता नहीं रही एवं इंद्र का अर्थ होता है आत्मा। चूंकि ज्ञान आत्मा के अंदर ही भरा पड़ा है, अतः जिनेन्द्र का अर्थ हुआ आत्मा द्वारा अपने शुद्ध अंतर् ज्ञान को जानना। ध्यान रहे, जिसने जान लिया, समझ लो जीत लिया। इस प्रकार अभिवादन (greet) करते समय एक दूसरे को जय-जिनेन्द्र कहने का अर्थ हुआ हमारी शुद्ध-प्रबुद्ध अनंत ज्ञान की जानकार आत्मा की जय हो। सयत्न जयणामय जागृति हो। जो केवली होते हैं, उन्हें भी चरम-आप्त पुरूष (ज्ञानी) होने के कारण जिनेन्द्र

कहते हैं । मगर उनकी अब क्या जीत होगी । उनकी जीत हो चुकी । जय-जिनेन्द्र शब्द से तो हम आत्म जागृति की टकोर रूप केवली भगवंतों की भक्ति व गुणानुवाद करते हैं ।

खैर ! जिनसे आत्मा के अस्तित्व को पहचाना जाता है, उसे इंद्रिय (senses) कहते हैं । ये इंद्रियाँ पांच है-श्रोतइंद्रिय, चक्षुइंद्रिय, घ्राणइंद्रिय, रसनाइंद्रिय और स्पर्शनइंद्रिय । इनके विषय भी क्रम से पाँच है । स्पर्श, रस, गंध, वर्ण और शब्द । इन पाँचों को ही अपने-अपने विषयों का जो ज्ञान होता है, उसको इंद्रिय निमित्तक ज्ञान कहते हैं । सर्वप्रथम ये इंद्रियाँ ही किसी भी विषय को ग्रहण करती है और तब ग्रहीत विषय को तंत्रिका तंत्र (nervous system) द्वारा मन तक सूचनाएँ भेजती है । अब जब मन उन सूचनाओं को ग्रहण करता है और व्याख्यायित करता है तब उसका ज्ञान होना कहलाता है । जब तक मन इंद्रिय विषयों से नहीं जुड़ता, तब तक ज्ञान होना नहीं कहलाता, क्योंकि आँख देखती तो सब कुछ है किंतु जिस पर मन टिकता है उसी का ज्ञान आँख द्वारा हमें होता है । ठीक इसी प्रकार कान में एक ही साथ अनेक ध्वनि तरंगें टकराती है किंतु मन जिसे ग्रहण कर व्याख्यायित करता है, उसी का ज्ञान हमें होता है । अतः इंद्रिय और अनिन्द्रिय दोनों का योग होने पर ही मतिज्ञान होता है । चक्षु आदि बाह्य साधन रूप है और मन आभ्यंतर साधन है, यही भेद इंद्रिय और अनिन्द्रिय संज्ञाभेद का कारण है ।

एक अन्य अपेक्षा से मन भी आत्मा न होकर आत्मा का अधीनस्थ एक पौद्गलिक विभाग मात्र है । जीव की पाँचों इंद्रियाँ चूंकि मन की अधीनस्थ कर्मचारी होती है, अतः प्रगट रूप से इंद्रियों के मालिक मन को भी इन्द्र कहते हैं । अतः मन के सहयोगी पाँच विभाग सूचनाओं का आदान-प्रदान मन को, मन के लिए व मन के आदेशों से करते हैं, जिससे मन रूपी कम्प्यूटर गणित करके प्रज्ञा प्राप्त करता है । इस सारी प्रक्रिया में जीव को पाँचों इंद्रिय व छठे मन के माध्यम से व्यवहारिक विज्ञान प्राप्त होता है । पाँचों इंद्रियों को इंद्रिय व मन को अनिन्द्रिय समझ कर यह सूत्र कहता है कि मति ज्ञान इंद्रिय व अनिन्द्रिय के माध्यम से होता है अर्थात् शरीर व मन के माध्यम से होता है । शरीर में पाँचों इंद्रियाँ समाहित है यथा-कान, आँख, नाक, रसना व स्पर्शन (त्वचा) तथा मन जो दिखलाई नहीं पड़ता किंतु इन पाँचों का संचालन करता है ।

जिनके पास एक, दो, तीन यावत् पाँचों ही इंद्रियाँ है, उन्हें मतिज्ञान होता है । मन रहित असंज्ञी जीवों में भी मतिज्ञान रूप उपयोग होता है । किंतु वह अविकसित अवस्था वाला है । वहाँ असंज्ञी जीवों में भी भाव मन तो होता ही है, जीव मात्र की नैसर्गिक संज्ञाएँ यथा आहारेच्छा, भयाकुलता, प्रजनन इच्छा तो वहाँ भी पाई ही जाती है । अतः मतिज्ञान सभी सांसारिक जीवों में भिन्न-भिन्न क्षयोपशम वाला होता है, किंतु होता अवश्य है । समनस्क पंचेन्द्रिय में सम्यग्दर्शन हो तो यह मति रूप उपयोग 'ज्ञान' कहलाता है अन्यथा अज्ञान होता है । तब इसे मति अज्ञान कहते हैं । मति अज्ञान अर्थात् मति का असम्यक् रूप होना । मति का अभाव मति अज्ञान नहीं है किंतु मति का सम्यक् परिणमन न होना मति 'अज्ञान' है । मति 'ज्ञान' रूप हो पाए इसके लिए मति के भेदों को समझना भी ज़रूरी है, उपयोगी है । इसीलिए वाचक उमास्वाति जी अगले सूत्रों में मति के भेदों का उल्लेख करते हैं ।

सूत्र-15

मतिज्ञान के भेद-1

मतिज्ञान की उत्पत्ति के कारणों को जानने के पश्चात् अब हम मतिज्ञान के चार भेदों को समझने का प्रयास करेंगे। सूत्र कहता है कि-

सूत्र- अवग्रहेहाऽवायधारणाः ॥15॥

अर्थ- मतिज्ञान के अवग्रह, ईहा, अवाय और धारणा-ये क्रमशः चार मुख्य भेद हैं ॥15॥

विवेचन- मतिज्ञान पाँच इंद्रिय और एक मन की सहायता से होता है। इन छहों प्रकार से होने वाले मतिज्ञान के उपरोक्त अवग्रह-ईहा-अवाय और धारणा ये चार-चार भेद हैं। इस प्रकार मतिज्ञान के ये चौबीस भेद हुए।

1. अवग्रहः (perception) -किसी भी विषय के साथ इंद्रिय और मन का संबंध होते ही जो सामान्य ग्रहण रूप ज्ञान होता है, उसे 'अवग्रह' कहते हैं। यह दर्शन के अनंतर होने वाला प्रथम सामान्य मात्र का ग्राही होता है। जैसे गाढ़ अंधकार में कुछ छू जाने पर यह ज्ञान होता है कि कुछ है। इस ज्ञान में ये मालूम नहीं होता है कि नाम, जाति आदि की अपेक्षा विशेष से क्या पहचान है।

2. ईहाः (conception) -अवग्रह के द्वारा ग्रहण किए हुए सामान्य विषय को विशेष रूप से निश्चित करने के लिए जो विचारणा होती है, वह ईहा है। जैसे-यह रस्सी का स्पर्श है या साँप का, यह संशय होने पर ऐसी विचारणा होती है कि यह रस्सी का स्पर्श होना चाहिए, क्योंकि यदि साँप होता तो इतना स्पर्श होने पर फुफकारे बिना नहीं रहता, यही विचारणा ईहा है। ईहा ज्ञान से एक समय पूर्व संशय यानि जिज्ञासा उत्पन्न होती है और तब उस संशय को दूर करते हुए सत्यांशों की ओर झुका हुआ अभिलाष रूप में ज्ञान ईहा है।

3. अवायः (judgement) -विशेष चिह्नों द्वारा यथार्थ वस्तु का निर्णय कर लेना अवाय है। यह एक तरह की निश्चयात्मक मानसिक अवस्था है। जैसे, कुछ काल तक सोचने और जाँच करने के पश्चात् यह निश्चय हो जाना कि यह साँप का स्पर्श नहीं, रस्सी का ही है, इसे अवाय कहते हैं।

4. धारणाः (retention) -अवाय से जानी हुई वस्तु को कालांतर में भी नहीं भूलना धारणा है। अवायरूप

निश्चय कुछ काल तक कायम रहता है, फिर मन के विषयांतर में चले जाने से वह निश्चय लुप्त तो हो जाता है पर ऐसा संस्कार छोड़ जाता है कि आगे कभी योग्य निमित्त मिलने पर उसे निश्चित विषय का स्मरण हो आता है। इस निश्चय की सतत् धारा, तद्जन्य संस्कार और संस्कारजन्य स्मरण-यह सब मति व्यापार धारणा कहलाता है। यह धारणा प्रत्येक व्यक्ति की अपने-अपने क्षयोपशम के अनुसार अलग-अलग होती है। इस धारणा की अधिक क्षमता वाले व्यक्ति बुद्धिमान, विद्वान, चतुर, कुशल, high I Q वाले कहलाते हैं तथा जिनमें यह धारणा अल्प बनती है वे कम बुद्धिमान कहलाते हैं।

मतिज्ञान के ये चारों भेद क्रमशः उत्पन्न होते हैं, पूर्व-पूर्व की अपेक्षा उत्तरोत्तर ये शुद्ध होते हैं। अर्थात् अवग्रह से ईहा शुद्ध रूप है, ईहा से अवाय और अवाय से धारणा क्रमशः अधिक शुद्ध रूप है। ये चारों भेद हर विषय-वस्तु के ज्ञान के साथ होते ही हैं। चाहे ज्ञान का विषय 'स्व' (निजआत्मा) हो अथवा 'पर' (पुद्गल विषय) हो, ये चारों भेद तो मतिज्ञान के साथ होंगे ही। मतिज्ञान अर्थात् मननात्मक ज्ञान के अभाव में स्व-पर किसी विषय का ज्ञान नहीं हो सकता है। आत्मज्ञान के विषय में अवग्रहादि-पर-पदार्थ से लक्ष्य हटाकर मन और बुद्धि को आत्म सम्मुख करने से जो ज्ञातारूप सामान्य ज्ञान होता है, वह अवग्रह है। विशेष अनुभव रमण की झलक आदि महसूस करना ईहा है। आनंद चिह्न के द्वारा ज्ञाता रूप अनुभव होना 'यही आत्मा है', सो अवाय है और ऐसे ज्ञातामयी आनंद को न भूलना, सो धारणा है। मतिज्ञान ज्ञान तो अवश्य है मगर परोक्ष ज्ञान होने की वजह से सर्वथा शुद्ध ज्ञान नहीं होता, ना ही वैयक्तिक का ज्ञान होता है। यह प्रचलित भाषा व संचित संस्कारों के आधार पर होता है। यह लोक अनेकांत है। मतिज्ञान तो मात्र एक या कुछ जाने-समझे आयामों के आधार पर ही प्रकाशित होता है। जिनके मतिज्ञान में अवग्रह-ईहा-अवाय-धारणा आदि चारों की समझ स्पष्ट व स्पष्टतर होती है, जिन्हें बोधपूर्वक इन चारों से गुज़रना आता है, उनकी समझ भवों-भवों तक उनके साथ रहती है। कम्प्यूटर की Programming की तरह मति की Programming महत्वपूर्ण है, न कि Data Collection. Data यानि सूचनाओं का संग्रहण किसी भी दिन विस्मृत हो सकता है किंतु Programming सदा उपयोगी रहती है। वह हमारे भीतर युगों-युगों तक रहती है।

सूत्र-16

मतिज्ञान के भेद - 2

मतिज्ञान जिस प्रकार से अपने विषयों को ग्रहण करता है, उस आधार पर उसके मुख्यतः चार भेदों की चर्चा हम पूर्व में कर चुके हैं, अब हम मतिज्ञान के उत्तर भेदों को इस सूत्र के माध्यम से जानेंगे-

सूत्र- बहु-बहुविध-क्षिप्रानिश्रिताऽसंदिग्ध ध्रुवाणां सेतराणाम् ॥16॥

अर्थ- प्रतिपक्ष सहित बहु, बहुविध, क्षिप्र, अनिश्रित, असंदिग्ध और ध्रुव रूप में अवग्रह, ईहा, अवाय, धारणारूप मतिज्ञान होता है ॥16॥

विवेचन- पाँच इंद्रियाँ और मन-इन छह साधनों से होने वाले मतिज्ञान के अवग्रह, ईहा आदि इन चार प्रकार से चौबीस भेद हम पिछले सूत्र में बता चुके हैं। ये चौबीस भेदरूप जो मतिज्ञान है, वही क्षयोपशम और विषय की विविधता से बारह-बारह प्रकार का इस सूत्र में बताया गया है। छह प्रकार अपने विपरीत स्वरूप सहित 12 प्रकार के हो गए हैं-बहु, अल्प, बहुविध, अल्पविध, क्षिप्र, अक्षिप्र, अनिश्रित, निश्रित, असंदिग्ध, संदिग्ध, ध्रुव व अध्रुव।

इन बारह प्रकारों के साथ पूर्वोक्त 24 प्रकार के मतिज्ञान को गुणित करने पर (12X24=288) कुल 288 भेद हुए। अब हम इन 12 भेदों के स्वरूप को समझने का प्रयास करेंगे।

1-2. बहु-अल्पः बहु अर्थात् अनेक और अल्प यानि एक अथवा कम। जैसे दो या दो से अधिक विषयों को पाँच इंद्रिय एवं मन के द्वारा एक साथ ग्रहण करना 'बहु' प्रकार का मतिज्ञान है एवं इसके विपरीत अल्प विषय को ग्रहण करने वाला अवग्रह, ईहा रूप चार प्रकार का क्रमभावी मतिज्ञान अल्पग्राही अवग्रह, अल्प-ग्राहिणी ईहा, अल्पग्राही अवाय और अल्पग्राहिणी धारणा कहलाती है। उदाहरण के लिए गेहूँ का ढेर देखकर मात्र गेहूँ का ज्ञान होना 'अल्प' मतिज्ञान रूप है। उसके बारे में अन्य कई सारी विशेषताओं का ज्ञान होना जैसे कि यह शरबती गेहूँ है, इसका विशेष स्वाद व उपयोग है, आदि-आदि बहु मतिज्ञान है।

3-4. बहुविध-अल्पविधः बहुत तरह की वस्तुओं को ग्रहण करने को बहुविध एवं एक ही तरह की वस्तुओं को ग्रहण करने वाले मतिज्ञान को अल्पविध कहते हैं। उदाहरण के लिए आकार-प्रकार, रूप-रंग, मोटाई आदि में विविधता रखने वाली वस्तुओं को जानने वाले उक्त चारों ज्ञान बहुविध ग्राही अवग्रह, बहुविधग्राहिणी ईहा आदि

कहलाते हैं। बहु तथा अल्प (भेद संख्या 1-2) का अभिप्राय जानने योग्य विषय, रूप, जाति की संख्या से है तथा बहुविध-एकविध (भेद संख्या 3-4) का अभिप्राय प्रकार, किस्म या जाति की संख्या से है। यहीं दोनों में अंतर है। बहुविध से अभिप्राय है कि विषय-वस्तु को अलग-अलग व बहुत सारी विधाओं से जानना। जैसे, एक जीव पुरूष है, यह एक विधा हुई। यह पुरूष पति भी है, पिता भी है, संघ का अध्यक्ष है, उद्योगपति है, मृदुभाषी है आदि-आदि कई विधाओं से ज्ञान होना बहुविध व कम जानकारी होना अल्प विधज्ञान है।

5-6. क्षिप्र-अक्षिप्रः शीघ्रता से पदार्थ को जानने वाला उपयोग रूप मति ज्ञान क्षिप्रग्राही मतिज्ञान (grasping power) है एवं विलंब से जानने वाले को अक्षिप्रग्राही अवग्रह आदि कहते हैं। जैसे, एक बालक एक बार सुनकर ही अथवा देखकर ही विषय-वस्तु को कंठस्थ कर लेता है, स्मृति में रख लेता है तो दूसरा बालक ऐसा बार-बार करने पर याद कर पाता है। ये दोनों भेद क्षयोपशम की पटुता अथवा मंदता के कारण होते हैं। क्षिप्र का अर्थ होता है शीघ्र। एक व्यक्ति विषय को दूरभाष से ही समझ लेता है। बात पूरी होने से पहले ही उसे समझ में आ जाती है तो एक व्यक्ति चेहरे के हाव-भाव अथवा बंद लिफाफे को देखकर ही मजमून भाँप जाता है। एक व्यक्ति विषय-वस्तु को स्पर्श मात्र से (जानकर) ही समझ पाता है तो दूसरे व्यक्ति को वही सब कुछ खूब समझाने पर भी धीरे-धीरे समझ में आता है।

7-8. निश्रित-अनिश्रितः वस्तु के प्रकट रूप को जानना निश्रित मतिज्ञान है। जैसे जंगल में हाथी को देखकर उसे हाथी रूप जानना निश्रित मतिज्ञान है किंतु वस्तु के एक भाग को देखकर पूरी वस्तु को जान लेना अनिश्रित मतिज्ञान है। जैसे, जल में डूबे हुए हाथी की सूंड को देखकर हाथी को जान लेना अनिश्रित या अनिःसृत मतिज्ञान है।

9-10. संदिग्ध-असंदिग्धः संदिग्ध अर्थात् अनिश्चित और असंदिग्ध अर्थात् निश्चित। किसी भी विषय-वस्तु को बिना किसी संदेह के जानना असंदिग्ध ज्ञान है तथा संदेह, शंकायुक्त रहना संदिग्ध मतिज्ञान है। जैसे कि 'वेशभूषा से तो ये जैन साधु लगते हैं, अब पता नहीं सच क्या है' यह संदिग्ध मतिज्ञान है।

11-12. ध्रुव-अध्रुवः अवस्थित विषय-वस्तु को ग्रहण करने वाला ज्ञान अथवा अवश्य रूप से जानने वाला ज्ञान ध्रुव मतिज्ञान है तथा अनवस्थित, परिवर्तनशील, विषय-वस्तु को ग्रहण करने वाला अथवा कदाचित् भावी (कभी ग्रहण करने वाला, कभी नहीं करने वाला) ज्ञान अध्रुवग्राही मतिज्ञान है। उदाहरण के लिए चंचल बिजली वगैरह को जानना अध्रुव ज्ञान है और स्थिर रेगिस्तान को देखना ध्रुवग्राही मतिज्ञान है-ऐसा टीकाकारों का मत है। हमारे अनुसार वह ज्ञान जो जानने के बाद स्मृति संज्ञा में सतत् बना रहता है-ध्रुव होता है। जैसे ये हमारे पिताजी है; और वह ज्ञान जो जानकारी के कुछ समय पश्चात् लुप्त हो जाता है, अध्रुव कहलाता है। जैसे किसी ने अपने संबंधी को कई वर्ष पूर्व देखा था मगर अब पहचान पाना मुश्किल हो रहा है। उपरोक्त 12 भेदों में प्रारंभ में छह भेद मतिज्ञानावरण कर्म के क्षयोपशम की अधिकता से होते हैं। और अल्प, अल्पविध आदि भेद कम क्षयोपशम की अपेक्षा से होते हैं। मतिज्ञान के अवग्रह-ईहा-अवाय-धारणा रूप ये चार भेद जानने रूप क्रिया के भेद हैं (process of mati gyan) तथा बहु-बहुविध आदि 12 भेद उसके कर्म (various methods of mati gyan) है।

सूत्र-17

मतिज्ञान का विषय - 1

मतिज्ञान के अवग्रह, ईहा, अवाय और धारणा के ये चार भेद विषय को क्रमशः ग्रहण करने की अपेक्षा से थे। इसका वर्णन हम पन्द्रहवें सूत्र में कर चुके हैं। तत्पश्चात् 16वें सूत्र में हमने मतिज्ञान द्वारा जाने जा रहे विषय की विविधता एवं उसे ग्रहण करने की भिन्न-भिन्न मान्यताओं के आधार से बारह भेदों को समझा। ये बारह भेद मतिज्ञानावरण के क्षयोपशम की विविधता से होते हैं। इन 12 प्रकार के भेदों द्वारा किस विषय को ग्रहण किया जाता है। बहु-बहुविध आदि विशेषण किस विशेष्य के हैं, ये बतलाने के लिए आगे सूत्र कहता है कि-

सूत्र- अर्थस्य ॥17॥

अर्थ- अवग्रह आदि मतिज्ञान के जो भेद हैं, वे अर्थ के हुआ करते हैं ॥17॥

विवेचन- ये चारों मतिज्ञान अर्थ (वस्तु) को ग्रहण करते हैं। अर्थ अर्थात् वस्तु। चक्षु, घ्राण, रसना आदि इंद्रियों के विषय को अर्थ कहते हैं। बहु-बहुविध आदि बारह प्रकार के विशेषणों से युक्त उस अर्थ (वस्तु, पदार्थ) के अवग्रह आदि चारों प्रकार का मतिज्ञान होता है।

यहाँ पर यह शंका हो सकती है कि पूर्व सूत्र में जो बहु-बहुविध आदि विशेषण बताए गए हैं, वे किसी-ना-किसी विशेष्य के तो होंगे ही और विशेष्य जो होगा वह पदार्थ ही होगा, अतएव ये अर्थ (पदार्थ) के विशेषण हैं-यह बताने के लिए इस सूत्र की क्या आवश्यकता है। इसका उत्तर यह है कि कुछ मान्यताएँ ऐसी भी है जो ज्ञान का साक्षात् विषय 'पदार्थ' (वस्तु) को नहीं मानती है, किंतु ज्ञान का साक्षात् विषय विशेषण को ही मानती है। विशेषण अर्थात् गुण। जो पदार्थ की विशेषता बतलाए, वह विशेषण है। जैसे जीव की विशेषता उसका चेतना लक्षण है, ज्ञान आदि गुण है। जिसमें ज्ञान दर्शन आदि गुण है, वह जीव है। गुण कभी गुणी से अलग नहीं होते। इसी कारण कई लोग विशेषण को यानि गुण को ही पदार्थ कहते हैं किन्तु ज्ञान में विशेष्य-विशेषण एक साथ ही विषय होते हैं क्योंकि दोनों में कथंचित् अभेद है। जब हम मतिज्ञान से किसी भी पदार्थ को देखते हैं, तब हम विशेष्य और विशेषण दोनों को एक साथ जानते हैं। गुण और गुणी दोनों ही ज्ञान का विषय बनते हैं। एक-दूसरे को सर्वथा छोड़कर मतिज्ञान का विषय नहीं हो सकता। अतएव विशेषण (गुण, adjective) के साथ-साथ विशेष्य रूप पदार्थ भी विषय होता ही है, यह बताना ही इस सूत्र का प्रयोजन है और इसीलिए यहाँ पर यह कहा है कि मतिज्ञान के अवग्रहादिक भेद 'अर्थ' (पदार्थ, substance) के हुआ करते हैं।

हमारे अनुसार यहाँ सूत्रकार का कहना है कि यथावत् ज्ञान तो कैवल्य ही है। किंतु हम यहाँ मतिज्ञान के विषय में बात कर रहे हैं और यह मतिज्ञान अवग्रह, ईहा, अवाय, धारणा रूप चार प्रकार का भले हो। यह चार

प्रकार आगे भले ही बारह प्रकार में विभक्त होते हो मगर मूल रूप में इतना सब होते हुए भी यथार्थ की अभिव्यक्ति स्याद्वाद ही हो सकती है। क्योंकि समझ के अनुसार ही यथार्थ अनेकांत (multidimensional) है और कोई भी व्यक्ति अनेकांत के अनेक विषयों को एक साथ ग्रहण नहीं कर सकता। एक साथ में ग्रहण भले न करे मगर आवश्यक नहीं है कि वह बाद में भी ग्रहण न करे। अतः सूत्र कहता है कि यह सब ज्ञान अर्थस्य होता है, जीव अपने-अपने मतलब से ज्ञान ग्रहण करता है। इसे हम इस प्रकार कह सकते हैं कि-

इंद्रियाँ इस संसार में सबको समझ दे। जिसका जैसा प्रयोजन, वैसी बीन बजे।।

इस प्रकार कई भेदों वाला यह मतिज्ञान हर जीव के अपने-अपने प्रयोजन का होता है। यह सृष्टि अनेकांत है, जीव अपनी-अपनी अनुकूलता अथवा प्रतिकूलतापरक समझ के अनुसार अर्थात् 'अर्थस्य' ज्ञान को ग्रहण करता है। ऐसा कहा भी गया है कि One is responsible for what he speaks, but not for what is understood by the other one. क्योंकि समझ सबकी अपनी ही तरह की है। 'अर्थ' शब्द के संस्कृत व्याकरण कई अर्थ बताती है। जैसे कि 'अर्थ' शब्द का अर्थ होता है-धन, दौलत, वैभव। अतः जीव अपनी इंद्रियों से एवं मन की समझ से अपने-अपने वैभव की मान्यताओं के अनुकूल ही प्रत्यक्ष घटनाओं को अपने-अपने अर्थों के अनुसार ग्रहण करता है। जैसे कि साधु को लाउडस्पीकर पर नहीं बोलना चाहिए अथवा बोलना चाहिए। एक साधु पुरानी परिपाटी में यश-वैभव ढूँढता है, अतः नहीं बोलने के पक्ष में उस अर्थ में हो जाता है। एक साधु जीववाद अथवा किसी विशेष साधना के सम्मान में वैभव ढूँढता है, अतः वह भी न बोलने के पक्ष में हो जाता है। एक व्यक्ति सुविधाभोग एवं असुविधाभोग के आधार पर आंकलन करता है और लाउडस्पीकर को प्रयोग में न लेने के पक्ष के अर्थों को ग्रहण करता है। एक व्यक्ति लाउडस्पीकर के माध्यम को प्रचार के साधन के रूप में ग्रहण करता है एवं प्रचार में उसे वैभव प्रतीत होता है, अतः बोलने के पक्ष को प्राप्त करता है। एक व्यक्ति लाउडस्पीकर को ज्ञान देशना का अच्छा माध्यम समझता है एवं उसमें उसे पुण्य का वैभव दिखाई देता है, लोगों का जीवन सुधरते हुए दिखाई देता है, अतः वह इस घटना के पक्ष को प्राप्त होता है। इस प्रकार एक ही घटना 'अर्थस्य' के अलग-अलग रूप को प्राप्त होती है। इसलिए उसे 'स्यात्' कहा जा सकता है।

अर्थस्य का अर्थ ही होता है स्यात्, अपेक्षाकृत (Relative), इस अर्थ में सूत्र के मूल में जावें तो जो हमने लाउडस्पीकर का उदाहरण दिया है, उस उदाहरण का कोई महत्व नहीं है। महत्व है उसके गूढ़ार्थ का।

यह सूत्र हकीकत में यह बताता है कि मतिज्ञान निश्चय ज्ञान है ही नहीं और मतिज्ञान श्रुतज्ञान की तरह सामाजिक ज्ञान भी नहीं हो सकता। यह तो निहायत ही वैयक्तिक ज्ञान है। सूत्र बताता है कि समझ हर जीव की अलग-अलग हो सकती है, भले ही साधना प्रणाली, परिपाटी और शाब्दिक समझ एक ही हो। मतलब श्रुत ज्ञान सामाजिक हो सकता है क्योंकि श्रुत ज्ञान एक दूसरे को समझाने का तरीका है, माध्यम है जबकि मतिज्ञान व्यक्तिगत समझ है। इसे ऐसे भी कह सकते हैं कि 'मति ज्ञान subjective है और श्रुत ज्ञान objective है क्योंकि श्रुत ज्ञान में सामने कोई object होता है। जब हम किसी बात को शब्दों के माध्यम से, श्रुत के माध्यम से समझना चाहते हैं तो हमें हर समझ के लिए किसी-न-किसी मापदण्ड या parameter की आवश्यकता होगी, एक scale की आवश्यकता होगी, जो सामाजिक होगा। जैसे कि 'यह लाल रंग है', श्रुत ज्ञान के अनुसार हर आदमी को लाल शब्द मापदण्ड के रूप में रटा दिया जाएगा, मगर मतिज्ञान के हिसाब से हर जीव अपने अर्थों में लाल रंग को अनुभव करेगा। यह सारी बात वैचारिक (conceptual) ही है ऐसा नहीं है, वैज्ञानिकों ने प्रयोग करके यह भी पता लगाया है कि अलग-अलग परिस्थितियों में अलग-अलग मानसिक स्तरों पर अलग-अलग जीव अलग-अलग

रंगों को अपने हिसाब से समझते हैं एवं निर्देश प्राप्त करते हैं। कुछ जीव, जैसे कि साँपों की विशेष जाति अथवा साँड आदि लाल रंग को देखकर आक्रामक अर्थों को अर्थात् मूल्यों को ग्रहण करते हैं। जबकि कुछ जीव लाल रंग में आनंद ग्रहण करते हैं। जैसे शादी का जोड़ा अक्सर लाल रंग का पहना जाता रहा है। इस प्रकार मतिज्ञान अर्थस्य हो जाता है।

दूसरी बात, मतिज्ञान एवं केवलज्ञान दोनों वैयक्तिक है जबकि श्रुतज्ञान और अवधिज्ञान सामाजिक है जिनका वर्णन हम आगे करेंगे। बस फर्क इतना ही है कि मतिज्ञान विभंग होता है, टुकड़ा-टुकड़ा सोच होता है, जीव अपने मतलब के अनुसार ग्रहण करता है और उस विषय के विशेष आयामों को ही ग्रहण करता है। जबकि केवलज्ञान अभंग होता है, उसमें सोच नाम की कोई चीज़ होती ही नहीं, फिर भी एक केवली व्यवहार में जब शिष्य आदि संघ के साथ विचरता है तो मति और श्रुतज्ञान की सहायता से ही लोगों को समझता है। अतः वह व्यवहारिक सत्य ही होता है। उस समय के प्रश्न-विषय एवं केवली के तात्कालिक प्रज्ञान के अनुरूप ही होता है। आवश्यक नहीं है कि केवली हर प्रश्न का उत्तर कई-कई कोणों से व्याख्यायित करे, अगर कोई ऐसा करे भी, तो बखेड़ा खड़ा हो जाएगा। यदि वह केवली ज़िंदगी भर एक ही प्रश्न के विषय में बोलते रहें तो भी संभव है कि बात खत्म ही न हो। अतः सूत्रकार ने कहा है कि मति ज्ञान अर्थस्य होता है।

अर्थ का एक अन्य अर्थ करते हैं-पदार्थ का एन्द्रिक ज्ञान। इस अपेक्षा से सूत्र कहता है कि मतिज्ञान का अर्थ केवल इतना है कि इंद्रियों और मन की सहायता से जीव द्वारा ग्रहण की गई पदार्थ के बारे में जानकारी, जो हर जीव अपनी योग्यता के अनुसार ग्रहण करता है, संपूर्ण नहीं। इस प्रकार जहाँ केवलज्ञान त्रिकाल समय का ज्ञान होता है, वहीं मतिज्ञान आकाश Space में स्थित पदार्थ का ज्ञान होता है। 'अर्थ' शब्द के अर्थ के रूप में कुछ पंडित इंद्रियों के पाँच रूप को ग्रहण करते हैं। इस अपेक्षा से 'अर्थस्य' का अर्थ होता है कि मतिज्ञान का विषय पाँच इंद्रियाँ और मन ही है जबकि अवधिज्ञान, मनःपर्यव और केवलज्ञान अतीन्द्रिय है। अर्थ शब्द का संस्कृत व्याकरण काम अथवा इष्ट अर्थ भी करता है। जिसका विवेचन हम पहले ही कर चुके हैं कि जीव अपने-अपने काम अथवा इष्ट के अनुकूल संबंधित पदार्थ अथवा पुद्गल के ज्ञान को प्राप्त होता है।

अर्थ शब्द का अर्थ होता है-हेतु अथवा निमित्त और यह सूत्र कहता है कि वस्तु का क्या गुण है, कैसा गुण है और कितने गुण है, वह अलग बात है किंतु जब-जब जैसा हेतु अथवा निमित्त होता है, जीव वैसा ही अर्थ ग्रहण करता है। जैसे विजयकुमार ने कुछ मित्रों को चाय ऑफर की, एक व्यक्ति ने यह अर्थ ग्रहण किया कि यह तो बदमाश आदमी है इसलिए ज़रूर चाय में ज़हर मिलाकर पिला रहा होगा, वरना यह कंजूस पैसे क्यों खर्च करता ? दूसरे व्यक्ति ने यह अर्थ लिया कि आज तो होटल का खर्च बचा, हमें तो मुफ्त में चाय मिल रही है। तीसरे व्यक्ति ने सोचा मेरा भी कुछ प्रभाव है, तभी ये हमें चाय पिला रहा है अन्यथा अपने पड़ौसी को भी ना पिलावे। चौथे व्यक्ति ने अपनी मति का हेतु निमित्त से प्रयोग किया कि आज यह चाय पिला रहा है, ज़रूर इसमें कुछ-न-कुछ चाल है, यह मुझसे कुछ ज्यादा वसूली करना चाहता है। मुझे सावचेत रहना चाहिए। पाँचवे व्यक्ति ने सोचा कि ये उधारी है, सामाजिक लेन-देन का व्यवहार है, जब ये हमारे घर आएगा तब हम इसे चाय पिला देंगे, सौदा बराबर हो जाएगा। छठे आदमी के साथ में उसका पुत्र भी था, तो निमित्त में बदलाव आने से उसका सोच भी बदला हुआ था। वह अपने पुत्र को समझा रहा था कि इसको कहते हैं व्यवहार ! लोगों का आदर करो, आए-गए को चाय पिलाओ और अपना काम निकालो-यही दुनियादारी है। खाइए, खिलाइए और अपनी तूती बजाइए। उदाहरण तो और भी कई दिए जा सकते हैं, आप स्वयं समझ सकते हैं। सूत्र इतना ही कहता है कि मतिज्ञान अर्थस्य होता है।

सूत्र-18

मतिज्ञान का विषय - 2

पूर्व सूत्र में हमने 'अर्थ' के बारे में जाना। मतिज्ञान अर्थ का ही होता है, वह पदार्थ को उसकी पर्यायों से जानता है। ये पर्याय (changeable forms) भी अर्थ रूप ही है। इन्द्रिय और मन से होने वाला मतिज्ञान पर्याय को ही ग्रहण करता है, संपूर्ण द्रव्य को नहीं। किन्तु यह ग्रहण भी दो तरह से होता है-एक व्यक्त और दूसरा अव्यक्त। व्यक्त को तो 'अर्थ' कहते हैं क्योंकि उसकी आकृति होती है, उसकी समझ बनती है, जबकि अव्यक्त को व्यंजन कहते हैं क्योंकि वह आकाररहित, विशेषतारहित होता है। अब निम्न सूत्र में उस अव्यक्त को समझाया गया है-

सूत्र- व्यंञ्जनस्याऽवग्रह : ॥18॥

अर्थ- व्यंञ्जन का अवग्रह होता है ॥18॥

विवेचन- अव्यक्त अथवा अप्रगट विषयों (पदार्थों) का मात्र अवग्रह ही होता है। कहने का तात्पर्य है कि व्यंजन पदार्थ का अवग्रह ही होता है, ईहाआदिक नहीं होते। इस प्रकार से अवग्रह तो, दोनों ही प्रकार के पदार्थ का हुआ करता है, व्यंजन का भी और अर्थ का भी, जिनको कि क्रम से व्यंजनावग्रह तथा अर्थावग्रह कहते हैं। ईहा आदि मतिज्ञान के शेष तीन भेद अर्थ के ही होते हैं, व्यंजन के नहीं होते।

व्यंजन (abstract) का मात्र अवग्रह ही होता है, ऐसा क्यों ? क्योंकि व्यंजन का अर्थ है अव्यक्त ज्ञान, मात्र कुछ है, ऐसा आभास और अवग्रह का विषय भी यही है। अवग्रह भी 'सामान्य बोध' को ही ग्रहण करता है, विशेष जानने की इच्छा प्रारंभ होते ही तो ईहा आदिक भेद बन जाते हैं।

उदाहरण के लिए जैसे श्रोतइन्द्रिय में एक हल्की सी आवाज़ का मामूली भान होकर रह गया। इसके बाद फिर कुछ भी नहीं जान पड़ा कि क्या था ? ऐसी अवस्था में केवल व्यंजनावग्रह होकर ही रह जाता है। किन्तु यदि धीरे-धीरे यह आवाज़ स्पष्ट हो जाती है तो व्यंजनावग्रह के बाद ईहा आदि ज्ञान भी होते हैं, अतः अस्पष्ट पदार्थ का केवल अवग्रह ज्ञान ही होता है और स्पष्ट पदार्थ के चारों ज्ञान होते हैं।

इसे एक 'मिट्टी के सकोरे' के दृष्टांत से भी समझा जा सकता है। यदि भट्टे में से तुरन्त निकाले हुए अति रूक्ष सकोरे में पानी की एक बूँद भी डाली जाय तो सकोरा उसे तुरन्त ही सोख लेता है, यहाँ तक कि उसका अस्तित्त्व ही नज़र नहीं आता। इसी तरह आगे भी एक - एक कर डाली गई अनेक जल बूँदों को वह सकोरा सोख लेता है। अन्त में एक ऐसा समय आता है जब कि वह जल बूँदों को सोखने में असमर्थ होकर उनसे भीग जाता है और उसमें डाले हुए जलकण समूह रूप में इकट्ठे होकर दिखाई देने लगते हैं। सकोरे की आर्द्रता पहले-पहल जब मालूम होती है, उससे पूर्व भी उसमें जल था, पर उसने जल को इस तरह सोख लिया था कि जल के बिल्कुल

तिरोभूत हो जाने से वह दृष्टि में आने जैसा नहीं था, पर सकोरे में मौजूद अवश्य था। इस अव्यक्त उपस्थिति को ग्रहण करने वाले को व्यंजनावग्रह कहते हैं। इसी तरह श्रोत आदि इंद्रियों द्वारा ग्रहण किए गए शब्दादिरूप पुद्गल स्कंध दो-तीन समयों में व्यक्त नहीं होते हैं; किन्तु पुनः-पुनः ग्रहण होने पर वे व्यक्त हो जाते हैं। इससे सिद्ध हुआ कि व्यक्त ग्रहण से पहले व्यंजनावग्रह होता है और व्यक्तग्रहण का नाम अर्थावग्रह है। यही कारण है कि अव्यक्त ग्रहण के ईहादिक नहीं होते। मात्र अवग्रह ही होता है।

सूत्र-19

मतिज्ञान का विषय – 3

जब तक जीव संसारी अवस्था में कर्माधीन जी रहा है, तब तक उसकी चेतन शक्तियाँ आवृत्त रहती है। वह अपनी शक्तियों को खंडित कर चुका है। चेतना की सूचनाएँ प्राप्त करने की क्षमता पाँच इन्द्रिय एवं मन इन छः वैशाखियों के सहारे हो रही है। किन्तु मूलतः उसका उपादान ही प्रबल होने पर इन 6 उपकरणों से वह ज्ञान ग्रहण कर पाता है तथापि ये इंद्रियाँ अलग-अलग विभागों (departments) की स्वामिनी है तथा अपने भिन्न-भिन्न तरीकों से ही ज्ञान प्राप्ति का माध्यम बनती है।

मतिज्ञान प्रकट होने में ये छहों इन्द्रियाँ उपकारक है किन्तु इनमें आपसी भिन्नता भी है। उसे व्यक्त करते हुए निम्न सूत्र कहता है कि :-

सूत्र- न चक्षुरनिन्द्रियाभ्याम् ॥19॥

अर्थ- चक्षु और मन से व्यंजनावग्रह नहीं होता ॥19॥

विवेचन- पूर्व सूत्रों में हमने अवग्रह के दो भेदों के बारे में जाना था-एक अर्थावग्रह एवं दूसरा व्यंजनावग्रह। इसमें से अर्थावग्रह तो पाँचों इंद्रियों और मन इन छहों से होता है, किन्तु व्यंजनावग्रह चक्षु और मन इन दो से नहीं होता, यह इस सूत्र का भाव है। अब प्रश्न यह उठता है कि चक्षु और मन से व्यंजनावग्रह क्यों नहीं होता ? तो इसका उत्तर यह है कि चक्षु और मन ये दोनों अप्राप्यकारी है अर्थात् ये दोनों विषय को स्पृष्ट करके नहीं जानते हैं, बिना छुए ही जान लेते हैं। दूर स्थित पदार्थों को भी ग्रहण कर लेते हैं। इसलिए इनके द्वारा व्यंजनावग्रह नहीं होता। चूंकि व्यंजनावग्रह प्राप्त अर्थ का ही होता है और अर्थावग्रह प्राप्त तथा अप्राप्त दोनों प्रकार के पदार्थों का होता है इसलिए चक्षु और मन से व्यंजनावग्रह नहीं होता। दूसरी बात पाँच इन्द्रियों में दृष्टि 'दर्शनगुण' है जो विश्रामहीन, सातत्यगुणी, अखण्ड एवं अप्राप्तकारी है जबकि अन्य चारों इन्द्रियाँ 'ज्ञानगुण' प्रधान है। ये वस्तु को स्पृष्ट होने पर ही ग्रहण कर सकती है। जब तक शब्द कान में न पड़े, शक्कर जीभ से न लगे, पुष्प का पराग नाक में प्रविष्ट न हो, जल त्वचा को न छूए तब तक न तो शब्द ही सुनाई देता है, न शक्कर का ही स्वाद आता है, न फूल की सुगंध ही आती है और न ही जल का ठण्डा या गरम स्पर्श ज्ञात हो पाता है। जबकि नेत्र और मन स्पर्श के बिना ही योग्य सन्निधान मात्र से और अवधान से अपने- अपने ग्राह्य विषय को जानते हैं। नेत्र दूरवर्ती पर्वत, आकाश, बिजली, बादल सबको ग्रहण कर लेते हैं और ज्ञान कराते हैं। मन भी क्षेत्र और काल हर सीमा से परे रहे हुए विषय का भी चिन्तन कर लेता है। इसीलिए नेत्र तथा मन अप्राप्तकारी माने गए हैं तथा उनसे होने वाली ज्ञानधारा को पटुक्रमिक भी कहा गया है। इसे दर्पण के उदाहरण से समझा जा सकता है। जैसे, दर्पण के सामने किसी वस्तु के

आते ही उसका प्रतिबिंब तुरन्त दर्पण में पड़ जाता है और वह दिखाई देने लगती है। इसके लिए दर्पण के साथ प्रतिबिंबित वस्तु का साक्षात् संयोग आवश्यक नहीं है। जैसे कि कान के साथ शब्दों का साक्षात् संयोग। केवल दर्पण और वस्तु का एक दूसरे के सामने होना आवश्यक है, सन्निधान आवश्यक है। ऐसा सन्निधान होते ही प्रतिबिंब पड़ जाता है और वह तुरन्त ही दिखाई पड़ता है। इसी तरह नेत्र के सामने वस्तु के आते ही वह तुरन्त दिखाई पड़ती है। जिस तरह से दर्पण वस्तु को पूरा ही प्रतिबिंबित करता है, ठीक उसी तरह दृष्टि (नेत्र) वस्तु को पूरा ही दर्शित करती है। नेत्र अखण्ड दर्शन करता है, अप्राप्यकारी को ही ग्रहण करता है। अब यदि आँख से कुछ दूरी पर हथेली हो तो दिखाई देगी किन्तु दूरियाँ कम करते जाओ तो वह हस्ततल दिखना बन्द हो जाएगा और हस्ततल को आँख से स्पृष्ट कर दें तब तो उसका दिखना पूर्णतः बंद हो जाएगा। इसे आँख में लगे काजल के दृष्टांत से भी समझ सकते हैं। आँख स्वयं से स्पर्शित काजल को नहीं देख सकती किंतु दूर की वस्तु देख लेती है। इसी प्रकार मन के विषय में भी समझा जा सकता है। मन भी अप्राप्तकारी को ग्रहण करता है। इसका स्थूल उदाहरण यह है कि जब तक मन का प्रिय विषय उसे प्राप्त नहीं होता तब तक वह उसके प्रति बहुत आकर्षित रहता है, उसी का चिंतन करता है, उसी की कल्पनाएँ करता रहता है। फिर जब उसकी प्राप्ति हो जाए, वह प्राप्तकारी हो जाए तब मन उसकी चिंता करना छोड़ देता है। अतः मन भी अप्राप्यकारी को ही ग्रहण करता है।

इस दृष्टिकोण से मन व चक्षु में समानता है। ज्ञानियों ने ज्ञान को मन से व दर्शन को चक्षु से उपमित किया है। फर्क इतना ही है कि मन वस्तु-विषय को खण्ड-खण्ड मगर कई प्रकार से ग्रहण करता है तो चक्षु केवल अभंग। ठीक वैसे ही जैसे ज्ञान खण्ड-खण्ड को विषय करता है व दर्शन जितना भी देखता है, उतना अभंग देखता है। चक्षु व मन-दोनों के ही द्वारा अर्थ को ग्रहण किया जाता है मगर व्यञ्जन का ग्रहण नहीं होता। अतः मन व दृष्टि दोनों का सूक्ष्मरूप ध्यान के क्षणों में आज्ञा चक्र में अवस्थित होता है।

मतिज्ञान के कुलभेद :

इन्द्रियाँ और मन इन छहों के अर्थावग्रह आदि चार - चार के भेद से 6 X 4 = 24 भेद हुए। उनमें चार प्राप्यकारी इन्द्रियों के चार व्यंजनावग्रह जोड़ने से 24 + 4 = 28 भेद हुए। इन सबको बहु, बहुविध, अल्प अल्पविध आदि 12 - 12 भेदों से गुणा करने पर 28 X 12 = 336 भेद होते हैं। भेदों की यह गणना स्थूल दृष्टि से है। वास्तव में तो विषयों की विविधता और क्षयोपशम की विचित्रता के आधार पर तरतमता लिए हुए असंख्य भेद होते हैं। एक मतिज्ञानी से दूसरे मतिज्ञानी में अनंत गुणा न्यूनाधिकता वाला क्षयोपशम पाया जा सकता है। शास्त्र की भाषा में कहें तो छट्ठाणुवडिया (षट्स्थान पतित) का अंतर होता है। छट्ठाणुवडिया अर्थात्

1. संख्यात भाग 2. संख्यात गुणा 3. असंख्यात भाग
4. असंख्यात गुणा 5. अनंत भाग 6. अनंत गुणा।

सूत्र-20
श्रुतज्ञान प्रकरण

इस सृष्टि का सर्वोत्तम प्राणी मनुष्य है और यह लोक की अंतिम गति है क्योंकि यही वह प्राणी है जिसका मस्तिष्क संपूर्ण रूप से विकसित होता है। दर्शन का अर्थ होता है-अभंग वेदन करना अर्थात् अनुभव करने की शक्ति। वो तो चतुरिंद्रिय और पंचेन्द्रिय प्राणियों में भी होती है। किंतु उनकी दृष्टि सम्यक् बन जावे-यह आवश्यक नहीं है। भावों को समकित बनाने के लिए एक विकसित मस्तिष्क से गहन मंथन की आवश्यकता होती है अथवा यूँ कहो कि धर्म-ध्यान की आवश्यकता होती है जो श्रुत अर्थात् शब्दों के सुनने-सुनाने और समझने से ही संभव है, चिंतन से ही संभव है। इस तरह के चिंतन को हम 'धर्मध्यान' कह सकते हैं, जिसकी परिणति अन्तःतोगत्वा शुद्ध दर्शन अनुभव यानि शुक्ल ध्यान में होती है और मनुष्य अपने चरम-लक्ष्य मुक्ति को प्राप्त कर सकता है। समझने की बात यह है कि ये सब कुछ सोच-विचार से ही संभव है और सोच-विचार हमेशा टुकड़ा-टुकड़ा बिखरा-बिखरा ही होता है अर्थात् साकार ही होता है, सीमित ही होता है। मगर उसके द्वारा ही हम अनाकार दर्शन को उपलब्ध हो सकते हैं। यह सूत्र बहुत ही महत्वपूर्ण है जिसमें साकार प्रवृत्ति अर्थात् श्रुत से निराकार निवृत्ति अर्थात् दर्शन को उपलब्ध होने की तरफ ईशारा किया गया है। सूत्र कहता है कि-

सूत्र- श्रुतं मतिपूर्वकं द्वयनेकद्वादशभेदम् ॥20॥

अर्थ - श्रुत ज्ञान मतिपूर्वक होता है। वह दो, अनेक और बारह भेदों वाला है। ॥20॥

विवेचन- जैसे आप किसी विषय में विचार करते हो तो उस समय उस विषय के जिस पहलू (aspect) पर विचार करते हो, वही आपके सामने साकार होता है मगर उसका दूसरा पहलू दबा हुआ अथवा गुप्त होता है। यही इस सूत्र का गूढ़ रहस्य है, जिसे समण भगवान महावीर ने अनेकांत व स्याद्वाद शैली से समझाया है। केवली का जो ज्ञान-दर्शन-आनंद होता है वह तो केवल ही होता है, The only होता है, मात्र होता है उसे 'एक' (One) भी नहीं कहा जा सकता क्योंकि एक होते ही साकार हो जाता है। मगर समझने और समझाने के लिए जिस माध्यम का प्रयोग किया जाता है वह 'श्रुत' है और वह मतिपूर्वक होने की वजह से बुद्धि द्वारा समझा-समझाया जा सकने की वजह से खंड-खंड होता है, मतिपूर्वक ही होता है, साकार ही होता है। चूंकि मनुष्य के पास में अंतिम योग्यता यह श्रुत ही है, कान ही है, इसलिए वह अखंड दर्शन अर्थात् निवृत्ति को उपलब्ध होने के लिए खंड दर्शन अर्थात् श्रुत अर्थात् प्रवृत्ति पर चिंतन-मनन करके, मतिपूर्वक ही आगे जा सकेगा। यही कारण कि हमारे प्रथम तीर्थंकर ऋषभदेव निवृत्तिवादी थे, फिर भी उन्होंने असि-मसि-कृषि के रूप में प्रवृत्ति का मंत्र दिया ताकि अज्ञानी आदमी मतिपूर्वक इस संसार की कलाओं को सोचे-समझे और जब उसे पता लगे कि ये सब निस्सार है, तब वह जीव

मोक्ष की तरफ अग्रसर होवे।

दूसरे तरीके से समझने के लिए यह सूत्र एक दूसरे सूत्र की तरफ ईशारा करता है, वह सूत्र है-पढ़मं णाणं तओ दया अर्थात् पहले ज्ञान, फिर दर्शन। मनुष्य को ज्ञान से ही दर्शन की उपलब्धि होगी। यह सच्चे शोधार्थी सावक को चाहिए कि वह रूढ़ एकांतवादी एवं संप्रदायवादी नहीं बने, झूठा अनुयायी नहीं बने, वह मति पूर्वक सोचे-समझे, सबकी बात सुने और फिर उस पर चिंतन-मनन करके सत्य को उपलब्ध होवे। यही बात 'आयारो' के प्रथम श्रुतस्कंध के प्रथम अध्ययन के प्रथम उद्देशक में 'सहसम्मुइयाए' पद से कही गई है, जिसका अर्थ होता है कि 'स्व-मति से जानो।'

इस प्रकार मतिपूर्वक चिंतन करके जब व्यक्ति दर्शन को उपलब्ध होता है तो वह 'दृष्टिवाद' को प्राप्त कर लेता है मगर समझने और समझाने के लिए सत्य को, उस आगम को भी अलग-अलग भागों में ही बताना पड़ता है। यही इस सूत्र का मन्तव्य है।

द्वादशांगीश्रुत-जिस प्रकार एक मनुष्य के शरीर के बारह अंग होते हैं। चार अंग पैरों के, चार अंग हाथों के, एक पेट, एक छाती, एक गला और सिर-इस प्रकार कुल 12 अंग। इसी प्रकार दर्शन रूपी आगम को हमारे मनीषियों ने आगम पुरूष के रूप में बारह भागों में विभाजित किया है अर्थात् 12 सूत्रों में बाँटा है जिसका निर्देशन प्रस्तुत सूत्र दे रहा है-

श्रुतं मतिपूर्वकं द्व्यनेकद्वादश भेदम्॥

मगर इन 12 भागों में सबसे महत्वपूर्ण जो सिर है, उसके अनेक भेद हैं क्योंकि सिर में पाँचों इंद्रियों एवं मन का समावेश हो जाता है। चूँकि सारे विषयों का चिंतन-मनन यहीं से होता है इसलिए इसके अनेक भेद है।

तो सूत्र के अनुसार आगम पुरूष यानि श्रुत मीडिया मति-बुद्धि द्वारा ही संभव होता है और उसके दो भेद है। जैसे मनुष्य हर क्षेत्र में बुद्धि द्वारा ही सफल हो सकता है। उसके भी शरीर के दो भाग हैं-एक सिर और शेष धड़। यहाँ यह महत्वपूर्ण बात हम बताना चाहते हैं कि जितना मनुष्य का मस्तिष्क महत्वपूर्ण है, शेष धड़ भी उससे कुछ कम महत्वपूर्ण नहीं है। क्योंकि मस्तिष्क तो मात्र विचार ही कर सकता है। शेष चारित्रिक क्रियाएँ तो सारी धड़ से ही होगी, अतः ज्ञान दर्शन को ये सूत्र मस्तिष्क से लेता है और चारित्र को ये सूत्र शेष धड़ से लेता है। सूत्र यह समझाना चाहता है कि मुक्ति को उपलब्ध होने के लिए सोचना-विचारना महत्वपूर्ण है मगर उस सोच-विचार को चारित्र में ढालना भी उतना ही महत्वपूर्ण है। एक अंग ज्ञान का है और दूसरा अंग चारित्र का है।

इसे ही दूसरी अपेक्षा से दो अन्य भेद करके हमारे पूर्वाचार्यों ने समझाया है-एक अंग बाह्य श्रुत एवं दूसरा अंग प्रविष्ट श्रुत। अंगबाह्य श्रुत अनेक भेदों वाला है। ठीक उसी प्रकार, जिस प्रकार मस्तिष्क अनेक विचारों वाला है एवं अंग प्रविष्ट श्रुत बारह प्रकार का है।

जिस प्रकार मंदिर में प्रवेश से पूर्व बाहरी परिसर में विविध चित्रकारियाँ होती है, विविध दृश्यों से गुज़रना होता है। उन सबके मध्य जो समकित रह पाता है अथवा समकित हो जाता है, वह भीतरी भू-भाग में प्रवेश करने का अधिकारी होता है। ठीक इसी प्रकार अंग बाह्य श्रुत जो कि आचार्यों द्वारा प्रणीत होता है, उसमें से गुज़रकर जो साधक हेयोपादेय का विवेक प्राप्त कर लेता है, वह अंग प्रविष्ट श्रुत का अधिकारी बन पाता है। अंग प्रविष्ट श्रुत इस प्रकार है-

1. आचारांग	2. सूत्रकृतांग	3. स्थानांग	4. समवायांग
5. भगवती	6. ज्ञाताधर्मकथांग	7. उपासक दशांग	8. अन्तःकृत दशांग

9. अनुत्तरोपपातिक दशांग 10. प्रश्न व्याकरणांग 11. विपाक 12. दृष्टिवाद।

पुनः इन 12 में दृष्टिवाद जो है वह प्रथम और अंतिम महत्वपूर्ण सूत्र है। अंतिम सूत्र होते हुए भी यह अंग बाह्य का कार्य करता है ताकि आप चिंतन-मनन कर सको और आपकी दृष्टि निष्पक्ष हो सके। अतः इसमें चौदह ही पूर्वों का ज्ञान होता है। पूर्व का अर्थ होता है-पहले का ज्ञान। कोई भी तीर्थंकर जब तीर्थ की स्थापना करता है और तात्कालिक परिस्थितियों के अनुकूल देश, काल, पात्र, भाव के अनुसार धर्म का उपदेश करता है तो उससे पहले के उपलब्ध सारे ज्ञान-विज्ञान को 'पूर्व' कहते हैं और धर्मोपदेष्टा द्वारा की गई परिस्थिति के अनुकूल नई देशना, 'उत्तर अध्ययन' कहलाता है, नया सूत्र कहलाता है। जैसे कि ईसाईयत में old testament और new testament होता है। पुरानी को ऐंजिल और नई को बाईबिल कहते हैं। यह ठीक वैसे ही होता है जैसे मोहम्मद साहब ने क़ुरआन में नई आचार संहिता दी। पूर्व की आचार संहिता को निरस्त किया और नए 'हराम' और 'हलाल' के नियम लागू किए।

समण निर्ग्रंथ भगवान महावीर स्वामी ने चौदह पूर्व के बाद जो नए सिरे से आगम पुरूष के बारह अंग दिए, उसमें दृष्टिवाद सबसे महत्वपूर्ण है।

त्तिबेमि

सेबिमि-त्तिबेमि से मेरा कथन यह है कि इन 12 गणिपिटकों में अथवा आगम पुरूष के अंगों में सिर रूप से जो दृष्टिवाद है, वह अंगबाह्य और अंग प्रविष्ट दोनों होने के कारण से अपने आप में बड़ा महत्वपूर्ण है। इसकी शिक्षा पहले और बाद में दोनों समय अलग तरीकों से दी जाती है। ऐसा मैं कहता हूँ कि (से बेमि) जब तक दृष्टिवाद की सांसारिक समझ न होवे और धर्म के प्रति श्रद्धा रूचि जागृत न होवे तब तक आचारांग सूत्र को पढ़ने-पढ़ाने की इज़ाज़त ही नहीं थी। दृष्टिवाद को जब पहले पढ़ाया जाता है तो उसको अंग बाह्य की तरह पढ़ाया जाता है ताकि उसकी बुद्धि सांसारिक मोह से हट जाती है और धर्म रूचि जागृत हो जाती है, उसे सांसारिक विरक्ति हो जाती है, तब साधक को ग्यारह अंगों का अध्ययन करवाया जाता है।

जब साधक उसमें परिपूर्ण हो जाता है, तब उसे 12वें दृष्टिवाद अंग का अध्ययन पुनः नए तरीके से नई विशुद्धि के साथ कराया जाता है। यह सूक्ष्म संपराय का अध्ययन होता है, तब साधक का अपना कोई संप्रदाय मोह भी नहीं रहता। वह शुद्ध जिज्ञासु एवं खोजी बन जाता है। उसकी दृष्टि एकदम निष्पक्ष, निरपेक्ष हो जाती है और तब वह अगली सीढ़ी पर पहुँच जाता है, जो यथाख्यात है, आत्म कल्याण है।

प्रसंगवश यहाँ हम लिखना चाहेंगे कि जो लोग समझते हैं कि दृष्टिवाद आज लुप्त हो गया है, वे धर्म की गहराईयों में नहीं पहुँच पाए हैं और ऊपरी आडंबर व परिपाटियों में ही अटके हुए हैं। अन्यथा दृष्टिवाद आज भी उपलब्ध है। वह न कभी समाप्त हुआ है, न होगा। बस फर्क इतना है कि वह गुरूप्रदत्त है, अतः गुप्त ही रहता है। कहते हैं कि भगवान महावीर स्वामी ने अपने प्रथम शिष्य गौतम स्वामी को अंगबाह्य दृष्टिवाद सूत्र तीन पदों में ही (उप्पन्नेइ वा, विगमे इ वा, धुवेइ वा) सिखा दिया था और अंग प्रविष्ट दृष्टिवाद उन्हें अपने गुरू से बाद में प्राप्त हुआ और महावीर के निर्वाण के समय उनमें परिपूर्ण रुप से चरितार्थ हुआ।

अंग प्रविष्ट के प्राथमिक एवं अंतिम दोनों महत्वों को समझने के लिए हमें यह समझना ज़रूरी है कि किसी भी मंत्र का प्रारंभिक व अंतिम शब्द बहुत महत्वपूर्ण होता है और संपूर्ण अर्थों को अपने में समेटे हुए होता है। जैसे कि णमो अरहंताणं-पूजनीयता को नमस्कार और णमो लोए सव्वसाहूणं-सब प्रकार की साधुता को नमस्कार-इसमें पहले व अंतिम पद में सर्व अर्थ समा जाते हैं। सारे ही पदों का सार आ जाता है। ठीक इसी प्रकार

पंच महाव्रतों में पहला-प्राणातिपात विरमण एवं अंतिम परिग्रह विरमण-दोनों ही महत्वपूर्ण है। एक में ही सब समा जाते हैं।

अगर हम चतुर्विंशति स्तव के बारे में मंत्र रूप से सोचें तो मूल गुरूप्रदत्त जो मंत्र दिया जाता है, वह है-लोगस्स उज्जोयगरे-सिद्धा सिद्धिं मम दिसंतु। 'लोक को उद्योतित करने वाले सिद्ध मुझे सिद्धि दे' इसमें सब समा जाता है।

णमोत्थुणं कल्प के बारे में गुरूदेव बताते हैं कि मूल मंत्र है-णमोत्थुणं अरहंताणं णमो जिणाणं जियभयाणं। जिसने भय को जीत लिया, उस पूजनीय को नमस्कार हो। यह संपूर्ण सार मंत्र है।

इस तरह से दृष्टिवाद को भी समझो, जो अंग बाह्य और अंग प्रविष्ट दोनों है। अतः उसका लोप संभव नहीं है और श्रुत मतिपूर्वक ही होता है, बुद्धि द्वारा ही होता है जिसे धर्म ध्यान कहा गया है। यही धर्मध्यान शुक्ल ध्यान में परिणत हो जाता है। दर्शन में परिणत होने के बाद यह संज्ञा में समा जाता है। अतः 'श्रुत' जो साकार होता था, वह अनाकार हो जाता है।

यह मतिपूर्वक श्रुत दो तरह का होता है-अंग बाह्य और अंग प्रविष्ट। अंग बाह्य को आप स्कूल से कॉलेज तक की पढ़ाई समझ सकते हैं और अंग प्रविष्ट को गुरूप्रदत्त आत्मज्ञान। अंगबाह्य तक सारे सांसारिक विषय आ जाते हैं। किंतु अंगप्रविष्ट में मात्र आत्मज्ञान का शोध होता है। उसे भी हमारे मनीषियों ने बारह भागों में बाँट दिया है। आचारांग से लेकर विपाक अंग तक ग्यारह अंग। जब शिष्य विपाक अवस्था तक आ जाता है, विशेष रूप से पक जाता है तब गुरू उसे दृष्टि देता है। दृष्टिवाद देता है। तब उसे सूक्ष्म संपराय चारित्र की प्राप्ति हो जाती है और फिर शीघ्र ही वह अभ्यास द्वारा यथाख्यात चारित्र में पहुँच जाता है अथवा दृष्टिवाद को वह पूर्ण रूप से ग्रहण नहीं कर पाया है, तो पुनः उसका पतन भी हो जाता है।

अतः सूत्र यह ईशारा करता है कि गुरू के ज्ञान को शाब्दिक ज्ञान की तरह मत लो, साकार ग्रहण मत करो, उन्हें packaged deal की तरह अनाकार लो, हार्दिक लो। संपूर्ण समर्पण से अनुभव करो।

सूत्र-21-23

अवधिज्ञान प्रकरण

सूत्र- द्विविधोऽवधिः ॥21॥
तत्र भवप्रत्ययो नारकदेवानाम् ॥22॥
यथोक्तनिमित्तः षड्विकल्पः शेषाणाम् ॥23॥

अर्थ- अवधि ज्ञान दो प्रकार का है ॥21॥
उन दो में से भव प्रत्यय नारक और देवों को होता है ॥22॥
यथोक्त निमित्त-क्षयोपशमजन्य अवधि छः प्रकार का है,
जो तिर्यंच तथा मनुष्यों को (शेष को) होता है ॥23॥

विवेचन- तत्त्वार्थाधिगम सूत्र के प्रथम अध्याय के 20 सूत्रों का अध्ययन हम कर चुके हैं। विगत बीसवें सूत्र में हमने श्रुतज्ञान को लक्षण एवं प्रकारों के द्वारा जाना था। अब इस इक्कीसवें सूत्र में अवधिज्ञान की चर्चा की गई है। आर्हत् दर्शन में ज्ञान के पाँच भेद बताए गए हैं। इन पाँच भेदों में मतिज्ञान व श्रुतज्ञान-प्रारंभ के दो भेद-इंद्रिय प्रत्यक्ष ज्ञान के भेद हैं एवं पीछे के तीन भेद आत्म प्रत्यक्ष ज्ञान के भेद हैं। इनमें भी अवधिज्ञान मध्यम भेद (तीसरा भेद) होने से विशेष महत्वपूर्ण है।

अवधिज्ञान-यह ज्ञान पाँच इंद्रियों की सहायता के बिना भी होता है, अतः यह 'आत्मप्रत्यक्ष ज्ञान' कहलाता है किंतु इस ज्ञान में मन की सहायता तो होती ही है, अतः यह सकल पारमार्थिक प्रत्यक्ष न कहला कर विकल पारमार्थिक प्रत्यक्ष कहलाता है। जो ज्ञान पूर्ण होता है, सकल होता है उसे समझने-समझाने के लिए मन की आवश्यकता नहीं होती है, वह तो मात्र केवल ज्ञान होता है। परंतु जो ज्ञान देश (खण्ड, आंशिक) होता है, उसमें मन की सहायता तो होती ही है। अतः यह विकल पारमार्थिक प्रत्यक्ष ज्ञान है क्योंकि इसमें मन की सहायता होती है।

अवधि शब्द का अर्थ ही होता है-सीमा, मर्यादा, limit। जैसे हम कहते हैं कि अमुक अवधि तक यह छूट है, उसके बाद नहीं। अमुक अवधि में इस कार्य को पूर्ण कर लीजिए। व्यवहार भाषा में हम इसे काल की सीमा, मर्यादा कह सकते हैं। अवधि ज्ञान काल का ग्राही ज्ञान होने से भी अवधि कहलाता है। जिस प्रकार मतिज्ञान शब्द से ही मति-बुद्धि को इंगित करता है, श्रुतज्ञान शब्द से ही 'श्रुत' यानि सुनने के संबंधी ज्ञान को इंगित करता है; ठीक इसी प्रकार अवधिज्ञान (clairvoyance) शब्द से ही काल संबंधी ज्ञान को इंगित करता है। अवधि प्रायः कालावधि के लिए प्रयुक्त शब्द है। यहाँ समझने योग्य बात यह है कि दो ज्ञान जो इंद्रिय प्रत्यक्ष है, वह पुद्गल का

मात्र आकाशीय ज्ञान है मगर पीछे के जो ज्ञान हैं वे 'समय' के चतुर्थ आयाम (fourth dimension) के ज्ञान है जिसमें समय और आकाश दोनों है। अपेक्षाओं से साधक जानता-देखता है। मगर फिर भी प्रत्यक्ष ज्ञान के दो भेद हैं-

1. पौद्गलिक 2. ब्रह्म (आत्मा)

अवधि ज्ञान और मनःपर्यव ज्ञान दोनों पौद्गलिक ज्ञान है, क्योंकि ये मात्र रूपी पदार्थों को ही प्रत्यक्ष करते हैं और मन भी रूपी पदार्थ है जबकि केवल ज्ञान संपूर्ण ज्ञान होने की वजह से इसमें जीव-आत्मा और पुद्गल सब कुछ भासित होता है। अर्थात् अवधि ज्ञान पदार्थ मात्र को देखता है, भावों को नहीं, जबकि केवल ज्ञान पदार्थ को तो देखता ही है, साथ ही पदार्थ को आवेशित, परिवेशित करने वाले भावों को भी यथातथ्य समझता है। अवधिज्ञान को व्यक्त करने के लिए सामाजिक प्रज्ञा की आवश्यकता होती है जबकि केवल ज्ञान प्रज्ञातीत आत्मा का उपादान होता है।

'अव' शब्द का एक अर्थ होता है 'अलग हटकर' और 'धि' शब्द का अर्थ होता है 'ज्ञान', तो अवधिज्ञान का एक अर्थ यह भी होता है कि मनुष्य के अब तक इंद्रिय प्रत्यक्ष मति और श्रुत ज्ञान से अलग हटकर प्रकृति को एक निश्चित सीमा में, नए आयाम में अथवा आज की भाषा में कहें तो नए graph में देखा जाना अवधि ज्ञान है। अवधि ज्ञानी को एक तरह से 'दिव्यदर्शी' भी कहा जा सकता है। अवधि ज्ञान, वह ज्ञान है जो समय और क्षेत्र की अपेक्षा से पुद्गल की अपनी-अपनी योग्यता और लब्धि के अनुसार बिना इंद्रियों की सहायता के जानता है। अवधि शब्द का एक और अर्थ होता है तथा वह भी सटीक बैठता है। तीर्थंकरों की देशना में प्रस्फुटित शब्दों में यह विशेषता होती है कि उन शब्दों को कई-कई अपेक्षाओं से और कई-कई अर्थों से समझा जा सकता है। 'अव' शब्द का अर्थ होता है 'निम्न' और 'धि' शब्द का अर्थ होता है द्युति, प्रकाश अथवा ज्ञान। चूंकि अवधि ज्ञान आत्म प्रत्यक्ष ज्ञान में सबसे निम्न स्तर का ज्ञान होता है, अतः इसे अवधिज्ञान कहा जाता है। दूसरी बात यह है कि जिस प्रकार केवल ज्ञान आत्मा का चरम ज्ञान होता है, अवधिज्ञान वैसा न होकर मात्र पुद्गल का ही ज्ञान होता है। इस ज्ञान से जीव के शरीर को तो एक पिण्ड के रूप में देखा जा सकता है मगर आत्मा को नहीं। इस दृष्टि से भी ये निम्न स्तर का ज्ञान बैठता है। इस ज्ञान को परिभाषित करते समय शब्द का साधारण प्रचलित अर्थ, स्थान, सीमा अथवा समय सीमा भी ज्यादा सटीक अर्थों की ओर इंगित करते हैं। यह ज्ञान संसार के सारे जीवों को एक समान नहीं होता। अपनी-अपनी समझ, अपने-अपने संस्कार, अपनी-अपनी अपेक्षा के अनुसार यह ज्ञान व्यक्ति दर-व्यक्ति में अलग-अलग आयामों में प्रकाशित होता है। गोया, भूत की विशेष अवधि तक का ज्ञान, भविष्य की विशेष अवधि तक का ज्ञान, वर्तमान के स्थान विशेष का ज्ञान, व्यक्ति की दैहिक स्थिति से आगे-पीछे की दिशा विशेष का सीमा में ज्ञान, दाँये अथवा बाएँ की क्षेत्र सीमा का ज्ञान, खगोल का ज्ञान, भूमिगत विषयों का ज्ञान, नरक एवं नारकी जीवों की योग्यता प्रमाण सीमा क्षेत्र का ज्ञान, देवता-देवलोक आदि विषयों में सीमित ज्ञान, किसी प्रश्न विशेष के उपस्थित होने पर भासित होने वाला ज्ञान, भूत-भविष्य का पूर्वाभास, किसी विषय-विशेष में यथासमय प्रकट होने वाला ज्ञान।

प्रस्तुत सूत्र कह रहा है कि यह अवधि ज्ञान दो प्रकार का होता है। पहला भवप्रत्यय अवधिज्ञान, दूसरा गुणप्रत्यय अथवा क्षायोपशमिक अवधिज्ञान। भव प्रत्यय का अर्थ होता है, वह अवधिज्ञान जिसके होने का कारण भव मात्र है, वह 'भवप्रत्यय' अवधिज्ञान है। यह भवप्रत्यय अवधिज्ञान नरक और देवगति के जीवों में सहज ही जन्मजात होता है। जैसे कि पक्षियों में जन्म-भव ही उनके उड़ने का निमित्त होता है, वे आकाश गमन के

लिए कोई जप-तप, शिक्षा-दीक्षा नहीं लेते, स्वभावतः ही उड़ते हैं; ठीक इसी प्रकार नरक और देवगति के जीवों में जन्म के साथ ही उस भव के कारण ही अवधिज्ञान होता है। उनका वैक्रिय शरीर और अवधिज्ञान किसी शिक्षा-दीक्षा- जप-तप-अनुष्ठान के फलस्वरूप न होकर भव प्रत्यय से ही होता है।

सूत्र 22 के अनुसार अवधिज्ञान का पहला भेद भवप्रत्यय अवधिज्ञान नारक-देवों को होता है। सूत्र 23 के अनुसार जो अवधिज्ञान यथोक्त निमित्त होने पर प्रकट होता है वह 'शेषाणाम्' अर्थात् शेष दो गति के जीवों में अर्थात् तिर्यंच एवं मनुष्यों को होता है तथा वह षड्विकल्प अर्थात् छः विकल्पों-भेदों वाला है। इसे 'गुण प्रत्यय' अवधिज्ञान कहा जाता है। जो अवधिज्ञान जन्मसिद्ध नहीं है किंतु जन्म लेने के बाद व्रत-नियम, ध्यान आदि गुणों के अनुष्ठान से प्रकट किया जाता है; वह गुण प्रत्यय अवधिज्ञान कहलाता है। यह गुणप्रत्यय अवधिज्ञान अवधि ज्ञानावरण के क्षयोपशम से होने के कारण क्षायोपशमिक अवधि ज्ञान भी कहलाता है।

सूत्र कहता है कि गुणप्रत्यय अवधिज्ञान षड्विकल्प अर्थात् छः भेदों वाला है। यथार्थतः अवधिज्ञान असंख्य प्रकारों वाला है क्योंकि जितनी तरह की सोच व संरचना वाले लोग हैं, उतनी ही तरह का अवधिज्ञान है। अपने-अपने संस्कार, अपनी-अपनी अपेक्षाएँ, अपनी-अपनी मानसिक स्थिति के अनुसार तथा ज्ञानावरणीय कर्मों के क्षयोपशम के अनुसार यह अवधिज्ञान कई प्रकार का होता है। अवधिज्ञान के इस विशाल विज्ञान को समझने-समझाने की दृष्टि से नंदी सूत्र में इसे छः श्रेणियों में बाँटा गया है। सूत्रोक्त अवधिज्ञान के ये छः भेद इस प्रकार से हैं-

1. आनुगामिक अवधिज्ञान- कई बार शिष्यों को गुरू की पर्युपासना में गुरू के लेश्यावलय के प्रभाव से विशेष अवधिज्ञान प्रकाशित होने लग जाता है। वह ज्ञान मात्र गुरू के ज्ञान का अनुगमन ही करता है और वह उतना ही या उससे कम होता है जितना गुरू को होता है, इसीलिए इसे आनुगामिक अवधि ज्ञान कहते हैं। इसे समझने के लिए हम सूर्य या दीपक का दृष्टांत ले सकते हैं। जिस प्रकार मनुष्य को सूर्य की रोशनी या दीपक में तो दिखता है किंतु अँधेरे में नहीं दिखता है, ठीक इसी तरह का यह ज्ञान होता है। यह ज्ञान होने के साथ में या बाद में अगर दृढ़भूमि हो जाता है तो निजी अवधिज्ञान भी हो जाता है। इस ज्ञान के लिए शिष्य का शास्त्र-ज्ञाता होना अथवा संयम की दृढ़ पालना होना ज़रूरी नहीं है। बिल्कुल ही अनपढ़ और अंगूठाछाप व्यक्ति भी अगर गुरू के प्रति समर्पित होकर पर्युपासना करता है और सच्चे हृदय से वैयावच्च अर्थात् सेवा करता है तो उसे यह ज्ञान हो सकता है। पूज्य श्री समर्थमलजी म.सा. (ज्ञानगच्छ) प्रारंभिक अवस्था में ज्यादा ज्ञानी नहीं थे मगर उन्होंने अपने गुरू की सच्चे हृदय से सेवा की और वे बहुश्रुतज्ञानी बने। एक बार उन्हें विहार करना था। उन्होंने अपने शिष्यों को आज्ञा दी कि निर्धारित समय से पहले ही तुरंत निकलो और शिष्यों के बाहर आते ही दीवार ढह गई। ये आनुगामिक अवधिज्ञान हुआ।

2. अनानुगामिक अवधिज्ञान- वह अवधिज्ञान जो किसी अन्य ज्ञान का अनुगमन नहीं करता। साधक स्वयं ही अपने भावों से इतना निर्मल होता है कि वह आत्म पर्युपासना करना सीख लेता है, तब उसे ज्ञानावरणीय कर्म के क्षयोपशम के अनुसार आवश्यकता के अनुकूल, अपेक्षाओं के अनुरूप अवधिज्ञान हो जाता है। यह अवधिज्ञान किसी परिपाटी अथवा दार्शनिक सिद्धांत का मोहताज नहीं होता। मगर गुरू की पर्युपासना इसमें भी सहायक ही होती है। यद्यपि मूल सत्य तो एक ही होता है मगर उसे देखने और समझने-समझाने का ग्राफ व्यक्ति-दर-व्यक्ति

अलग हो सकता है। इसीलिए अक्सर ऐसे अवधिज्ञानी तात्कालिक परिस्थितियों एवं बदले हुए मानवीय सोच को देखते हुए नई साधना पद्धतियाँ देते हैं । सत्य को तात्कालिक परिस्थितियों एवं मानवीय सोच के अनुकूल नए परिवेश में प्रतिपादित भी कर देते हैं। जबकि आनुगामिक अवधि ज्ञान प्राप्त शिष्य अपने ज्ञान को गुरू के दिए हुए सूत्रों के अनुकूल ही प्रकाशित कर पाता है।

हमें यह समझना चाहिए कि इस अनेकांत सृष्टि में सत्य कई-कई आयामों में भासित होता है, जिसे हमें जागृति और विवेकपूर्वक समझना चाहिए, हठाग्रही होकर विवाद नहीं खड़ा करना चाहिए।

3. वर्द्धमान अवधिज्ञान- वह अवधिज्ञान जो होने के बाद निरंतर बढ़ता रहता है, वर्द्धमान अवधिज्ञान कहलाता है। एक छात्र जिस प्रकार प्रथम कक्षा में ज्ञान हासिल करता है और फिर पढ़ते-पढ़ते एम.ए. कर लेता है और उसका ज्ञान बढ़ता जाता है अथवा छोटा बच्चा धीरे-धीरे बड़ा होता जाता है, इसी प्रकार यह वर्द्धमान अवधिज्ञान होता है।

4. हीयमान अवधिज्ञान- वह अवधिज्ञान जो एक बार तो हो जाता है मगर प्रमाद और अनर्थ प्रदर्शन की वजह से अथवा साधक में दंभ पैदा होने की वजह से कम होता जाता है, हीयमान अवधिज्ञान कहलाता है। जैसे एक अच्छा स्वस्थ आदमी दुर्व्यसनों में पड़ने से बीमार होता जाता है और उसका वज़न कम होता जाता है, ठीक इसी प्रकार का यह अवधिज्ञान होता है।

5. अवस्थित अवधिज्ञान (stable) - जो ज्ञान एक बार होने के बाद मृत्युपर्यंत तक बना रहता है, उसे अवस्थित अवधिज्ञान कहते हैं। जैसे एक आदमी प्रतिक्रमण के पाठ सीख लेता है और वह मृत्युपर्यंत नहीं भूलता, उसी तरह इसे भी समझना चाहिए।

6. अनवस्थित अवधिज्ञान- कुछ साधकों की मनोस्थिति बड़ी विचित्र होती है। वे सरल स्वभावी और सेवाभावी होते हैं, इसलिए उन्हें अवधिज्ञान तो हो जाता है। मगर उनकी बुद्धि बड़ी चलायमान और परावलंबी होती है, ऐसी स्थिति में वे लोगों के बरगलाने से अथवा निमित्तों के प्रभाव से समय-समय पर रूप बदलते रहते हैं और भावों की तारतम्यता के बदलाव के साथ अवधिज्ञान का बढ़ना-घटना, फैलना-सिकुड़ना जारी रहता है, उसे अनवस्थित अवधिज्ञान कहते हैं। जैसे कर्ण को धनुष विद्या का उस समय की आवश्यकता और विकसित विज्ञान के अनुसार संपूर्ण ज्ञान था मगर क्रोध और वैर की तीव्रता के कारण वह समय पर कुछ ज्ञान भूल गया।

तत्त्वार्थ सूत्र में वाचक उमास्वाति ने मात्र इतना ही कहा है कि गुणप्रत्यय (क्षायोपशमिक) अवधिज्ञान के ये 6 भेद होते हैं मगर भेदों का नामोल्लेख कुछ भी नहीं हुआ है। संभव है इस विषय के बारे में वे संशयग्रस्त रहे हो। अतः यहाँ हम अवधिज्ञान के कुछ अन्य भेदों के बारे में विशद वर्णन करना उचित समझते हैं। आत्मज्ञानी पूज्य श्री विराट गुरूजी, जो स्वयं अवधिज्ञान के धारक रहे हैं, उनकी देशना के अनुसार आज की परिस्थिति में हम उसे 16 भेदों में समझाते हैं-

7. केन्द्रप्रकाशित अवधिज्ञान- कई साधकों को अपनी साधना के नियत क्षेत्र में बैठने पर तो अवधिज्ञान होता है

किंतु उस क्षेत्र को छोड़कर अन्य स्थान पर चले जाने के बाद वह ज्ञान नहीं रहता, उसे केन्द्र प्रकाशित अवधिज्ञान कहते हैं। जैसे एक डॉक्टर ऑपरेशन थिएटर में तो ऑपरेशन कर सकता है लेकिन अन्य जगह पर नहीं अथवा कुछ व्यक्तियों को अपने नियत बिस्तर एवं नियत स्थान पर तो नींद आती है लेकिन अन्य जगह अथवा आसन पर नहीं।

8. आत्मप्रकाशित अवधिज्ञान- वह अवधिज्ञान जो ज्ञाता के साथ किसी भी क्षेत्र में साथ ही रहता है, उसको आत्मप्रकाशित अवधिज्ञान कहते हैं। मान लो, एक व्यक्ति को ऐसा अवधिज्ञान हुआ कि पाँच किलोमीटर के क्षेत्र में अवस्थित पौद्गलिक वातावरण को वह देख सकता है, अब वह व्यक्ति चाहे मुम्बई में हो तब भी वह जहाँ बैठेगा वहां से 5 कि.मी. के क्षेत्र में देखेगा और यदि वह दिल्ली आ जाए तो दिल्ली में जहाँ बैठा है, वहाँ से 5 कि.मी. के क्षेत्र को देखेगा। इस प्रकार अवधिज्ञान तो कायम रहेगा किंतु उसका दृश्य बदल जाएगा। मगर केन्द्र प्रकाशित अवधिज्ञानी को जिस स्थान पर अवधिज्ञान हुआ है, वहीं से वह 5 कि.मी. के क्षेत्र को देखेगा और वह भी अपने आसन पर उपस्थित होने पर ही।

9. केन्द्रायण अवधिज्ञान-इस अवधिज्ञान में साधक को जिस क्षेत्र का अवधिज्ञान हुआ है, वह उसी क्षेत्र को देख सकता है, चाहे वह अवधिज्ञानोत्पत्ति के आसन पर हो अथवा अन्य किसी भी क्षेत्र में हो। यह अवधिज्ञान नियत क्षेत्र में हुए परिवर्तनों को ही प्रत्यक्ष करता है, अन्यान्य को नहीं।

10. विषयमूलक अवधिज्ञान- कई बार साधक को इस तरह का अवधिज्ञान होता है कि वह जिस विषय के बारे में जानना चाहे-देखना चाहे, वह उसी विषय को जान पाता है, अन्य को नहीं, ऐसा अवधिज्ञान विषयमूलक अवधिज्ञान कहलाता है। उदाहरण के लिए देवलोकों के देवता अपने किसी इष्ट संबंधी के बारे में जब जानना चाहते हैं तब वे अवधि का उपयोग लगाकर उनके बारे में जान लेते हैं किंतु अन्य के बारे में नहीं।

11. पृच्छामूलक अवधिज्ञान- ऐसे अवधिज्ञान से युक्त पुरूष के सामने जब कोई प्रश्न करता है तो वह उस प्रश्न से संबंधित विषय को तो प्रत्यक्ष कर लेता है, जान लेता है किंतु अन्य को नहीं। कई बार प्रश्न पूछे जाने पर ऐसा साधक जिस शास्त्र अथवा श्रुत को नहीं पढ़ा हो, नहीं देखा अथवा सुना हो फिर भी उसे पृच्छा के समय प्रत्यक्ष कर लेता है, उस सूत्र को सुना देता है, उस प्रश्न का समाधान कर देता है। इस तरह का अवधिज्ञान पृच्छामूलक अवधि ज्ञान कहलाता है।

12. आभ्यंतर अवधिज्ञान- जब अवधिज्ञान द्वारा प्रकाशित क्षेत्र अवधिज्ञानी के साथ संबद्ध होता है, तब वह अवधिज्ञान आभ्यंतर अवधिज्ञान कहलाता है। उदाहरण के लिए नारकों और देवों का अवधिज्ञान। ये अपने अवधिज्ञान द्वारा प्रकाशित क्षेत्र के मध्य में ही (अंतः)रहते हैं, बाहर नहीं।

13. बाह्यगत अवधिज्ञान- जब अवधिज्ञान द्वारा प्रकाशित क्षेत्र अवधिज्ञानी से संबद्ध नहीं रहता, तब वह बाह्यवधि ज्ञान कहलाता है। तिर्यंच पंचेन्द्रियों को तथा कई एक मनुष्यों को इस तरह का अवधिज्ञान होता है।

14. उभयगत अवधिज्ञान- वह अवधिज्ञान जो आभ्यंतर और बाह्य-दोनों प्रकार का होता है, उसे उभयगत अवधिज्ञान कहते हैं। मनुष्यों को इस तरह का उभयगत अवधिज्ञान होता है।

15. पूर्वाभास अवधिज्ञान- यह अवधिज्ञान मात्र मनुष्यों को ही होता है। ऐसा व्यक्ति स्वप्न में, सामायिक में अथवा सहज ध्यान के क्षणों में विश्व में होने वाली घटना को चलचित्र की भाँति देख लेता है और बार-बार भी देखता है। ऐसे अवधिज्ञान वाले जीव खोजने पर कई मिल जाएँगे।

16. आकस्मिकी अवधिज्ञान- इसे समण दर्शन-सूत्रों में प्रतिपाति अवधिज्ञानी भी कहते हैं। जिस प्रकार तेज़ हवा के झोंके से जलता हुआ दीपक अचानक बुझ जाता है, इसी प्रकार किसी निमित्त के कारण प्राप्त अवधिज्ञान अचानक लुप्त हो जाता है, उसे आकस्मिकी अवधिज्ञान भी कहते हैं।

अवधिज्ञान के इन 16 भेदों को हम चार विधाओं से, चार निक्षेपों से; यथा द्रव्य से, क्षेत्र से, काल से और भाव से समझ सकते हैं; जो इस प्रकार है-

1. द्रव्य से- अवधिज्ञानी जघन्य अनंत रूपी द्रव्यों को जानता-देखता है, उत्कृष्ट सब रूपी द्रव्यों को जानता-देखता है।

2. क्षेत्र से- अवधिज्ञानी जघन्य अंगुल के असंख्यातवें भाग मात्र क्षेत्र को जानता व देखता है। उत्कृष्ट अलोक में लोक परिमित असंख्यात खण्डों को जानता व देखता है।

3. काल से- अवधिज्ञानी जघन्य एक आवलिका के असंख्यातवें भाग मात्र काल को जानता व देखता है, उत्कृष्ट-अतीत और अनागत असंख्यात उत्सर्पिणियों और अवसर्पिणियों परिमाण काल को जानता व देखता है।

4. भाव से- अवधिज्ञानी जघन्य अनंत भावों को जानता व देखता है और उत्कृष्ट भी अनंत भावों को जानता व देखता है, किंतु सब पर्यायों के अनंतवें भाग मात्र को जानता व देखता है। इस प्रकार यह अवधिज्ञान बहुआयामी और बहुअपेक्षा वाला है। इसे कई दृष्टिकोणों से समझा जा सकता है। वीतराग वाणी कहती है कि ज्ञान अनेकांत है, अतः इसे किन्हीं रूढ़ परिपाटियों अथवा परंपराओं में सीमित मत समझो, इसे निष्पक्ष रूप से जानो। त्ति बेमि गुरूवचन प्रमाण।

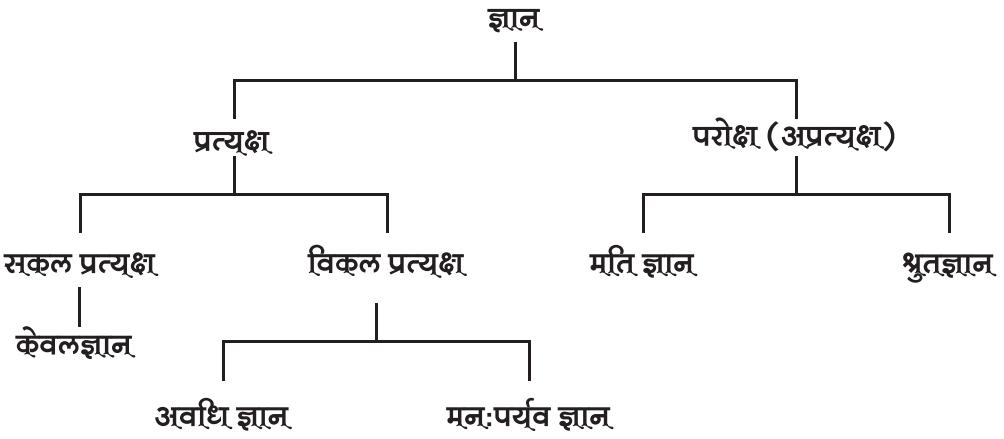

सूत्र-24-25

मन:पर्याय ज्ञान प्रकरण

पिछले 23 वें सूत्र में हमने **अवधिज्ञान** के विषय में जाना, अब आगामी दो सूत्रों में हम मन:पर्याय ज्ञान के विषय में कहेंगे-

सूत्र- ऋजुविपुलमति मन:पर्याय: ।।24।।
विशुद्धयप्रतिपाताभ्यां तद्विशेष: ।।25।।

अर्थ- ऋजुमति और विपुलमति-ये दोनों मन:पर्याय ज्ञान के भेद हैं ।।24।।
विशुद्धि से और अप्रतिपाति होने से विपुलमति मन:पर्याय,
ऋजुमति मन:पर्याय से विशेष है ।।25।।

विवेचन- मन:पर्याय ज्ञान, जैसा कि नाम से ही स्पष्ट है, मन के पर्यायों को जानने की योग्यता का नाम है। जब एक सम्यग्दृष्टा साधक अपने मन का साक्षी होने की योग्यता उजागर कर लेता है, तब किन्हीं क्षणों में उसमें यह लब्धि भी प्रकाशित हो जाती है कि वह सम्मुख आए किसी व्यक्ति के मन की तरंगों को भी साक्षात् कर लेता है। ऐसा साधक जब अपने ज्ञानोपयोग द्वारा किसी अन्य मनुष्य के मन में उठे हुए भावों को देखता-जानता है, तब वो दो तरीकों से जानता है-एक तो सरल और एक घने। ऋजुमति वाला व्यक्ति सीधे-सीधे मनुष्य में उठने वाले भावों को सहज दर्शन की भाँति जानता है। वह उसके भावों की तरंगों को साधारण बुद्धि से ग्रहण करता है, उसका विशेष और अनेकांत विश्लेषण नहीं कर पाता, इसलिए मन: पर्याय ज्ञान के साथ में 'मति' शब्द लगाया गया है। व्यक्ति को मन:पर्यव ज्ञान तो होता है मगर वह उसके अर्थों को अब तक की उसकी जानकारी, संस्कार और सोचने के ढंग से तात्कालिक बुद्धिपूर्वक ग्रहण करता है। मनुष्य के मन में उठने वाले विचारों के कारणों, परिणामों और अन्तर् की गहराईयों की अनेक विधाओं को नहीं ग्रहण कर पाता है, परत-दर-परत विधाओं को नहीं ग्रहण कर पाता है। जैसे कि एक आदमी के मन में भाव उठा कि मेरे साथ ही ऐसा क्यों होता है ? तो वह मात्र इतना जान पाता है कि ऐसा क्यूँ हुआ। जबकि विपुलमति मन:पर्यव ज्ञान वाला व्यक्ति उसके भूत-भविष्य और वर्तमान के कई-कई पहलुओं को एक साथ जान पाता है। इसे यूँ समझो कि एक आदमी की ई.सी.जी. हुई और ऋजुमति वाले डॉक्टर ने देखा कि ग्राफ में कुछ रेखाएँ समानांतर न चलकर ऊपर नीचे जा रही है तो वह मात्र इतना ही जान पाता है कि वह आदमी confused है, उसके विचार गड्मगड् हो रहे हैं, वह परिस्थिति को तो जानता है किंतु उस परिस्थिति के संपूर्ण गणित को नहीं जान पाता है। गोया, नाड़ी देखकर एक डॉक्टर यह तो बता दे कि इसे बुखार है, मगर

मलेरिया है या टाइफाइड है-ये वह नहीं बता पाता है अथवा ग्राफ की रेखाएँ किस समय गड्गमड् होरही है और कौन से विषय पर हो रही है, उसका क्या गणित है, इसकी मति उसमें नहीं होती। यहाँ ध्यान देने योग्य बात है कि दोनों ही ज्ञान होते तो आत्मिक हैं मगर एक प्राकृत ग्राफ की तरह भासित होते हैं, उसके अर्थों में जाने के लिए मति की आवश्यकता होती है इसलिए यहाँ 'मति 'शब्द का प्रयोग हुआ है।

विपुलमति मनःपर्याय ज्ञान का क्षेत्र बहुत ही विस्तृत होता है। वह मन में उठने वाले भावों को कई-कई आयामों से और कई-कई अर्थों से जानता है, फिर भी वह संपूर्ण को नहीं जान पाता। संपूर्ण का ज्ञान तो केवल ज्ञान में ही होता है।

ऋजुमति मनःपर्यव ज्ञान प्रतिपाती होता है किंतु विपुलमति मनःपर्यव ज्ञान अप्रतिपाती होता है। प्रतिपाती का अर्थ है अस्थायी, जो पुनः गिर सकता है, उसे प्रतिपाती कहते हैं। विपुलमति मनः पर्यव ज्ञान एक बार होने के बाद पुनः नहीं गिरता। वहाँ सतत् विकास संभव है।

सूत्र-26

अवधिज्ञान-मन:पर्याय ज्ञान में अंतर

पिछले सूत्र में हम मन:पर्याय ज्ञान के दो भेदों और उनमें रहे हुए अंतर के बारे में जान पाए हैं। अब आगामी सूत्र अवधिज्ञान और मन: पर्यव ज्ञान के आपसी अंतर को प्रदर्शित करता है-

सूत्र- विशुद्धिक्षेत्रस्वामिविषयेभ्योऽवधिमन: पर्याययो: ॥26॥

अर्थ- विशुद्धि, क्षेत्र, स्वामी और विषय की अपेक्षा अवधिज्ञान और मन:पर्याय ज्ञान में भेद है ॥26॥

विवेचन- अवधिज्ञान और मन:पर्यव ज्ञान इन दोनों को उद्भूत होने के लिए पाँचों इंद्रियों की आवश्यकता नहीं है क्योंकि ये अतीन्द्रिय ज्ञान है किंतु मन:पर्यव ज्ञान अवधिज्ञान की अपेक्षा उच्चतर होने के कारण विशुद्ध है। विशुद्ध होने का प्रमुख कारण यह है कि मन:पर्यव ज्ञान सम्यग्दृष्टि को ही घटित होता है, शेष को नहीं जबकि अवधि ज्ञान सम्यग् दृष्टि व मिथ्या दृष्टि दोनों में संभव है तथा चारों गति के जीवों में संभव है। यही कारण है कि अवधिज्ञान का क्षेत्र बड़ा है। मन:पर्यव ज्ञान का क्षेत्र मात्र मनुष्य के मनोवर्गणा के परमाणुओं तक सीमित है। फिर भी वह ज्यादा शुद्ध होने के कारण से विशुद्ध कहलाता है। इसे यूँ समझ सकते हैं कि दो डॉक्टर है। एक M.B.B.S. और एक M.D.। जो M.B.B.S. है, वह सारे रोगियों को देखता है, उसका क्षेत्र विस्तृत है मगर जो विशेषज्ञ है, वह मात्र एक विषय के रोगियों को देखता है मगर उसका ज्ञान उस विषय में अत्यंत गहरा, घना, विस्तृत और विशुद्ध होता है। ठीक ऐसा ही इस विषय के बारे में समझना चाहिए। जो अवधिज्ञानी है वह M.B.B.S. डॉक्टर के समान है और जो मन:पर्यव ज्ञानी है वो M.D. यानि विशेषज्ञ (specialist) के समान। अवधिज्ञान का विषय संपूर्ण लोक के द्रव्य है और स्वामी यानि अवधिज्ञान के धारक चारों गति के जीव हैं। एक अवधि ज्ञाता अपने ज्ञान के दायरे में स्थित समस्त जीवों के शरीरों को एवं अवस्थित वस्तुओं को देखता है मगर मन:पर्यवज्ञानी मन:पर्यव ज्ञान में मात्र उन जीवों की मनो वर्गणाओं को यानि कि मानसिक तरंगों को ही देखता है। अवधि ज्ञान का विषय परमाणु पर्यंत कुछ पर्याय सहित रूपी द्रव्य है किंतु मन:पर्यव का विषय उसका अनन्तवाँ भाग है। अवधिज्ञान स्थूल विषय वाला तथा मन:पर्यवज्ञान सूक्ष्म विषय वाला होता है। मन: पर्यव का विषय मनोगत विकल्प है।

नोट- सहज रूप से तो पहले अवधिज्ञान होता है क्योंकि एक आदमी साधारण ज्ञान प्राप्त करके फिर विशिष्ट ज्ञान प्राप्त करता है। किसी-किसी व्यक्ति को बिना अवधि ज्ञान हुए भी मन:पर्यव ज्ञान हो सकता है। ऐसी स्थिति में वह जीवों को, वस्तुओं को और परिस्थितियों को तो नहीं देख पाता मगर अपने आप्त ज्ञान के दायरे में

अथवा प्रश्नकर्त्ता के मन के भावों को सीधा देख लेता है। ऐसा हम साधारण व्यवहार में भी जानते हैं कि कुछ लोगों ने शिक्षा तो ग्रहण नहीं की है किंतु किसी विषय विशेष के बारे में वे प्राकृत लब्धियों से सब कुछ जान लेते हैं और साथ ही उसका विश्लेषण और निर्णय भी कर लेते हैं। जैसे कई अंगूठाछाप सफल व्यापारी अथवा कोई जन्मजात कवि जिसने कभी भाषा के नियमों का अध्ययन ही नहीं किया हो, किंतु अच्छी कविता करता हो। वैसे भी ज्ञान अक्रम हुआ करता है। विद्या क्रमिक होती है। विद्या का शिक्षण-प्रशिक्षण संभव है किंतु ज्ञान का नहीं। ज्ञान तो अंतर् से उद्भूत होता है, जिसे प्रगटाने के लिए मोह-मद-माया-लोभ व विषयासक्ति के प्रमाद का छूटना ज़रूरी है। जब तक आंतरिक दोषों से मन निर्मल नहीं होता, तब तक पढ़-लिख कर विषय विशेष का विद्वान तो हुआ जा सकता है किंतु ज्ञानी नहीं। ज्ञानी होना है तो मिथ्यात्व, कषाय व प्रमाद से बचकर-जगकर चर्या करो।

सूत्र-27

मति-श्रुत ज्ञान की विषय-सीमा

अवधिज्ञान और मनःपर्यव ज्ञान के विषय क्षेत्र के अंतर को समझने के पश्चात् अब हम इन पाँचों ज्ञानों के विषय क्षेत्र की सीमा का वर्णन करते हैं। यद्यपि ज्ञान का विषय मात्र जानना ही है किंतु कौनसा ज्ञान किस विषय को जान पाता है और कितने विषय क्षेत्र को जान पाता है, यह अलग बात है। जैसे एक बालक भी जानता है, एक युवान् भी जानता है किंतु बालक के ज्ञान का विषय क्षेत्र संकीर्ण होता है जबकि युवान् के ज्ञान का विस्तृत। यह ज्ञान का विषय कई-कई बातों पर निर्भर करता है।

प्रस्तुत सूत्र कहता है कि-

सूत्र- मतिश्रुतयोर्निबंधः सर्वद्रव्येष्वसर्वपर्यायेषु ॥ 27॥

अर्थ- मति ज्ञान और श्रुत ज्ञान इन दोनों का विषय (निबंध) संपूर्ण द्रव्यों में है किंतु उनकी समस्त पर्यायों में नहीं है ॥27॥

विवेचन- ज्ञान के प्रारंभिक दो भेद-मतिज्ञान और श्रुतज्ञान उपयोग रूप से जगत के समस्त जीवों में होते हैं। संसार में ऐसा कोई जीव नहीं जिसके मति और श्रुत का उपयोग न होता हो किंतु सम्यक् दृष्टि होने पर यह उपयोग ज्ञान रूप कहलाता है एवं दृष्टि मिथ्या होने पर अज्ञान रूप। यद्यपि ये उपयोग हर जीवात्मा में है किंतु सभी का क्षयोपशम (योग्यता) भिन्न-भिन्न होने की वजह से सभी के लिए ज्ञान का विषय क्षेत्र भी न्यूनाधिक तरतमता लिए होता है।

प्रस्तुत सूत्र कहता है कि मतिज्ञानी और श्रुतज्ञानी अपनी चरम योग्यता प्रगट होने पर भी समस्त द्रव्यों को तो जान सकते हैं किंतु किसी भी द्रव्य की समस्त पर्यायों अर्थात् समस्त परिवर्तनों (changeable forms) को नहीं ग्रहण कर सकते। चूंकि द्रव्य शाश्वत सत्ता है किंतु पर्याय परिवर्तनशील अनंत रूपात्मक परिणतियाँ है। अतः पर्यायों को संपूर्ण रूप से जान पाना मतिश्रुत ज्ञान के लिए संभव नहीं है क्योंकि मति ज्ञान तो प्रायः वर्तमान ग्राही है, वह पाँच इंद्रियों की सहायता से ही संभव है और वे पाँचों इंद्रियाँ सीमित द्रव्यों को ही जान सकती है किंतु मानस मतिज्ञान की अपेक्षा से मतिज्ञान को रूपी-अरूपी सभी द्रव्यों को कुछ पर्याय सहित जानने वाला कहा गया है। श्रुत ज्ञान 'श्रुत' के आधार पर भूत-भविष्य-वर्तमान तीनों से संबंधित रहता है, वह रूपी-अरूपी समस्त द्रव्यों को सुनकर जान पाता है इसीलिए विशिष्ट श्रुतज्ञानी के लिए 'श्रुत केवली' शब्द का प्रयोग हुआ है किंतु यह भी आत्मप्रत्यक्ष ज्ञान न होने के कारण समस्त पर्यायों को नहीं जान सकता। यदि समस्त पर्यायों को भी जान ले तब तो वह केवल ज्ञान ही हो जाएगा और चूँकि एक द्रव्य की समस्त पर्यायों को जानने वाला समस्त द्रव्य की समस्त

पर्यायों को जान सकता है-'जे एगं जाणइ से सव्वं जाणइ' इसलिए ये दोनों ज्ञान किसी भी द्रव्य की समस्त पर्यायों को ग्रहण नहीं करते हैं। यही कारण है कि प्रभु महावीर ने अनेकांत दर्शन एवं स्याद्वादमयी वाणी की प्ररूपणा की। उनका कहना था कि इस जगत में जो भी ज्ञान व्यक्त होगा, वह कभी भी समस्त पर्यायों को ग्रहण नहीं करेगा, अतः समस्त श्रुत स्यात् है अर्थात् कदाचित् है, अपेक्षा विशेष से ग्रहण करने योग्य ही है, इन्हें सापेक्ष ग्रहो। सापेक्ष ग्रहण करने पर किसी अन्य की अभिव्यक्ति आपको प्रतिकूल नहीं भासित होगी, अशांत व उद्वेलित नहीं करेगी। जब यह समझ में आ जाए कि जो भी कहा जा रहा है, वह संपूर्ण अभिव्यक्ति नहीं है, सर्वपर्यायग्राही नहीं है तो फिर कलह किस बात का? भेद-भाव किस बात का? इस प्रकार यह सूत्र हमें अभिव्यक्ति से उत्पन्न समस्त विवादों को शांत करने का संकेत करता है।

सूत्र कहता है कि मति ज्ञान भी समस्त पर्यायों को नहीं जान सकता अर्थात् एक द्रव्य की अनंत पर्यायें हैं, अनंत रूप हैं, अनेकांत धर्म हैं, उसे आपकी मति पूर्ण रूप से नहीं जान पाएगी क्योंकि मति की सीमा है, वह अपने सीमित क्षेत्र में ही गति करती है। अतः किसी भी वस्तु तत्त्व की समझ लेकर आग्रह न करो। ऐसा न कहो कि 'यह ही ठीक है' अथवा इसका ऐसा ही अर्थ होता है। जहाँ भी 'ही' रूप आग्रह प्रविष्ट हो जाएगा, वहाँ मतिज्ञान ज्ञान रूप न होकर अज्ञान रूप हो जाएगा। अतः सूत्र कहता है कि मति का विषय क्षेत्र मर्यादित है। अतः उस पर ही एकांत विश्वास मत कर लेना। वह रूपी-अरूपी समस्त द्रव्यों को तो जान सकती है, किंतु उसके समस्त रूपों (पर्यायों) को नहीं। अतः जिसे भी पंचेन्द्रियों के माध्यम से ग्रहण करो, उसमें एकांततः रति-अरति अथवा विश्वास-अविश्वास कुछ ना करो। वस्तु स्वरूप को जानो, सुनो, समझो किंतु अपने उपयोग की मर्यादा को मत भूलो अन्यथा तुम अहंकारी होकर अन्य के ज्ञानोपयोग की, अन्य के अभिव्यक्ति (श्रुत की) की आशातना कर बैठोगे और ज्ञान व ज्ञानी की आशातना अर्थात् मति और श्रुत की आशातना तुम्हें उसके निर्मल उपयोग से वंचित कर देगी।

व्यवहार में देखा जाता है कि किसी की समझ थोड़ी है, किसी की ज्यादा; अतः हमें किसी के प्रति निंदा अथवा उपेक्षात्मक दृष्टिकोण नहीं रखना चाहिए। कहा भी है कि-

जाकी जैसी बुद्धि है, वैसी दे दिखलाय।
ताका बुरा न मानिए, वो लेन कहाँ से जाए॥

इस प्रकार प्रस्तुत सूत्र मति और श्रुत की विषय सीमा को निर्देशित करता है। साथ ही हमें यह प्रेरणा भी देता है कि किसी की मति-श्रुत के क्षयोपशम की अवस्था को देखकर तुलना न करो। अपनी या अन्य की मति मंदता पर शोक न करो। 'मुझे तो ज्ञान चढ़ता ही नहीं, कुछ याद रहता ही नहीं', ऐसा बारंबार कथन न करो, अन्यथा यह पुनरूक्ति भी ज्ञानावरण का कारण बन जाएगी। मतिमानों का, श्रुत ज्ञानियों का गुणानुवाद हो तो आत्मयोग्यता प्रकाशित होगी। किंतु ईर्ष्या व द्वेष किया तो ज्ञान और ज्ञानी की आशातना कर बैठोगे। ज्ञान और ज्ञानी की आराधना करो; न कर पाओ तो आशातना से सदा बचो। आशातना दुर्लभ बोधि बनाती है जबकि आराधना सुलभ-बोधि। उत्तराध्ययन सूत्र कहता है कि-

जिणवयणे अणुरत्ता, जिणवयणं जे करेंति भावेणं।
अमला असंकिलिट्ठा य, ते होंति परित्त संसारी॥ (उत्तरा. 36)

अर्थात् जो जिनवचनों में अनुरक्त है, जो भावपूर्वक जिनवचनों की आराधना करते हैं; वे अ-मल, असंक्लिष्ट यानि तनावमुक्त चित्त वाले जीव परित्त संसारी होते हैं। उनका संसार परिभ्रमण सीमित हो जाता है।

सूत्र-28-29

अवधि और मन:पर्यव ज्ञान की विषय सीमा

मतिज्ञान और श्रुतज्ञान से भिन्न समयाकाश को चिह्नित करने वाला अवधिज्ञान कितनी सीमा रखता है, वह कितने पदार्थों को जान-देख सकता है, इसका उल्लेख करते हुए वाचक उमास्वाति जी प्रस्तुत सूत्र संख्या 28 में कहते हैं कि -

सूत्र- रूपिष्ववधे:॥28॥

अर्थ- अवधिज्ञान रूपी पदार्थों को विषय करता है ॥28॥

विवेचन- अवधिज्ञान रूपी पदार्थों को विषय करता है, जानता है। चूँकि जगत के समस्त पुद्गल द्रव्य रूपी होते हैं। षड्द्रव्यों में एक मात्र पुद्गलास्तिकाय ही रूपी है अर्थात् भौतिक है, शेष सभी अरूपी अर्थात् अभौतिक द्रव्य है। रूपी पदार्थ उसे कहते हैं, जिसमें वर्ण-गंध-रस-स्पर्श पाया जाता है; जिनका आकार (form, shape and size) बनता हो, वह रूपी कहलाता है।

अवधिज्ञानी रूप को जान सकता है, भाव को नहीं। घटना को देख सकता है मगर उसके अर्थों को ग्रहण नहीं कर सकता। अर्थ ग्रहण क्षमता व्यक्ति की प्रज्ञा (intelligence) पर निर्भर करती है। अवधिज्ञान, संबंधित व्यक्ति को उतना ही होगा, जितने संस्कार उसमें भरे हुए हैं। यह ज्ञान, उसी क्षेत्र का और उसी समय का होगा, जितने से वह संबंधित रहा हुआ है। यदि प्रश्न होगा तो ही उत्तर होगा, यही प्रकृति का नियम है। कदाचित् कोई अवधि ज्ञानी जंगलों में रहा हो, गाँव-नगर-बस्ती से दूर रहा हो और उसने सभ्यता-संस्कृति को न जाना-समझा हो तो यह भी संभव है कि वह जिसे जानता है, उसे प्रगट नहीं कर सकता है, क्योंकि उसके पास भाषा वर्गणा के पुद्गल नहीं है। उसने संस्कारित बुद्धि प्राप्त नहीं की है। अगर कोई अवधिज्ञानी जानता-देखता है और साथ ही कहता भी है तब भी वह उसी विषय को कह सकेगा जिससे वह अतीत में कहीं संबंधित रहा हो। अवधिज्ञानी ही नहीं बल्कि हर तरह का ज्ञानी पुरूष उस विषय की प्रज्ञा और समझ प्राप्त करता है, उस विषय का मास्टर बनता है, जिस तरह की उसमें जिज्ञासा रही हो, जैसा उसका पूर्व रहा हो, वैसा ही उसका उत्तर होगा।

अगर कदाचित् कोई ज्ञानी अपने ज्ञान को अभिव्यक्त नहीं करता है तो इसका मतलब यह कदापि नहीं समझना चाहिए कि वह ज्ञानी नहीं है अथवा कम ज्ञानी है। उसके भीतर शब्दकोष का अभाव हो सकता है अथवा शब्दों में भावों को परिणत करने की संज्ञा का अभाव हो सकता है। इसी तरह जो बोलता है तो यह ज़रूरी नहीं कि वह जानता भी हो। कदाचित् कोई जानता है किंतु कहता नहीं और कदाचित् कोई कहता है किंतु जानता नहीं।

अवधिज्ञान लोक प्रमाण रूपी पदार्थों को विषय करता है किंतु समय की असंख्य गहराई तक ही जानता

देखता है। अवधिज्ञान का विषय मनःपर्यव ज्ञान की अपेक्षा अधिक है। अब आगे के सूत्र में मनःपर्यव ज्ञान का विषय क्षेत्र बताया जा रहा है।

सूत्र- तदनन्तभागे मनः पर्यायस्य ॥29॥

अर्थ- मनःपर्यव ज्ञान रूपी पदार्थ के अनन्तवें भाग मात्र को ही जानता है ॥29॥

विवेचन- अवधिज्ञान की विषय सीमा के अनन्तवें भाग को मनःपर्यव ज्ञान विषय कर पाता है। मनःपर्यव ज्ञान भी रूपी पदार्थ को ही देखता है। यह भी पौद्गालिक ज्ञान ही होता है। मगर बहुत सूक्ष्म होता है। यह आकाशगत स्थान की अवधि को नहीं देखता, मात्र व्यक्ति-दर-व्यक्ति मनोवर्गणा के पुद्गलों को ही देखता है। जहाँ अवधिज्ञान करोड़ों-अरबों मील अथवा संपूर्ण लोक के दायरे को देख सकता है, वहाँ मनःपर्यव ज्ञान मात्र विवक्षित व्यक्ति अथवा समुदाय की मनोवर्गणा ही देखता है। इस अपेक्षा से यह लोक के संपूर्ण रूपी पदार्थ के मात्र अनन्तवें भाग को ही देखता है मगर उसमें भावों के अर्थों की समझ होती है। अतः मनःपर्यव ज्ञानी व्यक्ति में उठने वाले भावों को समझ जाते हैं। सूत्रों में ऐसे उदाहरण मिलते हैं कि शिष्य अथवा सावक समुदाय जब भगवान के पास जाते हैं, तब भगवान पहले ही कह देते हैं कि तुम्हारे मन में अमुक भाव थे। साधारण भाषा में ऐसे तुरीय ज्ञानी को अन्तर्यामी कहा जाता है। ऐसा व्यक्ति प्रश्नकर्त्ता के अथवा श्रोता के मन की दशा पहले से ही बता सकता है। कहते हैं कि गौतम स्वामी प्रभु महावीर को शास्त्रार्थ में पराजित करने के लिए गए थे मगर प्रभु ने उनके मन की दशा पहले ही बता दी। हालाँकि वे केवलज्ञानी थे, जिसमें सारे ज्ञान समाविष्ट हो जाते हैं मगर मनःपर्यव ज्ञान के विज्ञान को समझाने की दृष्टि से हम यह कह रहे हैं। मनःपर्यव ज्ञान चाहे कितना ही विशुद्ध हो, अपने द्वारा ग्राह्य द्रव्यों के संपूर्ण पदार्थों को नहीं जान सकता। यद्यपि मनःपर्यव ज्ञान के द्वारा केवल चिंतनशील मूर्त मन का ही साक्षात्कार होता है, परंतु बाद में होने वाले अनुमान से उस मन के द्वारा चिंतन किए गए मूर्त-अमूर्त सभी द्रव्य जाने जा सकते हैं।

सूत्र-30

केवलज्ञान का विषय-क्षेत्र

अब मति, श्रुत, अवधि और मनःपर्यव-इन चारों ज्ञानों के विषय क्षेत्र को बताने के पश्चात् केवल ज्ञान का विषय क्षेत्र निम्न सूत्र में बताया जा रहा है-

सूत्र- सर्वद्रव्यपर्यायेषु केवलस्य ॥30॥

अर्थ- केवल ज्ञान सभी द्रव्य और सभी पर्यायों को जानता है ॥30॥

विवेचन- प्रश्न उठ सकता है कि वह कैसा होता है ? मगर सच्ची बात यह है कि इसका उत्तर हम ऐन्द्रिक ज्ञान वाले आदमी क्या दे सकते हैं जिन्होंने कभी केवल ज्ञान का अनुभव ही नहीं किया। निश्चय बात तो यह है कि केवल ज्ञान को ऐन्द्रिक ज्ञान के सहारे समझा भी कैसे जा सकता है ? अतः हमारे अनुसार केवल ज्ञान वह ज्ञान है, जिसे मात्र केवली ही समझता है मगर वह भी जन साधारण को समझा नहीं सकता। इसका यह अर्थ नहीं है कि ज्ञानी की समझ और योग्यता में कहीं कोई अपूर्णता होती है बल्कि वस्तुस्थिति यह है कि समझने वाले की समझ बहुत छोटी होती है। चम्मच से सागर को नापना भला संभव कहाँ ?

केवल ज्ञान की विचित्रता, मौलिकता, अभंगता का अंदाज़ तो हम मात्र इस बात से लगा सकते हैं कि जिस ज्ञान को हम लोगों ने समझने और समझाने के लिए अनंत कहा है, उसे इस ज्ञान से आप्त परमात्माओं ने मात्र 'केवल' कहा है। उन्होंने तो यह भी घोषणा नहीं की कि हमें अनंत ज्ञान हुआ है। उन्होंने तो घोषणा की कि हमें वह ज्ञान हो गया है, जहाँ सारे ज्ञान अशेष हो जाते हैं। 'ज्ञानांत केवलम्' अर्थात् ज्ञान का अंत हो जाना केवल है इसलिए उन्होंने कहा कि हमें तो मात्र ज्ञान हुआ है। हम बिना त्रियोगों की सहायता के मात्र जान-देख रहे हैं। (The State of knowing which is completely independent of senses.) यह ज्ञान 'केवल' होते हुए भी समझने और समझाने की दृष्टि से अनेकांत होता है, फिर भी हम पाठकों की सुविधा के लिए कुछ और तरीकों से विवेचन करेंगे।

केवलज्ञान वह ज्ञान है जहाँ ज्ञान-विज्ञान के अनेक पहलुओं का एकाकार भान होता है, विषय की समस्त विधाओं को ज्ञानी एक साथ देखता है। अन्य अपेक्षा से कहें तो केवल ज्ञान वह ज्ञान है, जहाँ भूत-भविष्य और वर्तमान को एक साथ देखा जाता है। एक अन्य दृष्टिकोण से ऐसा कहना ज्यादा उचित होगा कि केवल ज्ञान वह ज्ञान है-जहाँ न भूत होता है, न भविष्य होता है; वहाँ मात्र वर्तन को और उस वर्तन से होने वाले परिणामों को एकसाथ देखा जाता है। इसे हम इस प्रकार से समझ सकते हैं कि साधारण व्यक्ति इंद्रियों की सहायता से किसी भी घटना के प्रारंभ से अंत तक को क्रमशः देख पाता है मगर केवली अक्रम, एक साथ देखता है।

केवल ज्ञान, वह ज्ञान है जिसमें संपूर्ण लोक को, भौतिकी के अनुसार घटनामय, आध्यात्मिकी के अनुसार भावमय, हर समय और सनातन देखा जाता है। इसलिए यह वह ज्ञान है जो हर समय अभिनव होता है, अतः हर समय आनंदमय होता है। जिस प्रकार एक glass prism में प्रकाश की (सफेद) किरण को सात रंगों में एक साथ देखा जा सकता है, ठीक उसी तरह यह ब्रह्मज्ञान केवल, मात्र दर्पण (mirror) की तरह ज्ञान होता है जिसमें समस्त संसार की समस्त (अनंत) विधाएँ भूत-भविष्य और वर्तमान के अनंत घटन को हर क्षण, हर समय निरंतर एवं संपूर्ण देखा जा सकता है।

सार रूप से हम कह सकते हैं कि केवल ज्ञान अनंत आयामों से सराबोर वह अंतिम ब्रह्मज्ञान है जिसे जानने के बाद और कुछ भी जानने के लिए शेष नहीं रहता, जिसे जानने के बाद आत्मा सर्वसृष्टि का जेता-जिन हो जाता है अथवा सारे लोक का नाथ हो जाता है; उस अनंत ज्ञान को, जो अनंत होते हुए भी मात्र केवल होता है, 'केवल ज्ञान 'कहते हैं।

इस प्रकार हम समझ सकते हैं कि केवलज्ञान वह ज्ञान है जो ऐन्द्रिक क्षमता का मोहताज नहीं होता, न ही आत्मा के उपादान का मोहताज होता है क्योंकि ये स्वयं आत्मा ही होता है, स्वयं योग्यता ही होता है, वहाँ ज्ञान-ज्ञाता और ज्ञेय में कोई भेद नहीं रहता। अन्य ज्ञान साकार होते हैं, अतः अनेकांत रूप ज्ञान के संपूर्ण पक्ष को नहीं देख जान पाते मगर केवल ज्ञान निराकार होता है, मात्र होता है, केवल होता है; अतः वह संपूर्ण को, बिना किसी विषय भेद के, एक साथ देखता है, इसलिए उसे किसी प्रज्ञा की आवश्यकता नहीं रहती। 'प्रज्ञा' अपने आप में जड़ बंधन है, पौद्गलिक अनुभूति है। सिद्ध भगवान केवली तो होते हैं मगर न उनमें कोई लेश्या शेष रहती है, न कोई प्रज्ञा। केवल ज्ञान में सब कुछ देखा-जाना तो जा सकता है मगर वह सब कुछ निराकार होता है। अतः व्याख्या की आवश्यकता नहीं रहती है। अर्हंत् भगवान मात्र इसलिए देशना दे पाते हैं कि उनमें पूर्व नियोजित नियाणे (निदान) अर्थात् तीर्थंकर नाम-गोत्र की वजह से प्रज्ञा शेष रहती है। 'प्रज्ञा' से हमारा अर्थ है-वह योग्यता, जिससे हम अपनी अनुभूति को दूसरों की समझ के अनुसार शब्दों में व्यक्त कर सकें।

यही कारण रहा है कि 'धर्म देशना 'हमेशा तीर्थंकर ही देते हैं। उनके शिष्य भी अपने गुरू (तीर्थंकर) की आज्ञा से, उनकी दृष्टि में, उनकी आज्ञा में तब तक ही धर्मदेशना देते हैं जब तक कि उन्हें चार ज्ञान रहते हैं, केवल ज्ञान नहीं हो जाता। भगवान गौतम स्वामी ने धर्म प्रभावना के लिए तब तक ही देशना दी, जब तक उन्हें केवल ज्ञान नहीं हुआ। भगवान महावीर के निर्वाण के पश्चात् वे तुरंत ही केवल ज्ञान को उपलब्ध हो गए, उसके बाद आयुष्य कर्म शेष रह जाने के कारण वे बारह वर्ष तक जीए मगर फिर भी उन्होंने कभी देशना नहीं दी। उसके बाद देशना का कार्य सुधर्मा स्वामी ने ही संभाला। सुधर्मा स्वामी के केवली होने के बाद यह कार्य जंबू स्वामी ने संभाला, उसके बाद ये परिपाटी आज तक चल रही है।

इस प्रकार 'केवलज्ञान 'समस्त द्रव्यों एवं द्रव्य की समस्त पर्यायों को जानता-देखता है। अब यहाँ एक प्रश्न उठता है कि जब केवल ज्ञान सब कुछ जानता-देखता है तब तो हर चीज पूर्वनियत हो गई और जैन दर्शन भी नियतिवादी हो गया। जीव को क्या करना, क्या नहीं करना, वह क्या करेगा, क्या नहीं-एक केवलज्ञानी सब कुछ जानता है तो फिर सब कुछ प्रीडिसाइडेड (pre-decided) ही हुआ, पूर्वनिश्चित ही हुआ। किंतु ऐसा नहीं है। केवलज्ञान समय का ज्ञान है, इसमें भूत अथवा भविष्य का भेद नहीं रहता है। समग्र समय आत्मा में एकसाथ झलकता है, किंतु इसका अर्थ यह नहीं है कि सब कुछ स्थिर है, पूर्वनियत है। जीव ने अपनी विभाव दशा से जो कुछ कर्मकण इकट्ठे कर रखे हैं, वे निर्जरित होते समय क्या घटनाक्रम उपस्थित करेंगे-यह तो वह केवली जानता

है, क्योंकि वे घटनाएँ बन चुकी है, किंतु उस पूर्वबद्ध की निर्जरा होने के क्षण में जीव क्या नया भाव प्रसारित करेगा- यह केवली नहीं जानते, क्योंकि हर जीव भाव करने के लिए हर समय स्वाधीन है। वर्तमान में भाव-प्रसारण के लिए हर जीव स्वतंत्र होता है लेकिन पूर्व में बँधे कर्मफल को भोगने के लिए परतंत्र होता है। चूँकि जीव का हर पल का नया कल्प प्रसारण ही 'पुरूषार्थ' है, अतः जैन दर्शन नियतिवादी नहीं है, वह पुरूषार्थ को प्रधानता देता है। कर्म-फल भोग नियत होते हुए भी उस क्षण का प्रतिसंवेदन अनियत है, वह उसी क्षण की जीव की भाव क्षमता पर निर्भर है; अतः वह नया कल्प केवली तभी देख रहे हैं, जब कि वह किया जा रहा है। यही कारण है कि केवली का ज्ञान हर पल नूतन है। वह हर क्षण नया है। यहाँ नियतिवाद एकांत सत्य नहीं है। जो घटनाएँ नियत है, उन्हें भी भोगते समय जो भाव-प्रसारण होगा, वह अनियत है। यह भाव-प्रसारण ही 'पुरूषार्थ' है और यही प्रधान भी है क्योंकि यही नया बंध है। केवल ज्ञानी अपने ज्ञान में, समय में हो रहे हर परिवर्तन को देख रहे हैं, यही इस ज्ञान की विशालता, नूतनता और विचित्रता है। इस प्रकार यह केवल ज्ञान सर्वद्रव्य एवं सर्वपर्यायों को जानता है। यह ज्ञान हर क्षण नूतन है, इसलिए सदा आनंद ही है। व्यवहार नय से ऐसा कह सकते हैं कि केवलज्ञानी सर्वद्रव्य और सर्वपर्यायों को जानता है किंतु निश्चय से तो वह मात्र स्वयं को ही जानता व वेदता है। यह बात और है कि उसके 'स्व' में सर्व समाहित है व सर्व में 'स्व'। अब कोई भेद नहीं रहा 'स्व' और 'सर्व' का। जो वह है, वही ब्रह्माण्ड है और जो ब्रह्माण्ड है, वही वह स्वयं है।

सूत्र-31

एक समय में कितने ज्ञान ?

इसके पूर्व सूत्र में हम मति आदि पाँचों ज्ञानों के विषय क्षेत्र का वर्णन कर चुके हैं। इन पाँचों ज्ञानों में से एक साथ कितने ज्ञान रह सकते हैं, उसका वर्णन निम्न सूत्र में है-

सूत्र- एकादीनि भाज्यानि युगपदेकस्मिन्ना चतुर्भ्यः॥31॥

अर्थ- एक आत्मा में एक साथ एक से लेकर चार तक ज्ञान विकल्प से अनियत रूप से होते हैं ॥31॥

विवेचन- यद्यपि ज्ञान आत्मा का मूल गुण है, वह उससे कभी भिन्न नहीं होता किंतु आवरण छा जाने के कारण वह कुछ प्रगट रहता है, कुछ अप्रगट। जबकि सारे ही आवरण समाप्त हो जाए तो भेद करने को कुछ बचता ही नहीं, और तब मात्र 'केवल' रहता है। वह केवल ज्ञान है जिसके होने पर ज्ञान के सारे भेद-प्रभेद तिरोहित हो जाते हैं, अतः वह एक अशेष ज्ञान रहता है। शेष सारे भेद क्षायोपशमिक ज्ञानों की वजह से हैं। चूंकि आत्मा के उपयोग गुण पर आवरण (ज्ञानावरण) आ जाने की वजह से कुछ ज्ञानांश तो प्रगट हो पाता है, किंतु कुछ आवरित रहता है। जब प्रगट हो पाता है, तब कम से कम ज्ञान उसके साथ रहते हैं। जब दो ज्ञान होते हैं तब मति और श्रुत ज्ञान होते हैं, क्योंकि पाँच ज्ञानों में से ये दो ज्ञान युगल है, ये सदा इकट्ठे ही रहते हैं। मति-श्रुत चाहे ज्ञान रूप हो, चाहे अज्ञान रूप, इनका जोड़ा है और ये संसार की प्रत्येक जीवात्माओं में पाया जाता है। शेष तीनों ज्ञान एक-दूसरे को छोड़कर भी रह सकते हैं। जब किसी चेतना में तीन ज्ञान प्रगट रूप होते हैं तब वे मति, श्रुत व अवधिज्ञान भी हो सकते हैं तथा मति, श्रुत एवं मनःपर्यव ज्ञान भी हो सकते हैं। मनःपर्यव, अवधिज्ञान के बिना भी हो सकता है। किंतु जब एक साथ चार ज्ञान होते हैं तब मति, श्रुत, अवधि एवं मनःपर्यव ज्ञान-ये चारों होते हैं, क्योंकि ये चारों ही ज्ञान क्षायोपशमिक है अतः एक साथ हो सकते हैं किंतु जब केवल ज्ञान होता है तब मात्र एक ज्ञान ही रहता है क्योंकि वह पूर्ण है, पूर्ण के साथ अपूर्ण की गुंजाईश नहीं। वे सब पूर्ण ज्ञान में ही समाहित हो जाते हैं।

यद्यपि एक समय में आत्मा का उपयोग किसी एक ज्ञान रूप ही होता है तथापि लब्धि क्षमता के अनुसार चार ज्ञानों का एक साथ होना बताया गया है। जब आत्मा मतिज्ञान में उपयोगपूर्वक होती है, उसी समय में श्रुत आदि का उपयोग नहीं होता है क्योंकि समय बड़ा सूक्ष्म है और एक समय में एक ही उपयोग संभव है, दो-तीन आदि इकट्ठे नहीं।

अब प्रश्न उठ सकता है कि केवल ज्ञान होने के एक क्षण पूर्व तक जीवात्मा में चार ज्ञान हो सकते हैं, तब केवल ज्ञान के उदित होते ही वे चारों ज्ञान कहाँ चले जाते हैं ? क्या वे उसी में विलीन हो जाते हैं अथवा समाप्त हो

जाते हैं । इसे एक उदाहरण द्वारा हम समझेंगे कि मान लीजिए आत्मा एक दर्पण है, उस पर एक पर्दा लगा है जो कि ज्ञानावरणीय कर्म का है। अब उस पर्दे में एक-दो-तीन या चार छेद ज्यादा से ज्यादा हो सकते हैं। इन चार छेदों के होने का अर्थ चार ज्ञान (मति, श्रुत, अवधि व मनःपर्यव) का होना है। अब कदाचित् कोई उस पर्दे को वहां से पूर्णतः हटा ले, तो जिन छिद्रों द्वारा दर्पण दिखाई दे रहा था, वे छिद्र अब कहाँ गए ? छिद्र समाप्त हो गए क्योंकि पर्दा दूर हो गया, ठीक इसी प्रकार केवल ज्ञान प्रगट होने पर क्षयोपशम रूपी छिद्रों से प्रगट होने वाला ज्ञान समाप्त हो जाता है, वह बचता ही नहीं। अतः यह प्रश्न भी गिर जाता है कि चार ज्ञान कहाँ गए ?

संख्या भेद अपूर्ण अवस्था में ही संभव है। उपयोग की अशुद्धि के कारण ही ज्ञान के भेद है। जहाँ 'उपयोग' संपूर्ण रूप से शुद्ध हुआ, वहाँ कोई भेद-प्रभेद नहीं बचता। वहाँ मात्र ज्ञान रहता है, जिसे निर्ग्रंथ दर्शन 'केवल' कहता है, बौद्ध दर्शन 'शून्य', वैदिक दर्शन 'पूर्ण' और वेदांत 'ब्रह्म'।

सारांश यही है कि ज्ञान में भेद नहीं है। वह तो अभेद है। उसकी कोई सीमा नहीं, सारे भेद हमारी योग्यताओं की न्यूनाधिकता की वजह से है। हमारे आवरणों की वजह से है। मोहनीय के कारण यानि जीव की विभाव दशा के कारण ही उपयोग अशुद्ध हो जाता है और ज्ञान न केवल विविध भंगों में व भेदों में दिखलाई पड़ता है, बल्कि विपरीत रूपों में भी परिणमित हो जाता है। ज्ञान, अज्ञानरूप भी हो जाता है। यही बात अगले सूत्र में कही जा रही है।

सूत्र-32

तीन ज्ञान हो सकते अज्ञान

इससे पूर्व सूत्र में पाँच ज्ञान में से एक साथ कितने ज्ञान हो सकते हैं, इस संबंध में हमने विस्तृत जानकारी प्राप्त की। अब इस सूत्र में उपयोग के बारह भेदों में जिन तीन अज्ञान का वर्णन मिलता है, उसे कहा गया है। सूत्र कहता है कि-

सूत्र- मतिश्रुताऽवधयो विपर्ययश्च ॥32॥

अर्थ- मति, श्रुत और अवधि ये तीनों ज्ञान विपरीत भी होते हैं ॥32॥

विवेचन- सूत्र कहता है कि पाँच ज्ञानों में से तीन ज्ञान ऐसे हैं जो कि अपने विपरीत रूप के साथ भी हो सकते हैं यानि कि मति ज्ञान मति अज्ञान के रूप में भी हो सकता है। श्रुत ज्ञान रूप भी हो सकता है और अज्ञान रूप भी। ठीक इसी तरह अवधि अज्ञान रूप भी हो सकता है और ज्ञान रूप भी। इन तीनों ज्ञानों का विपर्यास अज्ञान कहलाता है। अज्ञान का अर्थ ज्ञान का अभाव नहीं है। अज्ञान का अर्थ अल्पज्ञान भी नहीं है। 'अ' विशेषण अभाव अथवा अल्पता का सूचक न होकर कुत्सित अर्थ का सूचक है। परिभाषा इस प्रकार है कि-'कुत्सित ज्ञानं अज्ञानम्।' अर्थात् वह ज्ञान जो मलिन है अज्ञान है। ऐसा ज्ञान जिसमें ज्ञाता सम्यक् अवस्था वाला नहीं है, सम्यक् दर्शनयुक्त नहीं है, वह ज्ञान 'अज्ञान' रूप है। मिथ्यादृष्टि का ज्ञान 'अज्ञान' कहलाता है।

जब जानने वाला अपने उपयोग द्वारा निरपेक्ष एवं निष्पक्ष रूप से वस्तु को ग्रहण करता है-तब वह जानना 'ज्ञान' कहलाता है, इसके विपरीत जब ज्ञाता सपक्ष, आग्रह सहित, धारणाओं एवं मान्यताओं से एकांगी बनकर विषय-वस्तु को जानता है, तब वह जानना भी 'अज्ञान' रूप कहलाता है। यद्यपि विषय-वस्तु तो तटस्थ ही रहती है, ज्ञान हो अथवा अज्ञान विषय-वस्तु तो जैसी है, वैसी है। उदाहरण के लिए टेबल, कुर्सी, गाय अथवा जीव, अजीव, पुण्य-पाप इत्यादि। जितने भी ज्ञेय पदार्थ हैं, वे तो जैसे हैं वैसे ही हैं किंतु जब वे सम्यक् दर्शन युक्त चेतना द्वारा देखे-समझे जा रहे हैं तो उनका परिणमन यथार्थ रूप में होगा, अतः वो ज्ञान कहलाएगा किंतु जब मिथ्यादृष्टि उन्हें देखेगा तो उन विषय-वस्तुओं का परिणमन उसके मोह के कारण से मेरे-तेरे रूप में होगा। जैसे कि 'मेरी गाय है', 'यह मेरी टेबल-कुर्सी है' ऐसा जानना तटस्थ न रह पाने के कारण उस व्यक्ति विशेष के लिए ज्ञान न होकर अज्ञान रूप होगा। अज्ञान रूप होने से वह विषय-वस्तु को किसी न किसी विशेषण अथवा कल्पना से जोड़कर ही देखेगा एवं तदनुसार ग्रहण करेगा। तेरा-मेरा, अच्छा-बुरा, अपना-पराया आदि ढेरों विशेषणों रूपी चश्मों से जानकारियों को ग्रहण करने के कारण वह ज्ञान अज्ञान हो जाएगा, यथार्थ न रह कर काल्पनिक या आरोपित हो जाएगा। कहने का तात्पर्य यह है कि ज्ञाता के दृष्टिकोण के कारण ही ज्ञान-अज्ञान में भेद होता है, ज्ञेय

पदार्थों के कारण नहीं। पदार्थ तो यथार्थ (as it is) है किंतु ज्ञाता का दृष्टिकोण यदि यथार्थ है तो उसका उपयोग ज्ञान रूप है अन्यथा विपर्यास होने के कारण अज्ञान रूप है।

सम्यक् दृष्टि को संशय या भ्रम न हो-ऐसा नहीं है किंतु सम्यक् दृष्टि का संशय उसे जिज्ञासा की ओर उन्मुख करता है जबकि मिथ्यादृष्टि का संशयात्मक ज्ञान उसे संदेहयुक्त ही बनाए रखता है। वह सत् का खोजी नहीं हो पाता। सम्यक् दृष्टि का ज्ञान भी किसी समय अंधकार आदि अन्य कारणों के होने पर अनुपयुक्त हो सकता है किंतु फिर भी वह उसमें एकांत का आग्रही नहीं होगा वरन् अनेकांत का उपासक होगा।

सम्यक् दृष्टि को किसी पक्ष विशेष के लगाव का आग्रह नहीं रहता, हठ, ज़िद्द या मतांधता नहीं होती। हाँ ! वह यथार्थ को देखकर अपने लक्ष्य के प्रति दृढ़ता ज़रूर रखता है किंतु मिथ्यादृष्टि के ज्ञान में अहंकार, पक्षपात, हठवादिता, मतांधता आदि होने से उसका ज्ञान दूषित होकर अज्ञान रूप हो जाता है।

इस प्रकार ये तीनों ज्ञान विपर्यास होने पर अज्ञान रूप भी हो जाते हैं। अब यह प्रश्न भी उठ सकता है कि प्रारंभिक इन तीनों ज्ञानों को अज्ञान रूप भी माना है किंतु मनःपर्यव ज्ञान को नहीं, ऐसा क्यों ? इसका कारण यह है कि मनःपर्यव ज्ञान जिज्ञासा दृष्टि (सम्यक् दृष्टि) वाले को ही हो सकता है। जब तक जीव मिथ्यादृष्टि वाला है, तब तक वह किसी के मन की पर्यायों को देखने-समझने में सक्षम नहीं हो सकता है। क्योंकि वह सत्य को देखे बिना मात्र मान लेता है। चूँकि मान लेना जिज्ञासा को समाप्त कर देता है। ऐसी स्थिति में वह किसी के मन की बात कैसे जान सकता है। हाँ, वह अपने भ्रमित मन के आरोपों को दूसरों पर मढ़ सकता है। वह अपने मनगढ़ंत मत लगा सकता है कि 'दूसरे के मन में यह भाव है' और ये सब वो वैसे ही लगा सकता है, जैसा वह खुद होता है। अर्थात् चोरों को सारे नज़र आते हैं चोर। तो ऐसा व्यक्ति जो अपने हिसाब से आइडिया लगा लेता है, फिर उसे आरोपित भी कर देता है; उसमें जिज्ञासा रह ही नहीं पाती। अतः उसे मनःपर्यव ज्ञान नहीं हो सकता। मनःपर्यव ज्ञान उसे ही होता है जो सतत् निरपख जिज्ञासा से भरे होते हैं। अतः मनःपर्यव ज्ञान अनेकांत दर्शन युत निर्मल चित्त में प्रगट होता है, किसी मताग्रही को यह ज्ञान संभव नहीं। जबकि अवधि ज्ञान योग साधना आदि के बल पर अथवा भव विशेष के कारण अज्ञानी को भी प्रगट हो सकता है इसलिए अवधि अज्ञान रूप भी हो सकता है। अवधि अज्ञान को विभंग ज्ञान भी कहा जाता है। विभंग का अर्थ है 'टुकड़ों-टुकड़ों में बँटा हुआ ज्ञान'। विपरीतता लिए ज्ञान यानि अज्ञान।

हमें यहाँ समझ लेना चाहिए कि ज्ञान की कमी को अज्ञान नहीं कहा गया है। बल्कि ज्ञान की कमी ही वह तत्त्व है जो व्यक्ति को जानने की प्रेरणा देता है। उसे जिज्ञासा कहा गया है। जिज्ञासा तो समकित आत्मा में बनी ही रहती है और तब तक बनी रहती है जब तक आत्मा आप्त नहीं बन जाती। अरहंत नहीं बन जाती। वह नहीं जान लेती जिसे जानने के बाद कुछ भी जानने के लिए शेष नहीं बचता। यहाँ अज्ञान का आशय है कि चूंकि ज्ञान अनेकांत ही होता है, अतः उसके किसी आयाम विशेष को संपूर्ण नहीं माना जा सकता। मगर व्यक्ति उस अँधेरे व अल्पपक्षीय ज्ञान को ही चरम-ज्ञान मान लेता है तो वह अज्ञान बन जाता है। कहते हैं आधा भरा घड़ा हमेशा छलकता है। इस प्रकार व्यक्ति का अधूरा ज्ञान छलकने लगता है। यह छलकन छलावा बन जाती है। व्यक्ति मान लेता है कि 'मैं सब कुछ जानता हूँ।' वह घमंड के नशे में भर कर विकृत हो जाता है। फिर आग्रहवादी हो जाता है। अपनी धारणा को दूसरों पर लादता फिरता है। या यूँ कह दो कि अक्ल की उल्टियाँ (कै, vomit) करना शुरू कर देता है। ज्ञान की इस झूठी समझ को यहाँ अज्ञान कहा है। अर्थात् जो संपूर्ण सम्यक् ज्ञान नहीं है, उसे ज्ञान समझकर वर्तना अज्ञान है। अपने अज्ञान को जानना, सतत् जानते रहना, किसी प्रकार की धारणा में नहीं बंधना, ना ही

अटकना-यह ज्ञान प्राप्ति का पथ है।

ज्ञान हमेशा तभी सत्य सनातन होता है, जब अनुभव में उतर जाता है अर्थात् दर्शन हो जाता है, वेद-अनुवेद-सम्वेद द्वारा सत्य को निराकार जान लिया जाता है। उससे पहले ही किसी द्वारा कही-सुनी बात, चाहे वह सत्य है चाहे असत्य, मात्र धारणा के बल पर मान कर उसमें गृद्ध हो जाना यानि आसक्त हो जाना, बंध जाना अज्ञान है। यह अज्ञान नशा होने की वजह से चेतना का विभाव है और वह आवरण रूप होता है, जो ज्ञानावरणीय है। अज्ञानी व्यक्ति नशे में उस खंडित या विकृत जानकारी को सर्वथा सत्य मान लेता है। फिर उसे दूसरों पर बलात् लादना चाहता है। अतः आग्रहशील होता है। जिसके बारे में वह कुछ भी नहीं जानता, उस भगवान के काल्पनिक व धारणाबद्ध स्वरूप पर घंटों आख्यान करता रहता है। इस प्रकार यह सब कुछ अज्ञान है। अज्ञान का अर्थ यह हुआ कि यह ज्ञान नहीं है। ज्ञान है-विषय वस्तु के स्वभाव को निष्पक्ष, निरपेक्ष व मात्र शोध-जिज्ञासा के भाव से जानना। साक्षी भाव से वेदन करना।

हम कह सकते हैं कि ज्ञान बस ज्ञान होता है। जानने की सतत् क्रिया (Knowing) 'मैं जान चुका हूँ' यह भाव पनपते ही जिज्ञासा समाप्त हो जाती है। आगे जानने का रास्ता ही बंद हो जाता है। आदमी ज्ञान गर्व के नशे में झूम उठता है और नए सत्य को पाने से वंचित ही रहता है। इस अधूरे सत्य को सत्य समझने की जो पक्षदृष्टि है, उसे अज्ञान कहा गया है। मोह के प्रभाव में ज्ञान अज्ञान रूप होता है। मोह चाहे किसी विषय-पदार्थ का हो, व्यक्ति के प्रति हो, वस्तु के प्रति हो अथवा वाद-सिद्धांत-परिपाटी व आदर्श धारणा के प्रति हो। जब तक मोह-मूर्च्छा रहती है, तब तक यथार्थ ज्ञान यानि सम्यग्दृष्टि संभव नहीं होती। मनःपर्यव ज्ञानी हर समय यथार्थ जानता रहता है। मगर वह कभी मति, श्रुति या अवधि ज्ञानी की तरह आरोपण-प्रत्यारोपण नहीं करता। अतः मनःपर्यव ज्ञान में ज्ञान हमेशा सतत् रहता है। अगर वह प्रतिपाती न हो तो उसका जानना कभी समाप्त नहीं होता। मति, श्रुति या अवधि में किसी विषय-वस्तु को देख-सुनकर मान लिया जाता है, तब नया जानना समाप्त हो जाता है-वही अज्ञान है। अवधि ज्ञान में भी वस्तु सत्य दिखती है मगर व्यक्ति उसका विश्लेषण कई बार अपनी भ्रमित धारणाओं के आधार पर कर लेता है अथवा जो दिखता है, वह अनेकांत वस्तु का एकायामी ज्ञान होता है। मगर व्यक्ति अपने घमंड में उसे सर्वथा सत्य मान बैठता है। इस प्रकार प्रज्ञा की कमी से वह अवधिज्ञान विभंग ज्ञान बन जाता है। जैसे कि शिवराजर्षि ने सात द्वीप-समुद्र को देखकर ऐसा मान लिया कि इस लोक में सात ही द्वीप-समुद्र है, जबकि समण भगवान महावीर ने कहा कि असंख्य द्वीप-समुद्र है।

इसी प्रकार अवधिज्ञानी में विभंग अवस्था का कारण उसमें व्याप्त इच्छा व विरोध भी होता है। इच्छित व्यक्ति, वस्तु व स्थान के प्रति रही हुई गहरी संज्ञा व लगाव भी उपयोग को विकृत कर देती है; विभंग बना देती है। हमें अपने उपयोग को शुद्ध बनाने का सतत् पुरूषार्थ करना है। सतत् जागृति हो। स्वयं पर अवधान हो, तब ही मोह मुक्ति संभव है। तब ही हम अज्ञान के व अभिमान के नशे से मुक्त हो सकेंगे।

सूत्र-33

ज्ञान क्यूँ बनता अज्ञान....?

इससे पूर्व सूत्र में हम मति आदि तीन अज्ञानों का वर्णन कर चुके हैं। अब यह सूत्र ज्ञान के अज्ञान रूप होने के कारणों को बताता है। सूत्र बताता है कि ज्ञान जब पूर्णता को प्राप्त नहीं होता है, तब तक निश्चय में वह अज्ञान रूप ही होता है और अज्ञानी में हमेशा ज्ञान प्राप्त करने की ललक रहेगी, अतः उसे ज्ञान होगा भी, मगर सूत्र साधक को यहां सावचेत कर रहा है कि जिस प्रकार प्राप्ति की उतावल में व्यक्ति गलत कार्य करके फँस जाता है, ठीक उसी प्रकार उन्मत्त अवस्था में ज्ञान प्राप्ति के लिए उतावलापन अज्ञान का पतनदायी रूप है। ऐसी अवस्था में व्यक्ति इच्छाओं के वशीभूत होकर ज्ञान की किसी एकायामी विधा से ग्रस्त होकर भटक जाता है। कुल मिलाकर सूत्र का यही मन्तव्य है कि पूर्णता को प्राप्त करने के लिए जागृति में प्रवेश करो। साकार से निराकार को जानो। खंड-खंड से समग्र को अनुभव करो, यही सच्चा ज्ञान है।

सूत्र- सदसतोरविशेषाद् यदृच्छोपलब्धे रून्मत्तवत् ॥33॥

अर्थ- वास्तविक और अवास्तविक का अंतर न जानने से, यदृच्छोपलब्धि के कारण, उन्मत्त की तरह ज्ञान भी अज्ञान ही है ॥33॥

विवेचन- सूत्र कहता है कि बहुत ही विचित्र बात है कि समकित के बिना की गई सारी धर्म क्रियाएँ भी अधर्मरूप हो जाती है, पीड़ाकारी हो जाती है क्योंकि वो क्रियाएँ भी सत्य के किसी पहलू में गृद्धतावश की जाने के कारण अन्तःतोगत्वा बंध का ही कारण होती है इसलिए साधक को चाहिए कि वो सर्वप्रथम भेद-ज्ञान समझे, वास्तविक और अवास्तविक को जाने। किसी भी विधा को कई-कई पहलुओं से समझे। समझने की बात यह है कि हर विधा में वास्तविकता और अवास्तविकता दोनों विद्यमान है और कई-कई आयामों से विद्यमान है, अतः वास्तविकता और अवास्तविकता, यथार्थ और मिथ्या मानसिक अनुभव को जानने के लिए साधक को सम्मत्तम् होना पड़ेगा, निष्पक्ष होना पड़ेगा, समकित अथवा निरपेक्ष होना पड़ेगा। अब वह सम्यक् साधक किसी एक परिपाटी अथवा पार्टी का पक्षधर न होकर निष्पक्ष ज्ञाता-दृष्टा रहेगा, तभी उसे अनेक पहलुओं में लग-बुझ होने वाले सत्य का अवास्तविकपना अपने असली निराकार यथार्थ रूप में भासित होगा, यह सूत्रकार बताना चाहते हैं।

सूत्रकार कहते हैं कि सत् और असत् को नहीं जानने के कारण व्यक्ति मृग- मरीचिका में भटक जाता है क्योंकि यथार्थ का मायारूप असत्, जिसे भगवान ने 'परपासंड' कहा है, मिथ्या निमित्त ज्ञान के रूप में तरह-तरह की बनावटों के अंदर, तरह-तरह के आयामों में हमें ललचाता है, भ्रमित करता है। अपूर्ण व्यक्ति को निश्चय ही उसे प्राप्त करने की इच्छा पैदा होगी, क्योंकि हर जीव की आंतरिक दौड़ पूर्णता को प्राप्त करने की है लेकिन पूर्णता

को प्राप्त करने की दौड़ में समकितपना नहीं होने के कारण वह भटक जाता है और इच्छाओं से ग्रस्त होकर प्रमाद को प्राप्त करता है।

इच्छाओं की उपलब्धि के कारण 'यदृच्छोपलब्धः उन्मत्तवत्' अर्थात् स्वच्छंदी बना व्यक्ति सूत्रों का अध्ययन करते हुए भी स्वाध्याय नहीं कर पाता। किसी एक पक्ष को सत्य मानकर वह वहीं लिप्त हो जाता है और असत्य में भटक जाता है। उन्मत्तवत् अर्थात् उन्मादी, बेलगाम घोड़े की तरह, बिना सोचे-समझे, गहन निष्पक्षता से ज्ञान प्राप्त किए बिना किसी एक विधा का परिग्रह करना 'असत्य की उपलब्धि' हो जाता है। सम्यक्त्वी की अपनी कोई पकड़ नहीं होती, कोई परिग्रह नहीं होता, कहीं लिप्तता नहीं होती, वह एक आत्मा होते हुए भी समस्त बन जाता है, सबका होता है, सबके लिए होता है, सबके द्वारा होता है। सूत्रकार ने उन्मत्त शब्द का प्रयोग किया है और यह कहना चाहा है कि जो सम्यग्दृष्टि है वह किसी वाद के मद में, नशे में नहीं होता, किसी विषय में गृद्ध नहीं होता, उन्मत्त नहीं होता, किसी व्यक्ति अथवा वस्तु से गुटबंदी नहीं करता, शरीक नहीं होता, पार्टी नहीं बनता। अतः साधक को चाहिए कि वह इच्छाओं से परे हटकर, गौरवरहित होकर, अपेक्षाओं के बिना, अप्रमत्त होकर ज्ञान प्राप्त करे, तो एक दिन वे ही प्राप्तियाँ 'आप्ति' बन जाएगी और साधक 'आप्त' हो जाएगा।

सूत्र-34-35
सात नय

सत् और असत् को जानने के लिए क्या करना ? तो सूत्र कहता है कि उसके लिए नय का ज्ञान होना आवश्यक है। यह सृष्टि अनेकांत है। अनेकांत को 'निराकार' समझा तो जा सकता है मगर उसका व्यक्तिकरण (Expression) अर्थात् समझना- समझाना रूप अभिव्यक्ति 'साकार' अर्थात् शब्दों में ही हो सकता है। ऐसी स्थिति में, संपूर्ण विषय-वस्तु को एक साथ व्यक्त नहीं किया जा सकता, एकदेशीय या अल्पदेशीय ही व्यक्त किया जा सकता है और उसमें भी अभिव्यक्त करने वाले को ध्यान रखना पड़ता है कि श्रोता (सुनने वाले) की समझ कैसी है, उसके अनुरूप व्यक्त करूँ। अतः भाषा के माध्यम से हो, शैली के माध्यम से हो या चिह्न अथवा प्रतीकों के माध्यम से हो, 'संपूर्ण' को एक समय में एकदेशीय या अल्पदेशीय ही व्यक्त किया जा सकता है। ठाणांग सूत्र के छठे ठाणे के अनुसार केवली भी एक समय में दो भाषाएँ एक साथ नहीं बोल सकते। देश-काल-पात्र-भाव के अनुसार उसे कई-कई बार, कई-कई तरीकों से, कई-कई रूपों में, चाहे वे एक-दूसरे के विरोधाभासी ही क्यों न हो, व्यक्त किया जाता है। साधक को चाहिए कि वह निष्पक्ष होकर उसके हर आयाम को जाने। किसी एक पक्ष को ही सत्य मानकर उसमें अटक नहीं जावे क्योंकि मनोवैज्ञानिक तथ्य है कि 'पूर्णता' में आनंद होता है मगर आकर्षण नहीं और 'अपूर्णता' बड़ी सजी-सँवरी होती है, उसमें आनंद नहीं होता मगर आकर्षण खूब रहता है। व्यक्ति यथार्थ और अयथार्थ की जानकारी के अभाव में इस अपूर्णता में गृद्ध होकर भटक जाता है। शब्द-रूप-गंध-रस और स्पर्श-ये पाँचों ही काम गुण अपूर्ण होते हैं। इसी कारण से इनमें आकर्षण व विकर्षण तो होता है किंतु आनंद कदापि नहीं। इन पौद्गलिक रचनाओं को हमें उनके यथातथ्य रूप में समझ लेना चाहिए। ये अमूर्त्त अरूपी आत्मा को पूर्णतः प्रगट करने या व्यक्त करने में सदा असमर्थ ही रहेंगे। अतः हर विधा को कई-कई तरीकों से जानो, आप में सम्यक्त्व उदित हो जाएगा। उसे जानने के लिए इन सात तरीकों को समझो, जो तुम्हें यथार्थ तक पहुँचने में मदद करेंगे -

सूत्र- नैगमसंग्रहव्यवहारर्जुसूत्र शब्दा नयाः ॥34॥
आद्यशब्दौ द्वित्रिभेदौ ॥35॥

अर्थ- नैगम, संग्रह, व्यवहार, ऋजुसूत्र, शब्द, समभिरूढ़ और एवं भूत-ये सात नय हैं ॥34॥
आद्य अर्थात् प्रथम नैगम नय के दो और शब्द नय के तीन भेद है ।।35।।

विवेचन- वस्तु के अनेक धर्मों में से किसी एक की मुख्यता को अन्य धर्मों का विरोध नहीं करते हुए पदार्थ को जानना 'नय' है। प्रत्येक विषय-वस्तु में अनेक गुण होते हैं, अनेक तरीकों से उसे समझा और कहा जा सकता है। किसी भी एक समय में सारे ही तरीकों से विषय-वस्तु का कथन न तो संभव होता है और न ही आवश्यक होता है। जब जिस अपेक्षा से बात समझानी आवश्यक हो, तब उस अपेक्षा से कहना और अपने अभिप्राय को श्रोता को समझा देना ही 'नय' कहलाता है। नय की परिभाषा करते हुए कहा जाता है कि- 'वक्तुरभिप्रायो नयः'। 'नय' वक्ता की विवक्षा, बोलने की इच्छा, अभिप्राय पर निर्भर करता है, अतः नय के अनेक भेद हो सकते हैं। कहा भी गया है - 'यावन्ता वयणपहाः तावन्ताः नयवाहाः' अर्थात् जितने वचनपथ हैं, उतने ही नय होते हैं। बात कहने के अथवा बोलने के जितने तरीके हैं, उतने ही नय हैं। नय को हम सरल भाषा में view point कह सकते हैं। प्रस्तुत सूत्र में कहे जाने वाले कथनों के तरीकों अथवा कहने की शैलियों की अपेक्षा से नय के सात भेद बताए गए हैं। गहराई से जब कोई जीवन विज्ञान को देखता है तो वह यह समझ पाता है कि यह सृष्टि सतरंगी है। यहाँ प्रत्येक पदार्थ के सात स्तर होते हैं - इनमें से कुछ व्यक्त हो पाते हैं, या यूँ कहें कि आदमी की बुद्धि उन्हें ग्रहण कर पाती है, शेष सभी अप्रगट रूप में विद्यमान रहते हैं। मन के भी सात तल होते हैं, बोले जाने वाले शब्द की भी सात वीथियाँ होती है, काया (शरीर) भी सात प्रकार की होती है। यहाँ हमारा विषय सप्त नयों का कथन करना है। ये सात नय क्रमशः इस प्रकार है -

1. **नैगम नय :** नैगम शब्द निगम से बना है। जनपद अथवा देश को निगम कहते हैं। जो शब्द जिस अर्थ के लिए नियत है, वहाँ पर उस अर्थ के और शब्द के संबंध को जानने का नाम नैगम नय है। इस शब्द का ये अर्थ है और इस अर्थ के लिए इस शब्द का प्रयोग करना चाहिए। इस तरह वाच्य-वाचक संबंध के ज्ञान को नैगम कहते हैं। इसे यूं भी कहा जा सकता है कि जो विचार लौकिक रूढ़ि अथवा लौकिक संस्कार के अनुसरण से पैदा होता है, वह नैगम नय है।

वस्तु के सामान्य-विशेष अथवा भेदाभेद को ग्रहण करने वाले को अथवा संकल्प मात्र वस्तु के ग्रहण करने को नैगम नय कहते हैं। जैसे - अरहंत को सिद्ध कहना और मिट्टी के घड़े को घी का घड़ा कहना आदि। अर्हत सिद्ध होने वाले हैं और मिट्टी का घड़ा घी से भरा जाने वाला है, अतः 'संकल्प मात्र को ग्रहण करने वाला कथन नैगम नय है।' जैसे किसी विद्यार्थी ने डॉक्टर बनने की पढ़ाई प्रारंभ की, वह अभी छह वर्ष बाद डॉक्टर बन पाएगा किंतु उसके पूर्व ही उसे डॉक्टर साहब कहकर संबोधित करना नैगम नय है। इस प्रकार जो भूतकाल की पर्याय में वर्तमानवत् संकल्प करे, अथवा भविष्य की पर्याय में वर्तमान के समान संकल्प करे, उस ज्ञान को तथा वचन को 'नैगम नय' कहते हैं। जो मुंबई का टिकट लेकर घर से चला है, उसका 'मुंबई जाना' कहना नैगम नय का उदाहरण है।

सूत्र संख्या 35 में कहा गया है कि 'आद्य शब्दौ द्वि त्रि भेदौः' अर्थात् आद्य के यानि प्रारंभिक नय के दो भेद है। शब्द नय के तीन भेद है। इस प्रकार यह प्रारंभिक नैगम नय दो प्रकार का होता है - समग्रग्राही नैगम नय और देशग्राही नैगम नय अथवा सर्वपरिक्षेपी तथा देशपरिक्षेपी नैगम नय। जो सामान्य अंश का अवलंबन लेकर प्रवृत्त हुआ करता है, उसको समग्रग्राही नैगम नय कहते हैं, जैसे कि मिट्टी का घड़ा, सोने का घड़ा, पीतल का घड़ा, कांसे का घड़ा, चांदी का घड़ा आदि भेद न करके केवल 'घड़ा' कहना समग्रग्राही नैगम नय है। समग्रग्राही होना मतलब संपूर्ण को सामान्य रूप से ग्रहण करना। किंतु जब इसे विशेषण युक्त कहा जाए कि सोने का पीला

घड़ा अथवा मिट्टी का लाल घड़ा तो ऐसा कथन देशग्राही नैगम नय कहलाता है। देश अर्थात् अंश को, विभाग को ग्रहण करने वाला देशग्राही नैगम नय कहलाता है। यह वस्तु-पदार्थ को उसकी समग्रता में न कह कर आंशिक रूप से कहता है। जैसे प्रधानमंत्री और राज्यमंत्री।

इस प्रकार नैगम नय का विषय क्षेत्र बहुत व्यापक है। जो भी वस्तु मात्र का सामान्य कथन है अथवा लोक रूढ़िगत कथन है, वे सभी इसी नय के अंतर्गत आते हैं। जैसे कि गेहूँ पीसने जा रही बालिका से कोई पूछे कि कहाँ जा रही हो, तब वह यह कहे कि आटा पिसवाने जा रही हूँ। यद्यपि आटा नहीं पिसवाया जा रहा है, गेहूँ पिसवाया जाएगा किंतु इसे सुनने वाला भी लोक संस्कारवश समझ लेता है, अतः यह नैगम नय हुआ। जैसे यह कहना कि यह सड़क कहाँ जाती है ? यह भी नैगम नय का दृष्टांत है। यद्यपि सुनने-समझने वाला जानता है कि सड़क तो जहाँ है, वहीं रहती है। जाता तो उस पर चलने वाला यात्री है। फिर भी लोक-व्यवहार में ऐसा कहा-सुना जाता है।

नैगम शब्द का एक अर्थ होता है कि - न एक गमो इति नैगमः। जिसका कोई एक गम अर्थात् एक मार्ग या एक पक्ष न हो वह नैगम नय है। इस नय का विषय क्षेत्र देश-काल एवं लोक स्वभाव संबंधी भेदों की विविधता के कारण बहुत व्यापक है, इसीलिए इसे नैगम नय कहते हैं। नैगम नय द्रव्यार्थिक नय है। यह वस्तु के सामान्य स्वरूप को ग्रहण करता है, अतः यह सामान्यग्राही नय भी कहलाता है। अब इस नय के अनंतर दूसरे नयों को समझना है ।

2. **संग्रह नय** - जो नय अपनी जाति समूह का विरोध न करके एकपने से समस्त पदार्थों को ग्रहण करता है, उसे संग्रह नय कहते हैं। जैसे कि स्थानांग सूत्र का प्रथम सूत्र है 'एगे आया' अर्थात् आत्मा एक है। एगे दव्वे-द्रव्य एक है। एगे पोग्गले- पुद्गल एक है। यद्यपि इनके भेद-प्रभेद भी हो सकते हैं, किंतु उनकी विवक्षा न करके सामान्य मात्र को ग्रहण करके कथन करने वाला नय 'संग्रह नय' कहलाता है। यह उसके विविध रूपों को व्यक्त नहीं करता किंतु उनका विरोध भी नहीं करता। जैसे कि कोई कहे -' हम हिंदुस्तानी', 'हम पाकिस्तानी'। 'मैं जनता हूं', 'I am the public' अथवा 'यह जीत जनता की जीत है' अथवा 'जनता ने जिताया।' ये संग्रह नय की अपेक्षा कहे गए कथन हैं।

जब हम वक्ता के इस अभिप्राय को समझ लेते हैं तब हममें कोई भेद अथवा संकीर्णता नहीं रहती। 'वसुधैव कुटुम्बकम्' की भावना संग्रह नय का परिणाम है। व्यष्टि में समष्टि का, पिंड में ब्रह्मांड का ज्ञान-संग्रह नय का परिणाम है। इस नय को समझने और कथन करने से हमारी संकीर्णताएँ एवं क्षुद्र स्वार्थ गिर जाएँगे तथा चैतन्य का विस्तार होगा, इस अपेक्षा से यह नय बहुत उपादेय है। यह नय भी द्रव्यार्थिक नय की कोटि में आता है क्योंकि यह सामान्य को ग्रहण करता है, उसकी पर्यायों को नहीं।

3. **व्यवहार नय :** विविध वस्तुओं को एक रूप में संकलित करने के बाद भी जब उनका विशेष रूप में बोध आवश्यक हो या व्यवहार में उपयोग करने का प्रसंग हो तब उनका विशेष रूप से भेद करके पृथक्करण करना पड़ता है। उदाहरण के लिए 'वस्त्र' कहने मात्र से कोई दुकानदार आपको इच्छित वस्त्र नहीं दे पाएगा, उसे बताना पड़ेगा कि आपको सूती वस्त्र चाहिए, खादी का वस्त्र चाहिए या ऊनी वस्त्र चाहिए। ये भेदयुक्त कथन 'व्यवहार नय' है। 'वसुधैव कुटुम्बकम्' अर्थात् पूरी पृथ्वी एक परिवार है, ऐसा कहने पर भी जब कोई आपसे आपके घर का पता पूछेगा तब आपको उसे address देना होगा कि 'मैं फलाँ मौहल्ले के फलाँ घर में रहता हूँ'- यह व्यवहार है।

अतः व्यवहार नय वस्तु-विषय को समझने का व्यावहारिक तरीका है, practical approach है।

जीवों के संसारी और मुक्त दो भेद हैं। संसारी जीवों के एक इंद्रिय से पांच इन्द्रिय तक ये पांच भेद हैं, इस प्रकार जो भेद (division) करके जीवों से संबंधित ज्ञान का कथन किया जा रहा है, वह व्यवहार नय का विषय है। जैसे 'यह जीव है' यह संग्रह नय है मगर 'यह जलचर है' यह व्यवहार नय है। यद्यपि यह नय भेदों के आश्रय से है किंतु फिर भी सामान्यग्राही है इसीलिए इस नय को भी द्रव्यार्थिक नय की श्रेणी में ही माना जाता है।

इस प्रकार सप्त नयों में से पूर्व के तीनों नय द्रव्यार्थिक नय कहलाते हैं क्योंकि ये नय पर्यायों पर अवलंबित न होकर द्रव्य मात्र का कथन करते हैं। उपरोक्त इन तीनों नयों में नैगम नय का विषय सबसे अधिक विशाल है क्योंकि यह सामान्य और विशेष दोनों का ही लोक रूढ़ि के अनुसार कभी गौण रूप से और कभी मुख्य रूप से अवलंबन करता है किंतु संग्रह नय केवल सामान्य मात्र को ग्रहण करता है, वह collectively ग्रहण करता है इसलिए उसका विषय नैगम नय के विषय क्षेत्र की अपेक्षा बहुत कम है और व्यवहार नय का विषय तो संग्रह नय की अपेक्षा भी बहुत कम है, क्योंकि वह संग्रह नय द्वारा संकलित विषय का ही मुख्य- मुख्य विशेषताओं के आधार पर पृथक्करण करता है, अतः केवल विशेषगामी है। इस तरह विषय क्षेत्र तीनों का उत्तरोत्तर कम होता जा रहा है किंतु तीनों परस्पर संबंधित भी है। इन तीन द्रव्यार्थिक नयों के पश्चात् हम शेष चार पर्यायार्थिक नयों को समझने का प्रयास करेंगे। पर्यायार्थिक अर्थात् किसी form को विषय बनाकर अपनी बात कहना। अथवा अपनी बात को Particular form में प्रगट करना।

4. **ऋजुसूत्र नय :** भूत और भावी पर्यायों को छोड़कर या गौण करके जो वर्तमान पर्याय को ही ग्रहण करता है, उसे ऋजुसूत्र नय कहते हैं। यह नय चूंकि वर्तमान विषयक कथन ही करता है, अतः यह नय पर्यायार्थिक नय कहलाता है। जैसे, जब कोई मनुष्य प्रधानमंत्री के पद पर हो तब उसे प्रधानमंत्री कहना, जब किसी राजपुत्र का राज्याभिषेक हो जाए तब उसे राजा कहना, जब कोई वीर युद्ध कर रहा हो तब उसे योद्धा कहना, जब कोई व्यक्ति पढ़ा रहा हो तब उसे अध्यापक कहना, जब कोई न्याय दे रहा हो तब उसे न्यायाधीश कहना आदि अनेक उदाहरण ऋजुसूत्र नय के हो सकते हैं।

यह ऋजुसूत्र नय वर्तमान ग्राही होने के कारण सूक्ष्म और स्थूल दो प्रकार से समझा जा सकता है। इनमें जो सूक्ष्म ऋजुसूत्र नय है वह पदार्थ की अत्यंत सूक्ष्म, एक समय मात्र पर्याय को ही ग्रहण करता है, अतः उसका कथन संभव नहीं है क्योंकि जब तक उसका कथन होगा तब तक पर्याय पलट चुकी होगी - वर्तमान अतीत बन चुका होगा। अतः लोक व्यवहार में स्थूल ऋजुसूत्र नय का ही कथन संभव है - जो पदार्थ की अनेक समय की स्थूल पर्याय को ग्रहण करे। जैसे कि कोई यह पूछे कि घड़ी में क्या बजा है ? तो इसका कथन ऋजुसूत्र नय से ही दिया जा रहा है , वह कहता है कि अभी घड़ी में सात बजा है। जब तक यह कहा जा रहा है कि सात बजा है तब तक सात बज चुका क्योंकि सैकण्ड की सूई घूम चुकी है किंतु फिर भी कथन इसी तरह से संभव है। अतः स्थूल ऋजुसूत्र नय से ही व्यवहार संभव है।

यही कारण है कि जैन साधु अपनी भाषा समिति का विवेक रखता हुआ कभी यह नहीं कहता कि Exactly सात बजे हैं, वह कहेगा कि घड़ी में सात बजने का व्यवहार है। इस तरह वह असत् प्ररूपणा से बच जाएगा। 'समय' अत्यंत सूक्ष्म कालखंड है, वह काल की अंतिम अविभाज्य ईकाई है। और चूँकि 'वर्तमान' समयमात्र का ही होता है, अतः ऋजुसूत्र की अपेक्षा से कथन स्थूल वर्तमान का ही समझना चाहिए। वैसे भी

'वर्तमान' शब्द सभी व्यक्तियों के लिए भिन्न-भिन्न अवस्था वाला ही होता है। सभी का वर्तमान एक सरीखा नहीं होता क्योंकि हम सभी की इंद्रिय क्षमता भिन्न-भिन्न है। हम इसे एक उदाहरण से समझेंगे। एक व्यक्ति जो मकान की छत पर खड़ा हो, उसके लिए चक्षुइंद्रिय का वर्तमान विषय बहुत विस्तृत है जबकि एक अन्य, जो कि घर के द्वार पर खड़ा है, उसके लिए चक्षुइंद्रिय का वर्तमान विषय क्षेत्र उस छत पर खड़े मनुष्य की अपेक्षा बहुत कम है। छत पर खड़ा मनुष्य जब कहता है कि सब्ज़ी वाला आ गया, तब हो सकता है वह घर से आधा कि.मी. दूर हो और घर के द्वार पर खड़ा मनुष्य उसे नहीं देख पा रहा हो। अतः उसके लिए यह कथन वर्तमान ग्राही नहीं है क्योंकि उसकी ऐंद्रिक क्षमता गली के नुक्कड़ तक को ही देखने में सक्षम है। इस प्रकार ऋजुसूत्र नय वर्तमान ग्राही होने पर भी भिन्न-भिन्न कथन वाला होने के कारण समझने योग्य है। अब जो मनुष्य नीचे खड़ा है वह इस नय के द्वारा ही छत पर खड़े मनुष्य की बात समझ पाता है। इस प्रकार इस नय का ज्ञान हमें बिना विरोध के वक्ता के अभिप्राय को समझने में मदद करता है। गीता में श्रीकृष्ण-अर्जुन संवाद चलता है। उसमें श्रीकृष्ण अर्जुन से कहते हैं कि - 'आपके सामने खड़े हुए ये सब लोग तो मरे हुए हैं। मैं इनको मरे हुए देख रहा हूँ।' यह कथन उनके लिए वर्तमान है किंतु अर्जुन के लिए भविष्य सूचक। इस प्रकार समय में जो देखते हैं, उनका कथन ऋजुसूत्र नय की अपेक्षा से समझने योग्य होता है। अब इस नय के पश्चात् तीन शब्द नयों की विवेचना चलती है।

5. **शब्द नय :** जो विचार शब्द प्रधान होकर शाब्दिक भेद के अनुरूप अर्थ भेद की व्याख्या करता है, वह शब्द नय कहलाता है। इस नय के अनुसार शब्द भेद से होने वाले अर्थ भेद को प्रधानता दी जाती है, इसीलिए यह शब्द नय कहलाता है। उदाहरण के लिए स्त्री के लिए दार, भार्या, कलत्र ये तीनों शब्द मिलते हैं किंतु तीनों के लिंग में भिन्नता है, जैसे की दार कहने से अकारांत पुल्लिंग, भार्या शब्द से स्त्रीलिंग और कलत्र से नपुंसकलिंग का ग्रहण होता है। इस प्रकार यह नय 'स्त्री पद' को लिंग भेद के आधार पर तीन भेदों वाला मानता है। लिंग भेद से अर्थ भेद हो जाता है जैसे कि कुआँ, कुई। यहाँ पहला शब्द पुल्लिंग तो दूसरा स्त्रीलिंग वाचक है। इस प्रकार जो नय लिंग, संख्या, कारक आदि के व्यभिचार को दूर करता है, उसे शब्द नय कहते हैं। यह नय लिंगादि के भेद से पदार्थ को भेदरूप ग्रहण करता है। काल भेद से भी अर्थ भेद हुआ करता है। उदाहरण के लिए शास्त्रों में वाक्य मिलते हैं कि 'तेणं कालेणं तेणं समएणं रायगिहे णामं नयरे होत्था।' अर्थात् उस काल, उस समय में राजगृह नामक नगर था। यद्यपि राजगृह नगर वर्तमान में भी है किंतु जो उस समय था, वह भिन्न था इसलिए यहाँ 'राजगृह था' ऐसा भूतकालीन शब्द प्रयुक्त हुआ है। गहराई से देखा जाए तो हर 'शब्द' भूत मात्र ही है। क्योंकि समय अद्धा मात्र है। वह परम सूक्ष्म है, उसमें बोला-सुना नहीं जा सकता। जब तक कहा-सुना जाता है, तब तक पर्याय बदल चुकी होती है। और हम समय है। इसलिए शब्द या भाषा को हम 'समय' के साथ, आत्मा के साथ Synchronise नहीं कर सकते। परस्पर भेद तो रहेगा ही। इसे दूसरे शब्दों में ऐसे भी कह सकते हैं कि शब्द हमेशा सीमित होते हैं व सत्य असीम। इसीलिए इसे नयों से ही समझा जा सकता है।

6. **समभिरूढ़ नय :** शब्द से भी सूक्ष्म समभिरूढ़ नय है। यह नय, शब्द की व्युत्पत्ति के आधार पर अर्थ में भेद मानता है। जबकि शब्द नय में लिंग भेद, संख्या भेद, कारक भेद, काल भेद आदि के कारण अर्थों में भेद माना जाता था, वहीं समभिरूढ़ नय में व्युत्पत्ति; शब्द की उत्पत्ति के आधार पर अर्थ में भेद माना जाता है। उदाहरण के लिए इंद्र के लिए शक्रेंद्र, पुरंदर, सहस्त्राक्ष आदि कई नाम मिलते हैं किंतु इस नय के अनुसार जब वह आनंद का,

ऐश्वर्य का भोग करे तब उसे इंद्र कहना चाहिए, शक्तिशाली होने से शक्र, जब उसके हाथ में मुद्गल हो तब वज्रपणि, जब वह नगरों को ध्वस्त कर रहा हो तब पुरंदर, जब वह अपने पाँच सौ मंत्रियों के साथ सभा में उपस्थित हो तब उसे सहस्त्राक्ष कहना क्योंकि 500 मंत्रियों की दो-दो आँखों से देख-सोच पाने के कारण वह सहस्त्राक्ष हुआ। इसी तरह राजा, नृप, भूपति आदि शब्दों के भी व्युत्पत्ति भेद से अर्थ भिन्न-भिन्न हो जाते हैं। राज चिन्हों से शोभित होने पर 'राजा', मनुष्यों का रक्षण किए जाते समय 'नृप' तथा पृथ्वी का पालन संवर्द्धन करने वाला 'भूपति' है। इस तरह उक्त नामों के एक ही अर्थ में व्युत्पत्ति के अनुसार अर्थभेद मानने वाला विचार समभिरूढ़ नय है। प्रभु ऋषभ के अनेक नाम प्राग्ऐतिहासिक उल्लेखों में मिलते हैं, ऋग्वेद में उसे वातरशना, केशी, आदम तो कहीं आदिनाथ ऋषभ इत्यादि नाम मिलते हैं। इन सभी नामों के पीछे उनकी विशिष्टताएँ रही हुई है। चूंकि वे लगातार 12 माह तक मात्र वायु का आहार करके रहे, इसीलिए वातरशना कहलाए। शिखा के बाल का मुंडन न करने व लंबी जटाएँ रखने के कारण वे केशी कहलाए। ठीक इसी प्रकार प्रथम नृपति, प्रथम तीर्थंकर व प्रथम ज्ञानदाता गुरू होने के कारण वे आदिनाथ कहलाए। असि-मसि-कृषि का ज्ञान देने व जनता को प्रवृत्ति में समकित होकर मुक्ति का ज्ञान देने के कारण वे ऋषभ कहलाए।

7. **एवंभूत नय :** शब्द नयों एवं पर्यायार्थिक नयों की अंतिम पराकाष्ठा है - एवंभूत नय। जैसा कि इसके नाम में ही इसका अर्थ छुपा है, जो भी विषय-वस्तु जैसी है, उसे वैसा ही जानना एवं उसी प्रकार कहना एवंभूत नय है। यह निश्चय नय की श्रेणी में आता है। आंतरिक वर्तमान भावदशा का कथन हो रहा हो तो वह एवंभूत नय है। उदाहरण के लिए जब राजा श्रेणिक प्रभु महावीर से प्रसन्नचंद राजर्षि की मरणोपरांत गति के बारे में पूछ रहे हैं। वे पूछ रहे हैं कि इस समय यदि प्रसन्नचंद्र राजर्षि काल कर जाए तो कौनसी गति में पैदा हो ? तब प्रभु फरमाते हैं कि इस समय यदि काल करे तो नरक गति में जाए। इस कथन को एवंभूत नय का उदाहरण समझना चाहिए। वह तत्काल समय की; उसके सूक्ष्मतम पर्याय रूप में ग्रहण करता हुआ कथन करता है। वास्तव में जब कोई क्रिया भावयुक्त हो रही थी, तभी वह कर्त्ता उस क्रिया को करने वाला माना जाता है। जैसे कि जब कोई सेवक सेवा भावना से सेवा में रत हो, उसी समय उसे सेवक कहना- एवं भूत नय की अपेक्षा किया गया कथन है। जब कोई साधु अप्रमत्ततापूर्वक अपनी आत्मा में जागृत हो तभी उसे अप्रमत्त संयत कहना चाहिए। जो मौन को उपलब्ध हुआ है, उसे ही मुनि कहना - ये एवंभूत नय के दृष्टांत है।

इस तरह ये सात नयों का स्वरूप हमने संक्षिप्त में समझा है। ये सातों ही नय क्रमशः उत्तरोत्तर सूक्ष्म होते जाते हैं। पूर्व के तीन नय द्रव्यार्थिक नय कहलाते हैं, शेष चार पर्यायार्थिक। क्योंकि ये पर्याय को ही ग्रहण करते हैं। पूर्व के चार नय 'अर्थ नय' कहलाते हैं और शेष तीन नय 'शब्द नय' की कोटि में आते हैं। जैसा कि सूत्र संख्या 35 में कहा गया है कि शब्द नय के तीन भेद होते हैं। ये तीन भेद ऋजुसूत्र, समभिरूढ़ एवं एवंभूत होते हैं।

इन उपरोक्त सप्त नयों में नैगम नय का विषय सर्वाधिक व्यापक है क्योंकि वह बिना किसी लक्ष्य या प्रयोजन से वस्तु को विभाजित किए सामान्य रूप से संपूर्ण को कथन करती है, जैसे भारत का निवासी भारतीय। जीव का लक्षण उपयोग है। सातों रंगों का समानुपात सफेद है। अब यह अनुपात कितने अलग-अलग तरह के सफेद रंग पैदा करता है, यह एक भिन्न विषय है। संग्रह नय का विषय नैगम नय से कम है क्योंकि उसमें सामान्य का संक्षिप्त कथन है। व्यवहार नय का विषय संग्रह नय से भी संक्षिप्त हो जाता है क्योंकि यह नय वस्तु की विशेषताओं के आधार पर उसका और अधिक विभाजन करता है। अतः केवल विशेषगामी है। इस तरह इन तीनों

प्रारंभिक नयों का विषय क्षेत्र क्रमशः घटता जाता है। इन द्रव्यार्थिक नयों के बाद शेष चार पर्यायार्थिक नयों में भी एक के बाद एक का विषय क्षेत्र घटता जाता है। ये सारे ही नय वस्तु तत्त्व का सापेक्ष कथन करते हैं और परस्पर में भी सापेक्ष होते हैं। इनकी आवश्यकता परस्पर विरोधी दिखाई देने वाले विचारों अथवा वस्तु के गुणों को अविरोधी भाव से समझने एवं व्यक्त करने के लिए है क्योंकि इस जगत में प्रत्येक पदार्थ द्वन्द्वात्मक है-प्रकाश-अंधकार, छाया-आतप, एक-अनेक, सुख-दुःख, जीव-पुद्गल-इन अनेक द्वन्द्वों को बिना द्वंद्व के समझने-समझाने के लिए नयों का ज्ञान अत्यंत उपयोगी है। हर समझदार व्यक्ति अपने कथन को किसी न किसी अपेक्षा विशेष से कहता है, नयों के अनुसार कहता है और दूसरों के कथन को भी उनकी अपेक्षा में, उनके नय के अनुसार समझ लेता है और तब उसका जीवन कलहरहित एवं सम्यक् दर्शन युक्त बन पाता है - यही नयवाद के ज्ञान की महत्वपूर्ण देन है।

इस प्रकार तत्त्वार्थाधिगम सूत्र के प्रथम अध्याय में हमने त्रिरूपा मोक्षमार्ग को विविध भेदों व उपभेदों के द्वारा समझा व जाना। ज्ञान अनेकांत है, फिर भी पाँच भेदों वाला है, जिनमें तीन भेद अज्ञान रूप भी हो सकते हैं। दर्शन समकित होने पर ज्ञान भी उपयोगी व तारक है अन्यथा संसार वृद्धि का ही कारक है। ज्ञान को समकित बनाने व दर्शन को विशुद्ध व निर्मल करने के लिए 'प्रज्ञा' अत्यन्त उपयोगी है, जिसे अनेकविध अधिगम उपायों द्वारा प्रगट किया जा सकता है। प्रज्ञा से ही ज्ञान 'प्रमाण' रूप हो सकेगा, नय 'दुर्नय' होने से बचाया जा सकेगा। इसके लिए प्रज्ञासागर गुणोदधि ज्ञान गुरूओं की पर्युपासना, उनके सान्निध्य में रहकर जिज्ञासा-समाधान पाना व आंतरिक निष्कपट चारित्रवान बनना-ये साधन अपेक्षित है। सतत् शोधभाव से बोधपूर्वक जीने वाला साधक सम्यक्त्रयी को प्रगट करके मुक्त भावा जीने में सक्षम बन पाएगा। यही इस प्रथम अध्याय का सारांश है। जय हो !

सबका कल्याण हो ! !

अध्याय-2

जीव तत्त्व

अनुक्रमणिका

		मूल सूत्र एवं अर्थ	:	104
		जीव तत्त्व	:	110
सूत्र - 1	:	पाँच भाव	:	113
सूत्र - 2-3	:	उपशम के भेद	:	116
सूत्र - 4	:	क्षायिक भाव	:	119
सूत्र - 5	:	क्षायोपशमिक भाव	:	123
सूत्र - 6	:	औदयिक भाव	:	125
सूत्र - 7	:	पारिणामिक भाव	:	127
सूत्र - 8	:	उपयोग लक्षण	:	129
सूत्र - 9	:	उपयोग के भेद	:	132
सूत्र - 10	:	संसारी व मुक्त	:	135
सूत्र - 11	:	समनस्क-अमनस्क	:	137
सूत्र - 12-14	:	त्रस-स्थावर	:	140
सूत्र - 15-18	:	इंद्रियाँ पाँच	:	142
सूत्र - 19-21	:	इंद्रिय विषय	:	145
सूत्र - 22	:	अनिन्द्रिय विषय	:	147
सूत्र - 23-24	:	एकेन्द्रिय यावत् पंचेन्द्रिय	:	150
सूत्र - 25	:	संज्ञी कौन ?	:	153
सूत्र - 26	:	विग्रह गति	:	155
सूत्र - 27-28	:	अनुश्रेणि गति	:	159
सूत्र - 29	:	मृत्यु पश्चात् जन्म में अंतराल कितना ?	:	162
सूत्र - 30-31	:	अविग्रह गति-अनाहारक स्थिति	:	165
सूत्र - 32	:	जन्म प्रकरण	:	168
सूत्र - 33	:	योनि प्रकरण	:	170
सूत्र - 34-36	:	जन्म प्रक्रिया	:	172
सूत्र - 37	:	पाँच शरीर	:	174
सूत्र - 38-40	:	सूक्ष्मत्व-स्थूलत्व	:	181
सूत्र - 41-43	:	शरीर संबंध कब से कब तक	:	184
सूत्र - 44	:	एक साथ में शरीर कितने ?	:	187
सूत्र - 45	:	निरूपभोगी है कार्मण	:	190
सूत्र - 46-48	:	किसको मिली कौनसी देह	:	192
सूत्र - 49	:	आहारक शरीर का स्वामी कौन ?	:	195
सूत्र - 50-51	:	लिंग और वेद	:	198
सूत्र - 52	:	आयुष्य विज्ञान	:	201

।। अथ द्वितीयोऽध्याय:।।

जीव तत्त्व

मूल सूत्र एवं अर्थ

सूत्र- औपशमिकक्षायिकौ भावौ मिश्रश्च जीवस्य स्वतत्त्वमौदयिकपारिणामिकौ च ।।1।।
अर्थ- औपशमिक, क्षायिक और मिश्र (क्षायोपशमिक) ये तीन तथा औदयिक व पारिणामिक ये दो, कुल 5 भाव हैं ।।1।।

सूत्र- द्विनवाष्टादशैकविंशतित्रिभेदा यथाक्रमम्।।2।।
अर्थ- पूर्व में उक्त पाँच भावों में क्रम से दो, नौ, अठारह, इक्कीस और तीन भेद है। अर्थात् औपशमिक भाव के दो भेद, क्षायिक भाव के नौ भेद, क्षायोपशमिक के 18 भेद, औदयिक के 21 भेद और पारिणामिक के 3 भेद हैं ।।2।।

सूत्र- सम्यक्त्वचारित्रे ।।3।।
अर्थ- औपशमिक भाव के दो भेद–उपशम समकित एवं उपशम चरित्र है ।।3।।

सूत्र- ज्ञानदर्शनदानलाभभोगोपभोगवीर्याणि च ।। 4।।
अर्थ- ज्ञान, दर्शन, दान, लाभ, भोग, उपभोग, वीर्य, सम्यक्त्व और चारित्र ये नौ क्षायिक भाव के भेद हैं ।।4।।

सूत्र- ज्ञानाज्ञानदर्शनदानादिलब्ध्यश्चतुस्त्रित्रिपंचभेदा: यथाक्रमम् सम्यक्त्वचारित्र संयमाऽसंयमाश्च ।।5।।
अर्थ- चार ज्ञान, तीन अज्ञान, तीन दर्शन, पाँच दानादि लब्धियाँ, सम्यक्त्व, चारित्र (सर्वविरति) और संयमासंयम (देश विरति) ये अठारह क्षायोपशमिक भाव है ।।5।।

सूत्र- गतिकषायलिंगमिथ्यादर्शनाऽज्ञानाऽसंयताऽसिद्धत्वलेश्याश्चतुश्चतुस्त्रये कैकैकैकषड्भेदाः ॥6॥
अर्थ- चार गतियाँ, चार कषाय, तीन लिंग, एक मिथ्या दर्शन, एक अज्ञान, एक असंयम, एक असिद्ध भाव और छः लेश्याएं ये 21 औदयिक भाव है ॥6॥

सूत्र- जीवभव्याभव्यत्वादीनि च ॥7॥
अर्थ- जीवत्व, भव्यत्व एवं अभव्यत्व ये तीन तथा अन्य भी पारिणामिक भावों के भेद है ॥7॥

सूत्र- उपयोगो लक्षणम् ॥8॥
अर्थ- जीव का लक्षण उपयोग है ॥8॥

सूत्र- स द्विविधोऽष्टचतुर्भेदः ॥9॥
अर्थ- वह उपयोग दो प्रकार है तथा आठ विधा और चार भेदों वाला है ॥9॥

सूत्र- संसारिणो मुक्ताश्च ॥10॥
अर्थ- संसारी और मुक्त ये दो विभाग है। ॥10॥

सूत्र- समनस्काऽमनस्काः ॥11॥
अर्थ- संसारी जीव मन सहित (समनस्क) और मन रहित (अमनस्क) इन दो भेदों वाले हैं ॥11॥

सूत्र- संसारिणस्त्रसस्थावराः ॥12॥
अर्थ- संसारी जीव के त्रस और स्थावर-ये दो भेद होते हैं ॥12॥

सूत्र- पृथिव्यम्बुवनस्पतयः स्थावराः ॥13॥
अर्थ- पृथ्वीकाय, अप्काय (जल) और वनस्पति-ये तीनों स्थावर है ॥13॥

सूत्र- तेजोवायू द्वीन्द्रियादयश्च त्रसाः ॥14॥
अर्थ- तेजस्काय, वायुकाय एवं बेइंद्रिय आदि जीव त्रस है ॥14॥

सूत्र- पंचेन्द्रियाणि ॥15॥
अर्थ- इंद्रियाँ पाँच है ॥15॥

सूत्र- द्विविधानि॥16॥
अर्थ- ये पाँचों इंद्रियाँ दो-दो प्रकार की है ॥16॥

सूत्र- निर्वृत्त्युपकरणे द्रव्येन्द्रियम् ॥17॥
अर्थ- द्रव्येन्द्रिय निवृत्ति और उपकरण रूप है। ॥17॥

सूत्र- लब्ध्युपयोगौ भावेन्द्रियम्॥18॥
अर्थ- भावेन्द्रिय लब्धि और उपयोग रूप है। ॥18॥

सूत्र- उपयोग: स्पर्शादिषु ॥19॥
अर्थ- उपयोग स्पर्श आदि विषयों में होता है ॥19॥

सूत्र- स्पर्शनरसनघ्राणचक्षु: श्रोत्राणि ॥20॥
अर्थ- स्पर्शन, रसन, घ्राण, चक्षु और श्रोत-ये इंद्रियों के नाम है ॥20॥

सूत्र- स्पर्शरसगन्धरूपशब्दास्तेषामर्था:॥21॥
अर्थ- स्पर्श, रस, गंध, वर्ण (रूप) और शब्द-ये पाँच इंद्रियों के अर्थ यानि विषय है ॥21॥

सूत्र- श्रुतमनिन्द्रियस्य ॥22॥
अर्थ- श्रुत अनिन्द्रिय का विषय है ॥22॥

सूत्र- वायवन्तानामेकम् ॥23॥ (अथवा पाठान्तर) वनस्पत्यन्तानामेकम्
अर्थ- वायुकाय तक के जीवों के या वनस्पतिकाय तक के जीवों के एक इंद्रिय होती है ॥23॥

सूत्र- कृमिपिपीलिकाभ्रमरमनुष्यादीनामेकैकवृद्धानि ॥24॥
अर्थ- कृमि (लट), पिपीलिका (चींटी), भ्रमर और मनुष्य आदि के क्रमशः एक-एक इंद्रिय अधिक होती है ॥24॥

सूत्र- संज्ञिनः समनस्काः ॥25॥
अर्थ- जो जीव मन सहित होते हैं, वे संज्ञी जीव कहलाते हैं ॥25॥

सूत्र- विग्रहगतौ कर्मयोगः॥26॥
अर्थ- विग्रह गति कर्मयोग है ॥26॥

सूत्र- अनुश्रेणि गतिः ॥27॥
सूत्र- अविग्रहा जीवस्य ॥28॥
अर्थ- अविग्रही जीव की गति अनुश्रेणी में होती है ॥27-28॥

सूत्र- विग्रहवती च संसारिणः प्राक्चतुर्भ्यः॥29॥
अर्थ- संसारी जीव जो विग्रहगति से जा रहे हैं वे चार से पहले अर्थात् 1,2 या 3 मोड़ लेते हैं। विग्रहगति का समय चार समय से पहले यानि तीन समय तक का कहा गया है ॥29॥

सूत्र- एकसमयोऽविग्रहः ॥30॥
अर्थ- अविग्रह गति मात्र एक समय की होती है ॥30॥

सूत्र- एकं द्वौ वाऽनाहारकः ॥31॥
अर्थ- जीव एक या दो समय तक अनाहारक रहता है ॥31॥

सूत्र- सम्मूर्च्छनगर्भोपपाता जन्मः ॥32॥
अर्थ- सम्मूर्च्छन, गर्भ और उपपात-ये जन्म के तीन प्रकार है ।।32 ।।

सूत्र- सचित्तशीतसंवृत्ताः सेतरा मिश्राश्चैकशस्तद्योनयः ॥33॥
अर्थ- सचित्त, शीत और संवृत्त-ये तीन तथा इन तीनों के विपरीत अचित्त, उष्ण और विवृत एवं मिश्र रूप अर्थात् सचित्ताचित्त, शीतोष्ण एवं संवृत्तविवृत-जन्म की ये कुल 9 योनियाँ है ॥33॥

सूत्र- जरायण्डपोतजानां गर्भः ॥34॥
अर्थ- जरायुज, अण्डज और पोतज प्राणियों का गर्भ से जन्म होता है अर्थात् ये गर्भज जीव है ॥34॥

सूत्र- नारकदेवानामुपपात: ॥35॥
अर्थ- नारक और देवों का उपपात जन्म होता है ॥35॥

सूत्र- शेषाणां सम्मूर्च्छनम् ॥36॥
अर्थ- शेष सब प्राणियों का सम्मूर्च्छन् जन्म होता है ॥36॥

सूत्र- औदारिकवैक्रियाऽऽहारकतैजसकार्मणानि शरीराणि ॥37॥
अर्थ- औदारिक, वैक्रिय, आहारक, तेजस एवं कार्मण-ये 5 प्रकार के शरीर हैं ॥37॥

सूत्र- परं परं सूक्ष्मम् ॥38॥
अर्थ- इन पाँच भेदों वाले शरीरों में पर-पर अर्थात् आगे-आगे का शरीर पूर्व-पूर्व से सूक्ष्म है ।॥38॥

सूत्र- प्रदेशतोऽसंख्येयगुणं प्राक्तैजसात् ॥39॥
अर्थ- प्रदेशों की अपेक्षा तेजस् शरीर से पहले के तीनों शरीर एक दूसरे से असंख्यात गुणा अधिक है ॥39॥

सूत्र- अनन्तगुणे परे ॥40॥
अर्थ- परे अर्थात् बाद के दोनों शरीर (तेजस् और कार्मण) प्रदेशों से अनंत गुणा होते हैं ॥40॥

सूत्र- अप्रतिघाते ॥41॥
अर्थ- तेजस् व कार्मण दोनों शरीर प्रतिघात रहित हैं ॥41॥

सूत्र- अनादिसंबंधे च ॥42॥
अर्थ- आत्मा के साथ अनादि संबंध वाले हैं ॥42॥

सूत्र- सर्वस्य ॥43॥
अर्थ- सब संसारी भूत मात्र में होते हैं ॥43॥

सूत्र- तदादीनि भाज्यानि युगपदेकस्यऽऽ चतुर्भ्य: ॥ 44॥
अर्थ- एक साथ एक जीव के तेजस् और कार्मण से लेकर चार तक शरीर विकल्प से होते हैं ॥44॥

सूत्र- निरूपभोगमन्त्यम् ॥45॥
अर्थ- अंतिम अर्थात् कार्मण शरीर उपभोग से रहित है ॥45॥

सूत्र- गर्भसम्मूर्च्छनजमाद्यम् ॥46॥
अर्थ- गर्भ और सम्मूर्च्छिम रूप से उत्पन्न होने वाले जीवों के औदारिक शरीर होता है ॥46॥

सूत्र- वैक्रियमौपपातिकम् ।॥47॥
अर्थ- वैक्रिय शरीर उपपात जन्म से होता है ।॥47॥

सूत्र- लब्धि प्रत्ययं च ॥48॥
अर्थ- यह लब्धि से भी होता है ॥48॥

सूत्र- शुभं विशुद्धमव्याघाति चाहारकं चतुर्दशपूर्वधारस्यैव ॥49॥
अर्थ- आहारक शरीर शुभ, विशुद्ध और व्याघात रहित होता है तथा वह 14 पूर्वधारी मुनि के ही होता है ॥49॥

सूत्र- नारक सम्मूर्च्छिनो नपुंसकानि ॥50॥
अर्थ- नारक और सम्मूर्च्छिम जीव नपुंसक ही होते हैं ॥50॥

सूत्र- न देवाः ॥51॥
अर्थ- देव नपुंसक नहीं होते ॥51॥

सूत्र- औपपातिक चरमदेहोत्तम पुरूषाऽ संख्येयवर्षायुषोऽनपवर्त्यायुषः ॥52॥
अर्थ- औपपातिक (नारक व देव), चरम शरीरी, उत्तमपुरूष और असंख्यातवर्षजीवी ये अनपवर्तनीय आयु वाले ही होते हैं ॥52॥

॥ इति मूल सूत्र द्वितीयोऽध्यायः सम्पूर्णम् ॥

जीव तत्त्व

वाचक उमास्वाति द्वारा रचित तत्त्वार्थ सूत्र के प्रथम अध्याय में हमने संसार/लोक दर्शन का परिचय प्राप्त किया। यूँ समझ लीजिए कि हमने लोक नामक इस नगर में प्रवेश प्राप्त किया। गोया, जब हम किसी बसे-बसाए परिवार में उनके साथ रहने के लिए प्रवेश करते हैं तो उस घर में रहने वाले बाशिन्दों, घर की बनावट, उसकी साज-सज्जा आदि का परिचय प्राप्त करते हैं। बस यही तत्त्वार्थ सूत्र का पहला अध्ययन था।

संस्कृत का 'पुरूष' शब्द 'पुरू' से बना है: जिसका अर्थ होता है-एक पूरा नगर, निगम। अगर हम इस सम्पूर्ण सृष्टि को एक लोक पुरूष मान लें तो इसका उथला/भौतिकी परिचय हमने पहले अध्याय में पढ़ा, जिसमें हमने सम्पूर्ण विश्व/सृष्टि संस्था के जीवादि पदार्थों का परिचय प्राप्त किया, जिसे हम 'निगम' कहते हैं। दूसरा अध्याय 'आगम' का है इसलिए यह आध्यात्मिक अर्थों में होने के कारण थोड़ा कठिन है। यूँ समझ लीजिए कि 'निगम' बाह्य संरचना को कहते हैं मगर 'आगम' आन्तरिक विधान को कहते हैं। इसे समझने के लिए हम सम्पूर्ण लोक परिवार को दो भागों में बाँट सकते हैं-एक नियन्ता और दूसरा क्रियन्ता। नियन्ता (controller) या (commander) से हमारा तात्पर्य सम्पूर्ण जीव तत्त्व से है, जिसमें सम्पूर्ण जीवात्मा अर्थात् परमात्मा का समावेश हो जाता है और क्रियन्ता (executor) अन्य पाँच तत्त्व है, जो क्रमशः इस प्रकार है - पुद्गल, धर्म, अधर्म, आकाश और काल। ये पाँच तत्त्व जीवास्तिकाय की आज्ञा के अनुसार इस लोक में सतत् सृष्टि मंचन करते हैं, जिसे संसार कहा गया है। कुछ देवज्ञों ने इसे अनित्य भी कहा है तो कुछ दर्शनों ने 'माया' भी कहा है। ऐसा समझ लीजिए कि काल (time) एक प्रेक्षागृह (theatre) है, जिसमें आकाश (space) रूपी मंच पर धर्मास्तिकाय अर्थात् गति और अधर्मास्तिकाय अर्थात् बाधा/रूकावट के माध्यम से पुद्गल रूपी अभिनेता (actor) समय-समय पर अपना रूप परिवर्तित करते हुए अपने पात्र निभाते जाते हैं। मगर इस नाट्य प्रस्तुति का संवाद लेखक कौन है-यह सोचने व समझने की बात है। इस नाटक का नाटककार संवाद लेखक ही वह मूल पुरूष है। 'जीव' ही अपने भाव-कल्प द्वारा सृष्टि रचना करता है। विविध नाट्य मंचन उसी के चित्र-विचित्र भावों की परिणतियाँ है। 'जीव' समय-समय पर तत्कालीन संस्कृति व सभ्यता के अनुकूल व प्रतिकूल, परिपाटीगत अथवा क्रान्तिकारी जो कल्प करता है, आत्मा की उस योग्यता के प्रवाह को तत्त्वार्थ सूत्र ने 'भाव' कहा है।

भाव शब्द वैसे तो 'भव' धातु से बना है, जिसका अर्थ होता है-'होना'/अस्तित्त्व/सत्ता। अतः भाव का अर्थ हुआ 'होनापन' अथवा जीव रूपी अस्तित्त्व/सत्ता की वह योग्यता, जो समय-समय पर पुद्गल पदार्थ को आदेश पूरित (command) करता है और फिर वह Charged पुद्गल तरह-तरह के रूपों में आकाश रूपी प्लेटफॉर्म पर समय के गहरे अन्तराल में भविष्य का निर्माण करता जाता है। यह भविष्य में फिल्माई गई फिल्म यथासमय जीवात्माओं के समक्ष निमित्त के रूप में पुनः उपस्थित होती है, जिसे जीव को अच्छे या बुरे अर्थों में कर्मफल भोग रूप में भोगना ही पड़ता है। भोगते समय जीव पुनः अपनी-अपनी मानसिक संवेदना के अनुसार

मनोज्ञ अथवा अमनोज्ञ कल्प करता रहता है, जिसे समण दर्शन में 'बन्ध' कहा गया है। भोगते समय पुराने बन्धों से उसका छुटकारा भी होता रहता है, जिसे 'निर्जरा' कहा गया है अर्थात् भोग 'निर्जरा' है और हर नया कल्प 'बन्ध' है। इस प्रकार कभी न समाप्त होने वाला यह सृष्टि चक्र चलता रहता है। जीव में कल्प करने की योग्यता के अनन्त/अनवरत प्रवाह को ही 'भाव' कहा गया है। कुल मिलाकर भाव का अर्थ है-जीव की योग्यता अथवा उपादान।

निश्चय दृष्टिकोण से तो भाव दो प्रकार के ही होते हैं - एक स्वभाव और एक विभाव।

स्वभाव का अर्थ है जीव की योग्यता का वह प्रवाह जो आत्मा द्वारा आत्मा में ही गतिमान होता हो अर्थात् स्व में अवस्थिति।

विभाव का अर्थ उस योग्यता से है, जब आत्मा स्वभाव से विचलित होकर पुद्गल पदार्थों की तरफ प्रवाहित होना शुरू हो जाए, तब आत्मा 'पर' में अर्थात् भौतिक संसार की भौतिक संरचना जैसे कि देह में, वस्तु संग्रह में, व्यक्ति सम्बन्धों में, विषय लिप्तता में, विद्या विलास में, लोक व्यवहार में, वाणी विचार आदि में प्रवाहित होती है। यह विभाव ही मूलतः सभी जीवों की भिन्नता का व दृश्यगत संसार का मूल कारण है। यह विभाव ही वस्तुतः कर्म बंधन है।

जिस प्रकार लोक पुरूष का मूल नायक 'जीव' छः काय में सह अवद्य होकर अर्थात् शोरगुल में शरीक होकर नाटक करता है; उसी प्रकार शरीर में स्थित जीव पाँच कर्मेन्द्रिय अथवा ज्ञानेन्द्रिय के माध्यम से तरह-तरह के भाव कल्प करता रहता है। इसे इस द्वितीय अध्याय के प्रारम्भ में समझाया गया है।

पुनः हम इस बात को समझना चाहेंगे कि दर्शन शास्त्र को समझाने के प्राचीन काल में जो तरीके उद्घोषित हुए थे, अक्सर वे काव्यात्मक थे मगर समण दर्शन और सांख्य दर्शन ने इसे और ज्यादा वैज्ञानिक बनाने के दृष्टिकोण से कलनात्मक (calculative) बनाया अर्थात् गणित की भाषा में समझाया ताकि जो लोग काव्य की भाषा में तत्त्वार्थ को नहीं समझ सकें, वे गणित की भाषा से समझ जाएँ। गणित की भाषा ज्यादा वैज्ञानिक होती है और उसमें भौतिक स्पर्श यथायोग्य होता है।

भावों का अध्ययन करने से पहले हम यह स्पष्ट कर देते हैं कि जैन दर्शन में जीव की योग्यता को आठ भागों में बताया गया है, जिसमें चार गुणात्मक है और चार परिचयात्मक है। ज्ञान, दर्शन, वीर्य, आनन्द - ये गुणात्मक गुण हैं। ये चारों ही योग्यताएँ समझने के दृष्टिकोण से अलग-अलग कही गई है, मगर जीव से अभिन्न होने के कारण जीव ही है क्योंकि गुण कभी तत्त्व से भिन्न नहीं होता। इन चारों गुणों की जो एक रूप सत्ता है वह है 'कल्पाज्ञा'। 'कल्पाज्ञा' का अर्थ है कि जीव जब अच्छा या बुरा कल्प करता है तो वह सृष्टि में आज्ञा बनकर विस्फुरित हो जाती है और यथासमय स्थान पाकर वहाँ रोपित हो जाती है, जिसे जीव भविष्य में पुनः भोगता या अनुभव करता है। इसे 'भाव' करना कहा गया है। ये भाव चाहे स्वभाव हो या विभाव, 'भाव' ही है।

यहाँ हम यह स्पष्ट समझ लें कि केवल जीव ही ऐसा तत्त्व है, जो कुछ भी भाव करने के लिए अक्रम एवं स्वतन्त्र है। भाव करने के लिए वह अपना नाथ (master) स्वयं है, उस पर कोई नियम लागू नहीं होता। मगर जैसे ही वह भाव करता है, वैसा ही कल्प भविष्य में निर्धारित हो जाता है, उसे 'निकाचित् अथवा निधत्त कल्प' कहते हैं। उसे भोगने के लिए जीवात्मा बाध्य होता है। साथ ही हर भोग के साथ हो रही निर्जरा के क्षणों में वह फिर नया भाव करने के लिए स्वतन्त्र भी होता है। परन्तु प्रकृति पर यह नियम लागू नहीं होता। सारे संसार के अनन्त जीवों के भाव प्रकृति के अनन्त पुद्गलों को श्रृंगारित, संस्कारित एवं चित्रित करते रहते हैं। इनके नियम बनाने वाला कोई

नियन्ता तो नहीं है मगर प्रकृति के स्वसंचालित (Self regulated) नियम बन गए हैं, जिसे क्रमबद्ध पर्याय कहते हैं। उस विधा को, जो पुद्गल पदार्थों के क्रमबद्ध पर्यायों को जानता है, उसे हम विज्ञान कहते हैं। विज्ञान (science) द्वारा प्रकृति की क्रमबद्ध पर्यायों को तो जाना जा सकता है किंतु इन पर्यायों में होने वाले परिवर्तन के मूल उपादान (root cause) तत्त्व को जिसे कि 'आत्मा के भाव' कहते हैं, नहीं जाना जा सकता। प्रस्तुत द्वितीय अध्याय में जीव के गुणों को अनेक अपेक्षाओं से संकेतित किया गया है। जीव की चार मौलिक योग्यताएँ- ज्ञान, दर्शन, वीर्य व आनंद चार घाति कर्मों के क्षय अथवा क्षयोपशम से प्रगट होती है। यथा ज्ञानावरणीय कर्म के क्षय से केवल ज्ञान, दर्शनावरणीय कर्म के क्षय से अभंग दर्शन, अन्तराय कर्म के क्षय से अकरण वीर्य (Infinite Potential) व मोहनीय कर्म के क्षय से आनंद गुण यानि क्षायिक समकित गुण। अन्य चार परिचयात्मक योग्यताएँ अघाति कर्मों की देन है जैसे- वेदन (साता-असाता का), नाम, गौत्र व आयुष्य। ये चारों परिचयात्मक जीव को विविध आकार-प्रकार, इन्द्रिय-देह आदि में प्रस्तुत करते हैं। इन सभी को यथावत् जान-समझ कर आत्मा को कर्मों से मुक्त बना लेना अर्थात् विभावमुक्त होना ही इस सारे वर्णन का ध्येय है।

सूत्र-1

पाँच भाव

आत्मा के भाव प्रति समय बदलते रहते हैं, उसके बारे में कभी कोई पूर्व घोषणा नहीं की जा सकती है। किंतु फिर भी उन भावों को वीतराग सर्वज्ञ सर्वदर्शी भगवंतों ने 5 भेदों में कहा है। इन भावों के 5 प्रकारों का कथन वाचक उमास्वाति द्वितीय अध्याय 'जीव तत्त्व' के प्रथम सूत्र में कहते हैं। चूंकि प्रथमतः जीव के भाव ही जानने-समझने योग्य है। जब तक हम आत्मा के भावों को नहीं समझ पाएँगे, तब तक अध्यात्म यात्रा की शुरुआत नहीं हो पाएगी। अतः वे प्रथम सूत्र में कहते हैं कि -

सूत्र- औपशमिक्षायिकौ भावौ मिश्रश्च जीवस्य स्वतत्त्वमौदयिकपारिणामिकौ च ॥1॥

अर्थ- औपशमिक, क्षायिक और मिश्र (क्षायोपशमिक)-
ये तीन तथा औदयिक व पारिणामिक ये दो, कुल 5 भाव हैं ॥1॥

विवेचन- आत्मा के पर्यायों की भिन्न-भिन्न अवस्थाएँ ही ये पाँच भेदों वाले 'भाव' है। आत्मा के इन पाँच भावों का अर्थ इस प्रकार है -

1. औपशमिक भाव :- जो भाव कर्मों के उपशम को लाता है, जिसके निमित्त से जीव के कषाय आदि उपशांत होते हैं, उसे औपशमिक भाव कहते हैं। उपशम शब्द का अर्थ है शमन के समीप, शांति के समीप। जिस प्रकार एक बाल्टी के जल में यदि गंदगी है किंतु उस बाल्टी को हलचल से रहित कर देवें, उसका पानी शांत हो जावे तब वह गंदगी पानी के तल पर बैठ जाएगी और ऊपर का जल एकदम स्वच्छ-निर्मल हो जाएगा। इसी प्रकार आत्मा के वर्तमान के शांत भावों के कारण उसके सत्ता में रहे हुए कितने ही कर्म दलिक शांत होकर बैठ जाते हैं, उदय में नहीं आते हैं, उसे उपशम कहते हैं। उपशम को लाने वाला भाव 'औपशमिक भाव' कहलाता है।

2. क्षायिक भाव - आत्मा का वह भाव जो कर्मों के क्षय का कारण होता है, जिसके होने पर पूर्व में बँधे हुए कर्म क्षय हो जावे और पुनः नए कर्म न बँधे उसे क्षायिक भाव कहते हैं। जिस प्रकार सोने को आग में तपाने पर उसकी अशुद्धि पूर्णतः समाप्त हो जाती है, उसी प्रकार आत्मा की वह विशुद्ध अवस्था जिसमें सारी अशुद्धियाँ समाप्त हो जावे, 'क्षायिक भाव' कहलाती है। जितना-जितना क्षायिक भाव बढ़ता है, उतनी-उतनी यह जीवात्मा कर्म बंधनों से मुक्त हो जाती है। यह क्षायिक भाव आत्मा के स्वभाव में उपस्थित होने पर प्रकट होता है। जब आत्मा अपने उपयोग गुण में अप्रमत्त होकर विचरण करती है, तब कर्म बंधन क्षीण होते जाते हैं। जब समस्त कर्म बंधन

क्षीण हो जाते हैं, तब आत्मा सिद्ध-बुद्ध-मुक्त हो जाता है एवं परिनिर्वाण को यानि परमशांति को उपलब्ध होता है।

3. क्षायोपशमिक भाव - क्षय और उपशम की मिली-जुली आत्म अवस्था क्षायोपशमिक भाव कहलाती है। जब आत्मा के भावों से कुछ कर्म बंधन तो उपशांत हो रहे हो, एवं कुछ क्षय हो रहे हो, तब क्षायोपशमिक भाव दशा होती है। जैसे आकाश में बादलों से घिरे चँद्रमा पर से कुछ बादल हट जाने पर वह कुछ अंश में दिखलाई पड़ता है, बाकी अंशों में छुपा रहता है, उसी प्रकार आत्मा की योग्यता जब कुछ प्रगट हो पाती है और कुछ नहीं - ऐसी मिश्र अवस्था क्षायोपशमिक भाव दशा कहलाती है।

4. औदयिक भाव - आत्मा का वह भाव जो बंधे हुए कर्मों को उदय में लाता है, 'औदयिक भाव' कहलाता है। इस जीवात्मा को निरंतर भिन्न-भिन्न स्थितियाँ मिलती रहती है, भिन्न-भिन्न गतियाँ, जातियाँ, अवस्थाएँ, माहौल मिला करता है, वह सब इस भाव का परिणाम है। प्रत्येक जीवात्मा कुछ न कुछ भाव प्रतिपल प्रसारित करता रहता है। उसके भाव प्रसारण से जो भी पूर्वबद्ध कर्म अथवा नवीन वातावरण उपस्थित होने को बाध्य हो जाता है, उसे ही औदयिक भाव समझना चाहिए। जैसे कि मैंने किसी को गाली दी, तब उसे भी क्रोध आया और फिर उसे क्रुद्ध देखकर मुझे भी क्रोध उठ आया - ये सब औदयिक भाव है। समय-समय पर मन में उठते समस्त विचार, भाव-तरंगें, यादें, स्मृतियाँ, कांक्षाएँ, कल्पनाएँ-ये सब औदयिक भाव ही है। औदयिक भाव मात्र 'अशुभ' ही हो, ऐसा नहीं है। प्रेरणा प्राप्त होने पर धर्म-ध्यान की भावना भी औदयिक भाव रूप ही है। जब स्वभाव की ओर गति होती है, तब यह औदयिक भाव क्षायोपशमिक अथवा क्षायिक भाव में परिणत होता जाता है।

5. पारिणामिक भाव - आत्मा का स्वभावतः परिणमन होना, बदलते रहना पारिणामिक भाव है। आत्मा कभी गतिशून्य नहीं हो सकती। गति उसका धर्म है, स्वभाव है। यह निरंतर गतिशीलता ही 'पारिणामिक भाव' है, जो कि सभी आत्माओं में हर समय रहता ही है। चाहे वह आत्मा संसारी हो, चाहे सिद्ध। संसारी आत्माओं का प्रायः वैभाविक परिणमन होता रहता है, जबकि सिद्ध आत्माओं का स्वाभाविक परिणमन। सिद्ध आत्माएँ अपने ज्ञान-दर्शन-उपयोग-आनंद में ही परिणमन करती रहती है। उनके ये गुण प्रतिपल नए होते रहते हैं। जीव के पारिणामिक भाव ही एकमात्र वे भाव हैं, जो कर्मों से मुक्त हैं, क्योंकि इनका संबंध कर्मों के उदय, उपशम, क्षय या क्षयोपशम से नहीं है। जीव का स्वभाव ही परिणमन है, परिवर्तन है। अतः ये पारिणामिक भाव ही एकमात्र वे भाव है, जिनसे जीव को निरंतर कर्ममुक्त होने की शक्ति प्राप्त होती है और जीव का पुरूषार्थ कर्म के परिवर्तन में भी सक्षम बना रहता है।

ये पाँचों ही भाव आत्मा के स्वरूप है। संसारी या मुक्त-कोई भी आत्मा हो, उसके सभी पर्याय इन पाँच भावों में से किसी न किसी भाव वाले ही होंगे। मुक्त जीवों में दो भाव होते हैं - क्षायिक और पारिणामिक। संसारी जीवों में कोई तीन भाव वाला, कोई चार भाव वाला, कोई पाँच भाव वाला होता है, परंतु दो भाव वाला कोई नहीं होता।

प्रायः संसारी व्यक्ति को अपने कर्मों के अनुसार जैसे-जैसे निमित्त मिलते जाते हैं, वे उन निमित्तों के प्रभाव में बह जाते हैं। औदयिक भावों से प्रभावित होकर वे फिर-फिर उन्हीं-उन्हीं तरह के नवीन कर्मों का बंधन

करते रहते हैं। क्रोध के उदय में क्रोध, मान के उदय में मान, लोभ के उदय में लोभ - इस तरह भावावेश में आकर औदयिक कर्मों के अनुसार जीने वाले लोग ज़्यादा होते हैं। उनकी स्थिति उस गेंद के समान होती है जिसको जिधर से ठोकर (kick) लगे, वह उधर ही गति करे। जैसे निमित्त मिले, वे वैसे ही बन जाए। कभी सुयोग मिलने पर उनमें अच्छे भावों का, जागृति का संचार होता है, तब कुछ आत्माएँ ये संकल्प करती है कि वह उदय आवेश से आवेशित नहीं होगी। कदाचित् भूल हो गई तो तुरंत स्वयं के संकल्प को याद कर अपने अतिक्रमण का, out of order हो जाने का प्रतिक्रमण करेगी, re-order होगी। औदयिक भावों से स्वयं को अप्रभावित बनाने का भाव क्षायोपशमिक भाव कहलाता है। साधक क्षायोपशमिक भाव द्वारा निरंतर अपने कर्मोदय को निष्फल करता जाता है। औदयिक भावों में यदि प्रमादवश रमण करने लग गया हो तो बोध आते ही तुरंत उनसे स्वयं को लौटा लेता है। यह प्रक्रिया ही प्रतिक्रमण कहलाती है। पूर्व आचार्य कहते हैं कि-

क्षायोपशमिकाद्भावादौदयिकस्य वशं गतः।
तत्रैव क्रमणं भूयः प्रतिक्रमण मुच्यते॥

इन क्षायोपशमिक भावों द्वारा निरंतर आत्मा के ऊपर रहे हुए कर्मावरण शिथिल होते जाते हैं। पानी में रही गंदगी को छानने वाले वस्त्र के समान ये क्षायोपशमिक भाव होते हैं। जिस प्रकार पानी को गरने (बारीक कपड़ा) से छान लिए जाने पर भी कुछ सूक्ष्म रज पानी में पुनः मिल ही जाती है, जो गरने द्वारा भी रूकती नहीं है, उसी प्रकार क्षायोपशमिक भावों द्वारा भी कर्मों का विपाक उदय रुप मोटा-मोटा मैल तो रूक जाता है, क्षय हो जाता है किंतु उनका प्रदेश उदय (सूक्ष्म मैल) बना रहता है। भावों की उपशम अवस्था में कुछ कर्मों का विपाकोदय एवं प्रदेशोदय दोनों ही नहीं रहता है। अर्थात् कुछ कर्म एकदम शांत, बिना अपने प्रभाव को छोड़े सत्ता में पड़े रहते हैं। जैसे, ध्यान के क्षणों में लगी समाधि की अवस्था। समाधि अवस्था में विचार तरंगें शांत हो जाती है। वे किसी तरह का impression नहीं दे रही होती है।

भावों की विविध अवस्थाओं को समझने वाला साधक इस बात का अनुभव कर लेता है कि मैं अपने भावों के कारण ही विविध स्थितियों को बनाता हूँ, बदलता हूँ एवं मिटाता भी हूँ। इन भावों को जानने से जीव की यह दृढ़ श्रद्धा हो जाती है कि भावों के सिवाय मैं संसार में और कुछ नहीं करता। मैं अपने भावों को करने में स्वतंत्र हूँ किंतु उन भावों को करने के बाद जो प्रभाव आएँगे, उनको भोगने के लिए परतंत्र हूँ। इन प्रभावों से उसी रौ में बह जाऊँ तो औदयिक भाव, उनके प्रति दृष्टा भाव रखूँ और अप्रभावित बनूँ तो 'क्षायिक भाव', कुछ प्रभावित-कुछ अप्रभावित रहूँ, अथवा प्रभावित न होने का सतत् अभ्यास करूँ तो क्षायोपशमिक भाव वाला होता हूँ।

कर्मोदय के समय शुद्ध ज्ञायक भाव में रहना पारिणामिक भाव है। यही ध्येय रूप है। इसी पारिणामिक भाव की दृष्टि द्वारा उपशम, क्षयोपशम, क्षायिक सम्यक्त्व यानि शुद्ध भाव प्रकट होते हैं।

भावों के विज्ञान को जानने वाला साधक सदा अप्रमत्त होता है या यूँ कह दो कि जो अप्रमत्त होता है, वही अपने भीतर के सारे भावों को जान-देख पाता है। यही हमारा इष्ट है कि हम अप्रमत्त रहें ताकि विभावों में बहकर पुनः-पुनः संसार को प्राप्त न करें। समण भगवान महावीर यही घोषणा अपने जीवन काल में बार-बार करते रहे कि - समयं! गोयम मा पमायए। (उत्तराध्ययन सूत्र)

हे आत्मा ! तू इंद्रिय विषयों में प्रमादित मत बन।

सूत्र-2-3

उपशम के भेद

जीवतत्त्व को समझने के लिए हमने जीव के 5 प्रकार के भावों का कथन समझा। जीव के ये 5 प्रकार के भाव भी कई उपभेदों वाले होते हैं। इन 5 भावों के भी कुल 53 भेद होते हैं। उन भेदों की संख्या का वर्णन निम्न दूसरे सूत्र में किया गया है -

सूत्र- द्विनवाष्टादशैकविंशतित्रिभेदा यथाक्रमम् ॥2॥

अर्थ- पूर्व में उक्त पाँच भावों के क्रम से दो, नौ, अठारह, इक्कीस और तीन भेद है अर्थात् औपशमिक भाव के दो भेद, क्षायिक भाव के नौ भेद, क्षायोपशमिक के 18 भेद, औदयिक के 21 भेद और पारिणामिक के 3 भेद हैं ॥2॥

ये भेद कौन-कौन से हैं, इन्हें जानने के लिए अगले 5 सूत्र भी साथ में ही समझने होंगे।

सूत्र- सम्यक्त्व चारित्रे ॥3॥

अर्थ- औपशमिक भाव के दो भेद-उपशम समकित एवं उपशम चरित्र है। ॥3॥

विवेचन- उपशम चरित्र व उपशम समकित को समझने से पहले हम भावों की उपशम और क्षय दशा को फिर से समझेंगे तो ज्यादा अच्छा रहेगा। जैसे एक अंगारा होता है, उसे अगर राख में रख दिया जाए तो वह राख से ढका होने के कारण अपना ताप व प्रकाश बाहर प्रकट नहीं कर पाता और हम समझते हैं कि सब कुछ शांत हो गया मगर ऐसा नहीं होता है, समय आने पर पुनः निमित्त मिलने पर वह राख हटेगी ही और अंगारा दरकेगा ही। अंतर् में रहे हुए भावों की इस प्रकार की स्थिति को उपशम भाव कहते हैं। कई बार गुरू लोग भी अगर भावों को क्षय करने का स्थान नहीं हो तो उसे उपशम करने की सलाह ज़रूर देते हैं ताकि फिलहाल शांति हो जावे। भावों के आवेग में नई हिंसा व कर्म बंधन न हो। और जब मनोदशा अच्छी हो और वातावरण अनुकूल हो तब वह चिंगारी उदय में आवे तो उसे धर्म-ध्यान के पानी से बुझा सकते हैं। मगर मूल रूप से विभावों का क्षय होना ही साधक का लक्ष्य होना चाहिए क्योंकि क्षय तो आपको करना ही पड़ेगा। वह भले अब हो या बाद में। बिना क्षय किए छुटकारा नहीं है। इसे 'अप्पाणं वोसिरामि' मंत्र द्वारा क्षय किया जाता है। उपशम भाव अगर पापानुबंधी पाप के कारण से है तो उसे

कितना ही उपशम किया जाए, अगर उसका कायोत्सर्ग द्वारा रस परिवर्तन नहीं किया गया तो वे जब भी उदय में आएँगे साधक का पतन होगा ही। यही कारण है कि कई बार साधु-साध्वियाँ भावावेश में साधुत्व तो ग्रहण कर लेते हैं और अपने भावों को अन्दर ही अन्दर दबा देते हैं। किंतु वे दबे हुए भाव ग्रन्थियाँ बन जाते हैं-ये उपशम चारित्र भाव होते हैं। इन भावों में व्यक्ति की इच्छाएँ व आशाएँ कुछ करने का निर्णय लिए हुए होती है और विपरीत सात्विक साधनाओं में दबा दी जाने के कारण अंदर सूक्ष्म से सूक्ष्मतर संग्रहीत हो जाती है। समय आने पर ये दबी इच्छाएँ शरीर में चरित्र भोग के हॉरमोन्स (Hormones) बनाने शुरू कर देती है और एक दिन इन हॉरमोन्स को निमित्त मिलने पर वे आन्तरिक गाँठें अणुबम की तरह फूटती है और साधक साधुवेश को छोड़कर वापस गृहस्थ आश्रम में चला जाता है। अथवा लोगों में अपनी छवि बनाए रखने के कारण वह झूठ-प्रपंच, माया मृषावाद सब कुछ करता है। अपने गुरू लोगों पर झूठे आरोप मढ़ते हुए ऐसे बिगड़े साधुओं को हमने देखा है, ऐसे लोग कभी विश्वसनीय नहीं होते और अन्तःतोगत्वा उनका पतन ही होता है। जिस भोग-उपभोग को वे मसानियाँ वैराग, हठ, ज़िद्द अथवा यश और भविष्य के सुख के लोभ में छोड़ते हैं, उसी भोग -उपभोग को पुनः पाने के लिए वे मन से बाध्य होकर सम्यग् मार्ग से पलायन कर देते हैं। कई बार साधु अपने चंचल मन के कारण शरीर में उत्पन्न हॉरमोन्स से प्रताड़ित होकर साधुत्व छोड़कर गृहस्थी में जाना चाहता है मगर सावक लोग बलात् ऐसा होने नहीं देते। क्योंकि वे समझते हैं कि संघ की इज्ज़त का सवाल है। ऐसी स्थिति में वे सावक व गणमान्य व्यक्ति पाप के भागी होते ही हैं। वह साधु भी वापिस साधुवेश में रहना स्वीकार कर लेता है और अपने भावों को दबाने के लिये और अधिक घोर साधना करता है। अगर वह सातवें गुणस्थान को पार करके आगे भी बढ़ जाता है तो उपशम श्रेणी में होने के कारण अन्तःतोगत्वा साधना से पलायन करता ही है और नीचे गिर कर वहीं आ जाता है, जिस धरा से वह उठना शुरू हुआ था। इस उपशम भाव दशा को उपशम चरित्र कहते हैं। स्थानांग सूत्र में बताया गया है कि साधु भी चार प्रकार के होते हैं। कुछ सियार (hyena) की तरह दीक्षित होकर सियार की ही भाँति कायर व कमज़ोर बने रहते हैं तो कुछ सियार की तरह दीक्षित तो होते हैं किंतु बाद में सिंह की तरह पराक्रमी व अभय हो जाते हैं। कुछ दीक्षित साधु दीक्षा लेते समय तो सिंह की भांति दृढ़ पराक्रमी होते हैं, किंतु बाद में ऋद्धि-रस व साता के गौरव में अथवा दंड, शल्य के वशीभूत हो श्रृगालवत् बन जाते हैं। कुछ दीक्षित साधु ऐसे भी होते हैं जो सिंह की तरह ही दीक्षित होते हैं और सिंहवत् ही अंतिम समय तक पराक्रमी रहते हैं।

दूसरी अवस्था उपशम समकित की है। इस अवस्था में साधक मानसिक रूप से समकित होता है। उसके concepts बड़े clear होते हैं मगर प्रत्यक्ष में मिलने वाले निमित्त और प्राकृतिक शारीरिक मजबूरियों की वजह से वह सकाम निर्जरा की तपश्चर्या को ग्रहण नहीं कर पाता और साधना में ढिलाई भी बरतता है। वह चरित्र को उपशम न करके, अपने सम्यक् भावों को ही उपशम कर देता है अर्थात् जितनी चादर होती है, उतने ही पाँव पसारता है। जानते-बूझते हुए भी परिस्थितियों से समझौता कर लेता है और कई बार दायित्वों को निभाने के लिए अथवा पुराने कर्मों को चुकाने के लिये आहार, भय, मैथुन व परिग्रह का आश्रय भी ले लेता है। मगर मन में कोई गाँठ नहीं रखता, न ही कभी अपने कृत कार्यों पर पश्चाताप करके मन में कोई तनाव पैदा करता है। ऐसे लोगों को ज्ञानी भगवंत तो समझ पाते हैं मगर समाज नहीं समझ पाता। अक्सर ऐसे साधु-साध्वी बहुत निंदा के पात्र बनते हैं। मगर वे लोग भोगों को भोगते हुए अपने पुराने कर्मों की निर्जरा करते हैं और कभी न कभी उनका समकित प्रकाशित हो ही जाता है और इनका कल्याण होता है। जैसे मरूदेवी माता, दृढ़ प्रहरी, अर्जुन माली आदि। साधारणतया समाज इस बात को नहीं समझता क्योंकि साधारण जन मात्र कठोर साधना को साधुत्व मानता है। यही कारण है कि

वाराणसी के लोगों ने भगवान पार्श्वनाथ की उपेक्षा की और कमठ को तपस्वी गुरू भगवन्त मानकर आदर दिया। यहां तक कि भगवान पार्श्वनाथ को वाराणसी छोड़ कर जाना पड़ा।

यहाँ हमारा ये अभिप्राय कत्तई नहीं है कि धार्मिक साधना नहीं करनी चाहिए। करनी चाहिए, किन्तु मन में जमे हुए गहरे विकारों को धर्म ध्यान और शुक्ल ध्यान से परिशुद्ध करना चाहिये। अगर भोग के कुछ गहरे कर्म है भी और भाव से उन्हें उपशम किया भी हो तो उन्हें धर्म-ध्यान द्वारा सद्भावपूर्वक उपशम किया जाए तब तो उनका अंदर ही अंदर रस परिवर्तन प्रकृति के अनुसार होता जाएगा और वे दबे हुए कर्म दुष्चरित्र के रूप में परिणत नहीं होंगे। इस भाव दशा को उपशम समकित कहते हैं। इससे बचने के लिये हम कुछ बातों को ध्यान में ले सकते हैं -

1. निकाचित् कर्म के फलस्वरूप अगर भोग है भी, तो वह उतना बुरा नहीं है जितना चारित्र का दिखावा।

2. व्यक्ति, साधक अंदर से भोग की भावना रखे, प्रकट में लोक-लाज से बचाकर रखे और लोक-लाज के भय से वह हठ योग करे तो वह निश्चित रूप से बुरा है। उसके लिए पतन का कारण है।

उपशम भाव की एक स्तर पर उपयोगिता है भी किंतु उच्च गुणस्थानों में जाने से पूर्व क्षायिक भाव में प्रवेश हो तब ही अच्छा है अन्यथा उपशम चारित्र पुनः पतन का कारण बन जाएगा। वैसे भी उपशम समकित व उपशम चारित्र की स्थिति अधिक नहीं होती, दीर्घकालिक नहीं होती। या तो साधक क्षायिक भावों में प्रगति कर लेता है या फिर पुनः औदयिक आदि भावों में बह जाता है। हमारा पुरूषार्थ यही हो कि मानसिक या कायिक किसी भी स्तर पर हम ग्रंथियाँ न बनने दें। धर्मध्यान, कायोत्सर्ग व समिति-गुप्ति साधना द्वारा स्वयं को निखालिस करते रहें।

सूत्र-4

क्षायिक भाव

उपशम समकित में कई बार ऐसा होता है कि व्यक्ति का समकितपना कुछ कारणों से अन्दर दब जाता है और तात्कालिक प्रभावों में वह न्याय व समझ के नियमों के अन्तर्गत पक्ष-विपक्ष में संलग्न भी हो जाता है। सम्भवतया उस जीव का उस समय प्रारब्ध (Destiny) ऐसा ही होता है। ऐसी स्थिति में उसके अपने इष्ट-वाद के अनुसार कृत कार्यों में पाप-पुण्य का बन्धन तो होता है मगर वह अन्तःतोगत्वा पुण्यानुबन्धी पाप या पुण्य ही होता है। समय आने पर अन्दर दबा समकित पुनः प्रकाशित होकर जीव का कल्याण ही करता है। उदाहरण के लिए जैन वांग्मय के अनुसार भगवान श्रीकृष्ण के जीव को समझ सकते हैं। उन्होंने निष्पक्ष रहने की प्रतिज्ञा के बावजूद भी धर्म का पक्ष लेते हुए दुर्योधन को छल से मरवाया और फलस्वरूप गांधारी द्वारा दत्त नरक के शाप को भी स्वीकार किया। इसी प्रकार शस्त्र न उठाने का स्पष्टीकरण करने के बाद भी उन्होंने रथ का पहिया रक्षार्थ उठाया। अतः समकित भाव कुछ कारण विशेष से उपशम होता हो तो कोई हानि नहीं है। परन्तु विभावग्रस्त मौज-शौक आदि के भाव यदि अन्दर ही अन्दर दबाए या संजोए गए हैं तो बड़े हानिकारक होते हैं। अतः जब भी साधक को ऐसा महसूस हो कि अनावश्यक सुविधा भोगयुत् गृद्धता अन्दर कुलांचे मार रही है तो उसे औपचारिकतावश दबाना नहीं चाहिए। बल्कि धर्म-ध्यान से उसे क्षय करना चाहिए। विभाव को क्षय करने के भाव नौ तरह के होते हैं, जिसका वर्णन प्रस्तुत सूत्र में करेंगे।

सम्यक्त्व की तरह कई बार चारित्र भी शान्त होकर अन्दर ही अन्दर दबा रहता है। उसमें कोई हानि नहीं है। जैसे, भगवान महावीर स्वामी चाहते हुए भी माता-पिता के देहावसान तक संयम न ले सके। अतः शुद्ध चरित्र का शान्त दबा रहने में कोई विशेष दोष नहीं है। मगर जो प्रगट में संयम् धारण करते हैं और अन्दर ही अन्दर असाधुता दबी रहती है, वह बुरी है। जब भी हम अभ्यासपूर्वक संयम से जीवनयापन कर रहे हो और हमें अन्तर् में राग-द्वेष के भावों का एहसास हो तो हमें उसे ज्ञान आदि गुणों से क्षय करना चाहिए। कर्मों को क्षय करने के ये 9 प्रकार अगले सूत्र में इस प्रकार कहे गए हैं।

सूत्र- ज्ञान-दर्शन-दान-लाभ-भोगोपभोग वीर्याणि च ॥ 4॥

अर्थ- ज्ञान, दर्शन, दान, लाभ, भोग, उपभोग, वीर्य, सम्यक्त्व और चारित्र ये नौ क्षायिक भाव के भेद हैं ॥4॥

विवेचन- 1. ज्ञान– विभावों को क्षय करने की प्रथम और प्रधान विधा ज्ञान है। सूयगडांग सूत्र अपने प्रथम व महत्वपूर्ण सूत्र में यही कहता है 'बुज्झिज्ज त्ति तिउट्टेज्जा, बंधणं परिजाणिया।' अर्थात् बंधनों को बूझो और बंधन

टूट जाएँगे। जान लो कि जितना-जितना आपने जाना बस उतना कर्मों का आवरण टूटा और जितना-जितना कर्मो का आवरण टूटा, उतना-उतना विभाव क्षय हुआ।

यहाँ हमें समझ लेना चाहिए कि हम अक्सर सूत्रों को पढ़ लेते हैं मगर उसे बूझते नहीं। यह इसलिए होता है कि हमारा चिन्तन जिज्ञासा भरा न होकर मात्र परिपाटी वहन का होता है, अनेकान्त चिन्तन नहीं होता अथवा हमारा चिन्तन ही नहीं होता, हम अनुप्रेक्षा नहीं करते मात्र उल्टा-सीधा जो समझाया गया है, उसे अन्ध मान्यता बना लेते हैं। तब वह सीखा गया पाठ, ज्ञान न होकर जानकारियों की तोता रटन मात्र होती है। तोता रटन कभी अनुभव में नहीं उतरती। अतः वह विभावों को क्षय करने में सक्षम नहीं होती। उल्टा यह होता है कि प्रगट में व्यक्ति सूत्र-समझ के न्याय की बात करता है, अपरिग्रह की बात कहता है व अन्दर ही अन्दर यश-सुख भोग का भाव बना रहता है। यह स्थिति विभावों को प्रश्रय ही देती है। यश-सुख भोग के भाव का बना रहना इसलिए होता है क्योंकि अक्सर व्यक्ति विद्या भी औरों को सिखाने व दिखाने के लिए सीखता है। अन्यों के समक्ष प्रवचन देने की इच्छा से जो शास्त्रों को रटता व पढ़ता है, वह हकीकत में यश पाने का लोलुपी है। इससे बचने के लिए भगवान महावीर ने सूत्र दिया है कि 'अपना सत्य स्वयम् खोजो।' शास्त्र व गुरू; अगर वह ज्ञानी है तो भी वह आपके भावों को संकेत व प्रेरणा देगा मगर खोजना तो आपको ही पड़ेगा। इसके लिए सत्य के प्रति जिज्ञासा उत्पन्न करो। श्रुत पर अनेकान्त चिन्तन करो। मात्र मानना ज्ञान नहीं, मतान्धता है। इसीलिए भगवान कहते हैं कि -

जो जानता है, वह मानता नहीं।
जो मानता है, वह जानता नहीं।।

हमें इस मामले में एक बात और ज़हन में ले लेनी चाहिए कि शुद्ध-धर्म-भाव हमें आत्म उपासना द्वारा स्वयम् जानना है। सर्वत्र प्रचलित धर्म तो धर्म के नाम पर भी अक्सर पाप ही होता है।

सव्वत्थ सम्मत्तं पावं - (आचारांग सूत्र)

2. दर्शन - जिस प्रकार जागने से ज्ञानावरणीय कर्म क्षय होते हैं, उसी प्रकार देखने से दर्शनावरणीय कर्म क्षय होते हैं। मगर यह 'देखना' चश्मा चढ़ा हुआ नहीं होना चाहिए। अन्यथा हम वस्तु को यथार्थ व अभंग नहीं देख सकेंगे। इस प्रकार खंड-खंड देखना मिथ्या दर्शन होता है। खंड-खंड देखना और पक्ष विशेष को पकड़ कर बैठ जाना ही पाखंडी होना है। मिथ्यात्वी होना है। मिथ्या दर्शन चूँकि हमें गलत रूप दिखाता है, ऐसी स्थिति में भाव निर्मल कैसे रह सकते हैं? तब हम विभावों का क्षय नहीं कर पाते बल्कि विभाव और ज्यादा हम पर हावी हो जाते हैं। जैसे, सम्यक् ज्ञान का तरीका निष्पक्ष अनेकान्त सोच है, वैसे ही सम्यक् दर्शन का तरीका निरपेक्ष एकान्त दृष्टि है। यह ध्यान की उत्तम विधा है। चित्त को एकाग्र करने का साधन है। मगर एक ही शर्त है कि हमें अपेक्षा मात्र नहीं होनी चाहिए। मेरा धर्म, मेरे महावीर भगवान, मेरे सिद्धान्त, मेरा सम्प्रदाय, मेरी कथा व उमड़ती भीड़, मेरा वैभव या गरीबी आदि किसी प्रकार की अपेक्षा रख के उत्पन्न हुआ भाव भी श्रेयस्कारी नहीं होता। अक्सर आदमी वही देखता है, जो वह देखना चाहता है। वह जिसकी अपेक्षा रखता है, उसे ही देखना चाहता है। जिसमें वह मूर्च्छित है, आसक्त है, उसी को देखने की चाहत उत्पन्न होती है। यही कारण है कि हमारे दर्शन पर आवरण छाया रहता है।

यहाँ हम भाव का अन्वेषण कर रहे हैं, अतः यह समझ लेना चाहिए कि ज्ञान व दर्शन, ये दो भाव ही ऐसे हैं, जहाँ या तो कर्मों का बंधन होता है या क्षय। ज्ञान से तात्पर्य जानना है। व्यक्ति एक बार जान ले तो वह उस सत्य

को सदा जानता है। उसमें भूल नहीं पड़ती। जब तक कि पुनः नया आवरण न आ जाए। मगर अक्सर ऐसा होता नहीं है। ज्ञान को शान्त करके अन्दर दबाया नहीं जा सकता। यही बात दर्शन पर भी लागू होती है। दर्शन का शाब्दिक अर्थ तो देखना होता है मगर अध्यात्म में देखने का अर्थ है-उस स्थिति के हर पहलू को अभंग वेदन करना। ज्ञान कई-कई विषयों में बिखरा-बिखरा हो सकता है, जिसे अनेकान्त ध्यान द्वारा जाना जाता है। मगर दर्शन तो पूरे चित्र को एक ही निरपेक्ष दृष्टि से, एक साथ अभी देखना होता है। एक बार जो हम देख चुके उसे उपशान्त नहीं किया जा सकता, अतः यह क्षायिक ही होता है। जितना-जितना निष्पक्ष देखा बस दर्शनावरणीय कर्मो का क्षय हुआ। यही कारण है कि पूरा आचारांग सूत्र -'पासं', 'पुढ़ो पास' सूत्र पर ज़ोर देता है। निष्पक्ष दृष्टा रहने की प्रेरणा देता है।

जहाँ तक औपशमिक भाव का सम्बन्ध है, जिसका वर्णन हम पिछले सूत्र में कर चके हैं; वह मोहनीय कर्म का ही होता है। अगर आप किसी से प्रेम या घृणा करते हो तो उसे प्रसंगवश उपशान्त भी कर सकते हो। दूसरे से प्रेम-घृणा प्रारम्भ कर सकते हो। किसी सिद्धान्त से लगाव या दुराव रखते हो तो भी उसे उपशान्त कर सकते हो। धर्म परिवर्तन कर सकते हो। इस प्रकार मोहनीय कर्म की दो प्रकृति होती है-दर्शन मोहनीय व चारित्र मोहनीय। अतः उपशम अथवा क्षायिक भाव भी दो प्रकार का होता है। शेष क्षायिक भाव सात प्रकार का बताया गया है उसमें दो प्रकार ज्ञान-दर्शन है व शेष पाँच प्रकार अन्तराय कर्म के होते हैं। मूलसूत्र में अन्तराय कर्म भी ज्ञान दर्शन का उपभेद ही है क्योंकि अन्तराय की मान्यता तब तक ही बनी रहती है, जब तक ज्ञान दर्शन का अभाव होता है। अथवा ज्ञान-दर्शन अशुद्ध होते हैं। व्यक्ति आधी-अधूरी जानकारियों पर अपना मत बना लेता है और अन्यों को अपने मत व मान्यताओं के अनुसार आँकना, तोलना चालू कर देता है। अपनी 'राय' देता रहता है। अन्तर् से राय देने का उपक्रम अन्तराय कर्म को निर्मित करता है। क्योंकि हम किसी भी जीव के प्रारब्ध को नहीं जानते, उसके क्षयोपशम को नहीं पहचानते, ऐसे में अपनी राय स्थापित करके उनको तो कष्ट देते ही हैं, साथ ही खुद पर ज्ञान व दर्शन के आवरण को भी घनीभूत किए चले जाते हैं। अपनी राय या मान्यता के अनुकूल दूसरे लोग चले तो राग या मोह पैदा होता है, वे ऐसा न करें तो द्वेष या द्रोह पैदा होता है। यह अन्तराय कर्म प्रारम्भिक स्तर पर होता है तो क्षायिक हो सकता है पर जब राग-द्वेष से घोर हो जाता है, तो मोहनीय हो जाता है। तब भोग बिना निस्तारण नहीं होता। हाँ ! कुछ समय के लिए उपशम हो सकता है। मगर इस अन्तराय की स्थिति को सम्यग्दर्शन व अनेकांत ज्ञान द्वारा क्षय किया जा सकता है। मोहनीय को उपशान्त किया जा सकता है अथवा अन्य भावों के प्रभाव से रसान्तरित भी किया जा सकता है। रसान्तरण में कर्म एक स्थान को छोड़कर, अपना रूप बदल कर दूसरे स्थान में छिप सकते हैं। यह भी क्षयोपशम का एक प्रकार ही है।

अन्तराय के पाँच प्रकार हैं, जो क्षायिक भाव के नौ भेदों में वर्णित है। यहाँ हम 'अन्तराय' शब्द को फिर से समझ लें। अन्तराय शब्द का एक अर्थ होता है 'अंतर् की राय।' जब कोई व्यक्ति स्वयं को या किसी अन्य को दान-लाभ-भोग-उपभोग एवं वीर्य के निमित्त से किसी भी प्रकार की राय देता है, मत बनाता है, अपना अभिप्राय देकर उसे उकसाता या रोकता है, तब दोनों ही अवस्था में अन्तराय होता है। अगर एक व्यक्ति स्वयं को भी दानादि देते हुए रोकता है, तब भी अंतराय होता है।

1. दान- दान के भाव से अन्तराय क्षय होता है और मोहनीय उपशांत होता है अथवा उसका रस परिवर्तन भी होता है। जैसे आपको घाटा लगने वाला था मगर आपने भावपूर्वक कुछ दान कर दिया। वह दान गुणित रूप से आप के होने वाले घाटे को नष्ट कर देता है। मगर हमने अपने जीवन में ऐसे दान-दाताओं को बहुत कम देखा है। अक्सर तो

लोग दान देते समय भी बदले में बहुत कुछ प्राप्त करना चाहते हैं, यश चाहते हैं, नाम लिखाना चाहते हैं। यह दान नहीं व्यापार ही होता है और इसका तुरन्त लाभ तो शॉल, माला, पत्थर पर नामांकन, मोमेंटो, प्रशस्ति पत्र आदि में ले ही लेते हैं बाकी का बचा घाटा उन्हें बिमारी, विपदा आदि रूपों में बाद में भुगतना पड़ता है। यह दान-दान नहीं वैश्यत्व है। बनियापना है। वणिक् का व्यापार ही है।

किसी भी लोभ में दिया गया दान दान नहीं होता, प्रतिबन्ध होता है। फिर उत्तम दान अभय दान है, जो मात्र ज्ञान दान ही होता है। अब कितने लोग हैं, जो ज्ञान दान देते हैं। उस में भी विवेक की ज़रूरत है। जो जानकारियाँ राग-द्वेष फैलाती है, वह न तो धर्म है और न वह दान (ज्ञान-दान) है। क्योंकि राग-द्वेष हमेशा सम्प्रदायवाद को जन्म देता है। सम्प्रदायवाद आदमी को अभय नहीं, डरपोक बनाता है। यही कारण है कि सम्प्रदायवादी सदा दूसरे सम्प्रदाय व समाचारी का विरोध करते पाए जाते हैं क्योंकि उन्हें अपनी हानि का डर रहता है। इस डर का कारण उनके भीतर पनप रही असुरक्षा की भावना ही है। अतः वह दान भी अभय दान नहीं होने से स्यात् कई बार पाप का कारण होता है। अतः अगर आप दे सको तो उस ज्ञान के प्रचार-प्रसार हित दान दो, जो वाद-विवाद से परे निष्पक्ष व खरे सिद्धान्त सुझाता हो और 'णमो जिणाणं जियभयाणं' का रहस्य समझाता हो।

2. लाभ - दान से कर्मों का क्षय है। यह बात तो किसी के समझ में आ सकती है मगर लाभ से कर्मों का क्षय कैसे होता है ? यह प्रश्न विचारणीय है। लोग कह सकते है कि पैसे भी कमाएँ और कर्म भी नष्ट हो, इससे अच्छी क्या बात हो ? मगर यह सत्य है।

ध्यान रहे, निकाचित कर्म भोगे बिना क्षय नहीं होते। इसी प्रकार जब तक लाभ न हो, आप के पूर्व संचित पुण्य कर्मों का क्षय नहीं होता। यह दूसरी बात है कि लाभ के क्षणों में आप उसमें गृद्धता का भाव रखते हो तो नए पाप कर्मों का बन्धन करते हो। मात्र लाभ का भाव हो क्योंकि वह कर्त्तव्यनिष्ठा है मगर लाभ पर अधिकार (Possession) का भाव नहीं हो तो यह भाव भी क्षायिक होता है। ईसाई धर्म की आचार संहिता के अनुसार वहाँ मानव-सेवा को प्रधानता दी गई है। अतः पादरी लाभ भाव तो रखता है। दान में प्राप्त राशि लेता भी है मगर उस पर अपना अधिकार भाव नहीं रखता, संग्रह भाव नहीं रखता। ऐसा लाभ भी क्षायिक भाव है।

इसी प्रकार भोग, उपभोग, शक्ति को भी समझना चाहिए। देह मिली है तो भोग भी करना पड़ेगा, भूख लगेगी, भोजन करना पड़ेगा। मगर वहाँ हम उपयोग द्वारा कर्मों का क्षय कर सकते हैं। जितना-जितना हमने भोग किया, उतनी-उतनी निर्जरा हुई। इसी प्रकार जो 'वीर्य' है अर्थात् potential है, उसे प्रदर्शन के भाव से प्रयोग किया तो बन्ध का कारण है मगर यदि ज्ञानपूर्वक वहन हुआ तो कर्मों का क्षय होता है।

हमें यह लिखते हुए कत्तई संकोच नहीं है कि आज हमारे सामने अहिंसा की कुछ अति व्याख्या कर दी गई है। मगर भाव-प्रकृति व कर्म-सिद्धान्त को नहीं समझने के कारण साधारण व्यक्ति तो क्या कई तथाकथित पदवीधारी महात्मागण भी भ्रमित प्रायः है और शुद्ध मूल को छोड़ कर फूल-पत्तियों के विवाद में उलझे हुए हैं। सीमन्धर स्वामी के अतिशय से सबको सम्यक् ज्ञान-दर्शन हो।

अन्त में दो भाव सम्यक्त्व व चारित्र है। अगर सम्यक्त्व उपशम न होकर क्षायिक रहता है तो निश्चय ही हर क्षण अकाम निर्जरा होती ही रहती है और चारित्र डाँवाडोल न होकर अडिग रहता है तो स्वमार्गी तप संयम के कारण सकाम निर्जरा होती ही रहती है। मगर यहाँ ध्यान देने योग्य बात यह है कि निकाचित कर्मों की निर्जरा मात्र भावों से नहीं होती। उसे तो भोगना ही पड़ता है। वैसे भोग-उपभोग-वीर्य आदि भी चरित्र का पर्याय ही है। मगर उसमें भाव दूषण के कारण नये कर्म बँधते रहते हैं। अतः यहाँ सम्यक् शब्द को पुनः स्वतंत्र लिखा गया है।

सूत्र-5

क्षायोपशमिक भाव

पिछले सूत्र में हमने क्षायिक भावों के 9 भेदों की समझ प्राप्त की थी। औपशमिक एवं क्षायिक भावों के पश्चात् क्षायोपशमिक भावों के 8 भेदों का उल्लेख करते हुए तत्त्वार्थ सूत्रकार वाचक उमास्वाति लिखते हैं कि-

सूत्र- ज्ञानाज्ञानदर्शनदानादिलब्ध्यश्चतुस्त्रित्रिपंचभेदाः यथाक्रमम्सम्यक्त्वचारित्र संयमाऽसंयमाश्च ॥5॥

अर्थ- चार ज्ञान, तीन अज्ञान, तीन दर्शन, पाँच दानादि लब्धियाँ, सम्यक्त्व, चारित्र (सर्वविरति) और संयमासंयम (देश विरति) ये अठारह क्षायोपशमिक भाव है ॥5॥

विवेचन- क्षायोपशमिक भाव में कुछ कर्म प्रकृतियों का क्षय होता है तो कुछ का उपशम होता है। क्षय और उपशम दोनों को मिलाकर जो स्थिति बनती है, उसे 'क्षायोपशमिक' कहते हैं। आत्मा पर रहे कर्मों के आवरण में से कुछ आवरण तो जीव के पुरूषार्थ के कारण दूर हो जाते हैं किंतु कुछ कर्म शांत होकर अंदर ही पड़े रहते हैं। ऐसी अवस्था क्षयोपशम अवस्था कहलाती है। इसके लिए आचार्य उदाहरण देते हैं, एक ऐसी बाल्टी का जिस के पानी में कुछ मैल ऊपर उठा हुआ है और शेष गंदगी उसके तल पर जमा है। इस तरह का पानी कुछ मैला, कुछ साफ दिखता है। इसी तरह प्रायः साधक जीवात्माओं की स्थिति होती है जो कि अपनी कुछ वृत्तियों को तो जीत लेते हैं, कुछ दोषों को तो दूर कर पाते हैं किंतु कुछ दोष उनमें विद्यमान रह जाते हैं। ऐसे साधक चूंकि आप्त नहीं होते, केवली नहीं बन जाते, अतः उनमें क्षायिक अवस्था नहीं आती। उनके ज्ञान, दर्शन, चारित्र, सम्यक्त्व आदि आत्मा के सभी मूल गुण क्षायोपशमिक अवस्था में रहते हैं। यही कारण है कि वाचक उमास्वाति ने इन गुणों को क्षायोपशमिक भाव के अंतर्गत रखा है। केवलज्ञान को छोड़कर ज्ञान के शेष चार भेद एवं केवल दर्शन को छोड़कर दर्शन के 3 भेद क्षायोपशमिक भाव के अंतर्गत आते हैं। अंतराय कर्म की पाँचों प्रकृतियाँ साधक के भीतर क्षायोपशमिक अवस्था में रहती है। ज्यों-ज्यों उसका सम्यक्त्व निर्मल होता जाता है, मोह व अज्ञान कम होता जाता है, त्यों-त्यों उसका क्षयोपशम बढ़ता जाता है। संयमासंयम उस अवस्था को कहते हैं, जहाँ कुछ अंशों में तो साधक संयम को उपलब्ध हो पाता है और कुछ अंशों में नहीं। कुछ आदतें उसमें बनी रह जाती है, जिन्हें वह जीत नहीं पाता। उदाहरण के लिए कोई साधक उपवास तो कर लेता है किंतु भोगों को छोड़ नहीं पाता अथवा मौन तो कर लेता है किंतु स्वाद को जीत नहीं पाता। कई बार कुछ निकाचित् कर्मों के बंध ऐसे भी पड़े होते हैं जिन्हें क्षयोपशम नहीं किया जा सकता। उन्हें भोग कर ही उनसे छुटकारा पाया जा सकता है। ऐसी अवस्था में साधक को संयमासंयमी कहा जाता

है। हमारे अनुसार तो 100 में से 99 साधक प्रायः संयमासंयम स्थिति में रहते हैं। हाँ, जब धर्मध्यान शुक्लध्यान की अवस्था तक पहुँच जाए, तब साधक इन क्षायोपशमिक भावों में तीव्रता से सकाम निर्जरा करता हुआ उत्कृष्ट आत्म स्थिति को प्राप्त कर लेता है, क्षायिक अवस्था तक पहुंच जाता है।

साधक की साधना औदयिक भावों को निरंतर क्षायोपशमिक भावों में परिणत करने की होती है, इसे सरल शब्दों में यूँ कह सकते हैं कि निमित्तों से अप्रभावित रहने की होती है। औदयिक भावों के कारण जीव को कई-कई तरह के निमित्त प्राप्त होते रहते हैं जिससे उसमें विभावों की उत्पत्ति होती रहती है किंतु साधक सजगता, प्रेम एवं विवेक के द्वारा उन निमित्तों से अप्रभावित रहने का पुरूषार्थ कर पाता है और इस प्रकार वह औदयिक परिणामों को निरस्त करता जाता है। कदाचित् वह औदयिक परिणामवश कुछ प्रतिक्रिया कर भी बैठे तो वह तुरंत प्रतिक्रमण द्वारा अपने अतिक्रमणों की क्षमा कर लेता है। यही कारण है कि प्रतिक्रमण को प्राचीन आचार्यों ने आवश्यक साधना कहा है। प्रतिक्रमण द्वारा अतिक्रम-व्यतिक्रम-अतिचार व अनाचार-इन चारों प्रकार के दोषों की विशुद्धि की जाती है। यदि प्रतिक्रमण के पश्चात् भी कुछ कर्मभार रह जाए तो कायोत्सर्ग एवं प्रायश्चित्त की अन्य विधाओं द्वारा साधक अपने मन को निर्मल बना लेवे। प्रतिक्रमण सम्यक् हो पाया है अथवा नहीं-यह जानने के लिए आत्मज्ञानी प्रज्ञापुरूष श्री विराट गुरूजी रचित इस गीतिका का मनन किया जा सकता है।

यदि तेरा हर कार्य निजगुण दे बता, प्रतिक्रमण की है यही बस गुणवत्ता
कर भला तो हो भला, मनचला रे मनचला ।। टेर।।

तू रहे काया तेरी और कार्य हो, बस निरीक्षण कार्य का अनिवार्य हो।
कल्प ही तेरा तुझे युग-युग छला ।।1।।
कर भला तो हो भला.....

है सदा अज्ञान सृष्टि का चलन, जानना निष्पक्ष माया का गलन।
हल सदा, गर्हा ने ग्रंथी को मला ।।2।।
कर भला तो हो भला.....

तू रहे और कार्य तेरे दृश्यगत, ज्ञान इसमें ही छुपा सच्चा महत्।
वोसिरामि हो चले वह भी कला।।3।।
कर भला तो हो भला.....

शेष ना परिग्रह बचे मन में कोई, ध्यान का वैभव विराट है वही।
शेष ना बच पाए कुछ अला-बला ।।4।।
कर भला तो हो भला.....

सूत्र-6
औदयिक भाव

औपशमिक, क्षायिक व क्षायोपशमिक भावों को समझने के पश्चात् अब इन औदयिक भावों को समझने के लिए वाचक उमास्वाति छठे सूत्र में कहते हैं कि-

सूत्र- गतिकषायलिंगमिथ्यादर्शनाऽज्ञानाऽसंयताऽसिद्धत्वलेश्याश्चतुश्चतुस्त्रये कैकैकैकषड्भेदाः ॥6॥

अर्थ- चार गतियाँ, चार कषाय, तीन लिंग, एक मिथ्या दर्शन, एक अज्ञान, एक असंयम, एक असिद्ध भाव और छः लेश्याएं ये 21 औदयिक भाव है ॥6॥

विवेचन- कर्मों का उदय जिन निमित्तों के कारण होता है, उन निमित्तों को यहाँ 21 भेदों में समझाया गया है। संक्षेप में यदि इन्हें समझा जाए तो मात्र एक असिद्धत्व भाव कहना ही पर्याप्त है। क्योंकि जो भी संसारी है, अब तक सिद्ध नहीं हुआ है, उन सबके कर्मों का उदय तो रहता ही रहता है। जब तक चार गतियों का अंत नहीं हुआ, तब तक जीव का परिभ्रमण चालू ही रहेगा। यदि वह नरक गति में जाता है तो वहाँ दुःख एवं भय बना रहेगा। यदि वह देवगति में जाता है तो उसमें लोभ एवं परिग्रह बना रहेगा। इसी प्रकार तिर्यंच गति में होने पर आहार की लालसा एवं माया की प्रबलता रहती है। मनुष्य गति में उसमें मैथुन एवं मान बना रहता है। गति के कारण उसमें कषायों का एवं कषायों के कारण गति का बंध होता रहता है। जब गति (movement) होगी तो कषाय भी होगा और जब कषाय का अंत हो जाएगा तो गति का भी अंत हो जाएगा। जब गति पूर्णतः शांत होगी तब ही 'सिद्धत्व' अवस्था प्रगट होगी। 'ठाणेणं मोणेणं झाणेणं' की साधना एक साथ हो तो एक साधक बहिर्गति से आत्मगति में प्रवेश करता है। अन्यथा जब तक बहिर्भ्रमण रहेगा, जन्म-मरण रहेगा। जब गति मिलेगी तो कोई न कोई लिंग में ही इस जीव का जन्म होगा, अतः लिंग का भी उदय होगा। यदि व्यक्ति समदृष्टि नहीं है तो मिथ्यादर्शन का उदय है। मिथ्यादर्शन के होने पर अज्ञान का उदय भी होगा। अज्ञान है तब तक असंयत अवस्था रहेगी। असंयतपना है तब तक असिद्ध अवस्था भी रहेगी। असिद्धत्व है तब तक 6 लेश्या है। ये 6 लेश्या संसार अवस्था में ही रहती है। सिद्धों में कोई लेश्या नहीं होती क्योंकि लेश्या विभावों के कारण ही होती है। यदि विभाव ही नहीं रहा तो लेश्या कैसे संभव है। सयोगी अवस्था तक लेश्या की मौजूदगी है। केवल ज्ञानी अरहंतों के भी परम शुक्ल लेश्या रहती है। जब योगों का निरोध हो जाता है और चतुर्दश गुणस्थान प्रगट होता है, तब ही जीव अलेशी होता है। अलेशी होना शैलेशी हो जाने पर ही संभव है। अलेशी व शैलेशी होते ही जीव सिद्धत्व को प्रगट कर लेता है। सिद्ध जीव में किसी भी प्रकार का

औदयिक भाव नहीं होता है। जैसा कि अन्य कुछ दर्शनों की मान्यता है कि वह परमात्मा ही संसार को रचने की इच्छा से रचता है और स्वयं भी अवतार लेता है। उसी की लीला से संसार वर्तित होता है, ऐसा आर्हत् दर्शन नहीं कहता है। आर्हत् दर्शन का कहना है कि सिद्ध जीव किसी प्रकार की सृष्टि रचना नहीं करते क्योंकि सृष्टि रचना करने के लिए जिन भावों का उदय होना ज़रूरी है, उन औदयिक भावों का सिद्धों में सर्वथा अभाव होता है। सिद्ध भावाभाव मुक्त मात्र सिद्धत्व अवस्था को जीता है। इसीलिए 'एकोऽहं बहुंस्यात्' अर्थात् 'मैं अकेला हूँ, मैं बहुत हो जाऊँ', ऐसी परिकल्पना से ब्रह्माण्ड की रचना हुई, यह जिन दार्शनिकों का मानना है, वे निर्ग्रन्थ दर्शन से स्यात् अपरिचित ही रहे होंगे। आर्हत् दर्शन कहता है कि ये औदयिक भाव ही संसार का कारण है। समस्त सृष्टि का सर्जक है। यदि जीव इनमें सजग रहे, धर्मध्यान द्वारा सतत् भावों की शुद्धि करता रहे तो वह इन विभावों से मुक्त हो सकता है।

जीवों के इन उपरोक्त चार प्रकार के भावों के सिवाय एक पाँचवाँ भाव भी है, जिसे आगम साहित्य में पारिणामिक भाव कहा गया है। इस पारिणामिक भाव को अब हमें समझना होगा।

सूत्र-7
पारिणामिक भाव

पिछले सूत्रों में हमने क्षायोपशमिक एवं औदयिक भावों के भेदों के बारे में जानकारी प्राप्त की थी। क्षायोपशमिक भाव के 18 भेद एवं औदयिक भाव के 21 भेदों का कथन करने के बाद वाचक उमास्वाति पारिणामिक भाव के भेदों का कथन करते हैं।

पारिणामिक भाव जीव के 5 प्रकार के भावों में सर्वाधिक महत्वपूर्ण भाव है। यह भाव संसारी व सिद्ध दोनों में पाया जाता है। सिद्धों में दो प्रकार के भाव ही पाए जाते हैं-एक क्षायिक भाव व दूसरा पारिणामिक भाव। पारिणामिक भाव से तात्पर्य जीव के उपादान 'भाव' से होने वाले परिणमन से हैं, परिणामों (results) से हैं। यह पारिणामिक भाव जीव मात्र में सतत् होने वाला परिणमन है, पर्याय परिवर्तन है, इस भाव को किसी भी प्रकार के कर्मोदय की अपेक्षा नहीं है। जीव में कर्म हो अथवा न हो- परिणमन सतत् रहेगा ही। परिणमन अर्थात् Changes का होना ही पारिणामिक भाव है।

संसारी जीव प्रतिपल भाव प्रसारण करता रहता है। उसका यह भाव प्रसारण दो तरह का होता है-एक नग्न भाव जिसे हम निष्कपट भाव अथवा स्वभाव भी कह सकते हैं एवं दूसरा प्रतिवेशित (Uniformed) भाव जिसे हम औपचारिक अथवा विभाव भी कह सकते हैं। भाव चाहे किसी भी तरह का हो, कल्प प्रसारण के साथ ही इस जगत को परिस्पंदित करता है। परमाणुओं को गति देता है एवं घटनाओं का सृजन करता है। यदि स्वभावमय कल्प प्रसारण है तो जीव आत्म योग्यता में रमण करता है, आत्मभावों को प्रगट करता है, 'सत्यं शिवं सौंदर्यम्' को उपलब्ध होता है किंतु यदि कल्प प्रसारण विभावमय है तो वह पुण्य अथवा पाप का बंधन करता है। इस कल्प प्रसारण के परिणमन को देखते हुए वाचक उमास्वाति पारिणामिक भावों के मुख्यतः तीन भेदों का उल्लेख करते हैं-

सूत्र- जीवभव्याभव्यत्वादीनि च ॥7॥

अर्थ- जीवत्व, भव्यत्व एवं अभव्यत्व-ये तीन तथा अन्य भी पारिणामिक भावों के भेद है ॥7॥

विवेचन- यहाँ जीवत्व से तात्पर्य 'भाव योग्यता' से है। ये योग्यता तो साधारण है, सभी जीवों में पाया जाने वाला सामान्य गुण है। इसे ही जैन शब्दावली में 'उपादान' भी कहा गया है। ज्ञान (जानना), दर्शन (देखना) वीर्य (भाव क्षमता) एवं आनंद-ये जीव की योग्यता है,जो भावों के रूप में प्रकट होती है। जीव स्वभाव में रहे तो

उसकी योग्यताएँ सदा आनंदित करती है, उसको भी व अन्यों को भी। वह शांतमना, प्रसन्नवदना, निष्काम कर्मा होता है। किंतु जीव की ये चारों योग्यताएँ विभावग्रस्त हो जाने पर आधि-व्याधि-उपाधि को निर्मित करती जाती है। मोह-द्रोह के दुष्चक्र में जीव को फँसाती जाती है।

यहाँ यह समझने की बात है कि आत्मा के दो रूप है-एक शिव तथा दूसरा जीव। जब आत्मा अपने शुद्ध सिद्ध रूप अर्थात् सर्वथा मुक्त अवस्था में आ जाती है तो उसे 'शिव' समझना चाहिए। योग्यता तो उस समय भी परिपूर्ण होती है मगर उसे कल्प करने की अर्थात् सृजन (creation) की आवश्यकता नहीं रहती क्योंकि सारी सृष्टि के भावों से सृजन हो रहे लोक का आनंद वह सनातन उठाता है। शिव का विपरीत है-'वशी'; जो कि पौद्गालिक कर्मकणों के वशीभूत है, वह 'जीव' है, संसारी है। जबकि शिव वह है जो शुद्ध है, पवित्र है, किसी भी अन्य के वश में नहीं है। यह सूत्र जीव की अपेक्षा से कहा गया है। जीव का अर्थ सिद्धात्माओं को छोड़कर बाकी सारे देहधारियों से है।

उनकी योग्यता को उपादान इसलिए कहा गया है कि अपने भावों से कल्प द्वारा वे सृष्टि को आदान अर्थात् ग्रहण करने की ओर जाते हैं। ऐसी स्थिति में उनकी योग्यता को दो रूपों में देखा गया है-एक भव्य, दूसरा अभव्य। भव्य अर्थात् सुंदर, कल्प करने का सुंदर प्रकार। अभव्य का अर्थ है-असुंदर।

यहाँ विचारणीय बात यह है कि जीव की अपेक्षा से सारे ही जीव सर्वशक्तिमान है, पूर्ण योग्य है और इन सारे ही जीवों के कल्प समय-समय पर सम्मिलित स्थान लेते रहते हैं जिससे सृष्टि बनती-बिगड़ती रहती है। अपनी-अपनी कामना के अनुसार कल्प करने में तो हर जीव स्वतंत्र है मगर सारे ही जीवों के कल्प जब सम्मिलित होते हैं तब वे एक-दूसरे के अनुरूप सहयोगी अथवा समजातीय चित्र भी बनाते हैं अथवा विरोधी, प्रतिकूल और अमनोज्ञ चित्र भी बनाते हैं जिसे भोगने के लिए देहधारी आत्मा परतंत्र रहता है। यही इस सृष्टि की अक्रम आत्मशक्ति का क्रमबद्ध प्रकृति प्रवाह है। सृष्टि-सृजन के इस प्रकृति प्रवाह अर्थात् जीव के भावों को पुनः दो प्रकार से देखा-समझा गया है-

1. जिन जीवों के भाव-परिणाम उन्हें पुण्य-पाप अथवा मोक्ष की तरफ ले जाते हैं, उन्हें 'भव्य जीव' कहा जाता है, वे परिणाम भव्यत्व कहलाते हैं।

2. जिन जीवों के परिणाम, पुण्य अथवा पापबंध करवाते हैं, मुक्त नहीं करवाते, उन्हें 'अभव्य' कहा जाता है, ये परिणाम अभव्यत्व परिणाम कहलाते हैं।

सृष्टि का हर जीव अपने भावों के परिणमन को ही प्राप्त होता है, यही इस सूत्र का हार्द है। आत्मज्ञानी श्री विराट गुरूजी अभवी जीव की पहचान बताते हुए कहते हैं कि अभवी जीव की पहचान है-महामोह, हठाग्रहिता। अभवी जीव को जो कर्म आबद्ध किए रहते हैं वे महामोहनीय कर्मों की एक ऐसी अवस्था होती है, जहाँ जीव कर्मों का फल भोगते समय भी नए-नए नियाणे करता चला जाता है और अंतहीन मोह में फँसता ही चला जाता है। वह उच्च कोटि का देव अथवा नारकी कुछ भी बनता-बिगड़ता रहता है किंतु मुक्त नहीं हो पाता। वह कई पुद्गल परावर्तन काल तक भ्रमण करता ही रहता है क्योंकि वह दंभी, संप्रदायवादी, आग्रही व विवादी होता है। कदाचित् भेषधारी पंडित, साधु, पुजारी भी हो सकता है किंतु उसके हृदय में कभी भी सम्यक् जिज्ञासा, निष्पक्षता व निरपेक्षता प्रगट नहीं हो पाती। किंतु हमें किसी को अभवी नहीं कहना। हमें मात्र अपनी भव्यता को प्रगट करने का पुरूषार्थ करना है। भव्य शब्द का शाब्दिक अर्थ होता है सुंदर और अभव्य यानि असुंदर। यह सुंदरता भावों की है, देह की नहीं। जिसके परिणामों में प्रेम, आनंद, आत्मीयता व सद्गुणों के प्रति उल्लास व अहोभाव है, वह भव्य है।

सूत्र-8

उपयोग लक्षण

पिछले सूत्र में हमने जीव के उपादान के बारे में विमर्श किया था। उपादान अर्थात् संसार की संवेदनाओं को ग्रहण करने की योग्यता। वह योग्यता जीव में होती है, अजीव में नहीं अर्थात् जीव में वह बल होता है कि वह अपनी योग्यता का उपयोग कर सकता है। इसी बात को समझाते हुए अगला सूत्र कहता है-

सूत्र- उपयोगो लक्षणम् ॥8॥

अर्थ- जीव का लक्षण उपयोग है ॥8॥

विवेचन- लक्षण शब्द का अर्थ होता है-चिह्न अथवा पहचान। किसी भी वस्तु की शुद्ध पहचान करने के लिए हमें उसके विशेष लक्षणों पर ध्यान देना होता है। उदाहरण के लिए एक औरत व एक आदमी दोनों ही मनुष्य होते हैं मगर विशेष लक्षणों को दृष्टिगत करने से हम उनकी अलग पहचान कर पाते हैं। इसी प्रकार इस पूरी सृष्टि को जब हम दो विधाओं में देखते हैं, पुरूष अथवा प्रकृति में देखते हैं, चेतन अथवा जड़ में देखते हैं या जीव अथवा अजीव में देखते हैं तो हमें दोनों में अलग-अलग लक्षणों को ध्यान में लेना होता है। इसी संदर्भ में बताया गया है कि चेतन अथवा जीव का लक्षण उपयोग है। जीव अपने इस उपयोग लक्षण से प्रकृति का उपयोग करता है, प्रकृति से बंधता हैं अथवा मुक्त होता है तथा धर्मास्तिकाय व अधर्मास्तिकाय की सहायता ग्रहण करता है, समय और आकाश में गति करता है। यह सब उपयोग है।

अक्सर लोग प्रश्न करते हैं कि आत्मा अरूपी है, अस्पर्शनीय है। दुनिया में ऐसा कोई भौतिक तरीका नहीं, जिससे उसके अस्तित्व को सिद्ध किया जा सके तो उसकी सत्ता को क्यों स्वीकार किया गया। 'काल्पनिक फूलों की तरह' आत्मा को मानने से क्या फायदा ? बुद्धिवादियों के इसी तर्क के जवाब में यह सूत्र कहता है कि आत्मा के अस्तित्व को भौतिक साधनों से तो सिद्ध नहीं किया जा सकता मगर उसके लक्षण से उसे जाना जाता है, श्रद्धान किया जाता है और अन्तःतोगत्वा आत्मा के द्वारा ही आत्मा को प्राप्त किया जा सकता है। जिस प्रकार सूर्य की रोशनी को (धूप को) ताप लक्षण से अथवा वस्तुओं को प्रकाशित करने के गुण से पहचाना जाता है; ठीक उसी प्रकार यह जीव अपनी कल्पशक्ति द्वारा जो कि उपयोग गुण है, सृष्टि में हो रहे मंचन में पार्ट (रोल) अदा करता है। जैसे कि एक जीव ने तीव्र चाह में कल्प किया कि मेरे संचित पुण्यों के प्रभाव से आज गुलाबजामुन मिले। अब उसकी कल्प शक्ति ने अपना कार्य किया। सृष्टि के कई तत्त्वों को प्रेरित और चलायमान किया, अपने कल्प को फलीभूत किया और गुलाबजामुन प्राप्त किए। यह सब उपयोग लक्षण से हुआ और इससे सिद्ध होता है कि आत्मा है और उपयोग लक्षणा है।

उपयोगो लक्षणम्

अर्थात् जीव का लक्षण उपयोग है। दूसरी अपेक्षा से जहाँ जीव है, वहाँ उसका लक्षण उपयोग अवश्य होगा। जीव चाहे एकेन्द्रिय हो यावत् पंचेन्द्रिय। संज्ञी हो अथवा असंज्ञी, उपयोग सभी में होता ही है। यही लक्षण जड़ से चेतन को अलग करता है। अजीव और जीव के मध्य सबसे बड़ा अंतर यही है। उपयोग शब्द का अर्थ है बोध क्षमता। चेतना को जानने-देखने की क्षमता का नाम उपयोग गुण है। जिसे भी बोध होता है, जो भी किसी पदार्थ को जान पाता है वह 'जीव' है। इस संसार में मुख्यतः दो ही तत्त्व है-एक जड़ व दूसरा चेतन। जड़ जाना जाता है, देखा जाता है किंतु वह स्वयं नहीं जान सकता-न ही देख सकता है। हमारा शरीर, शरीर के सारे अवयव जाने जाते हैं-देखे जाते हैं-किंतु इनको जानने वाला जो है, वह 'जीव' है। जहाँ-जहाँ भी जानना-देखना हो रहा है, वह जीव है।

जड़ पदार्थों की पहचान उसके वर्ण से, गंध से, रस से एवं स्पर्श से संभव है किंतु जीव के पास ये चारों ही लक्षण नहीं है। जहाँ-जहाँ भी ये चार लक्षण पाए जाएँ हम समझ सकते हैं कि यह अजीव पुद्गल पदार्थ है। सरल शब्दों में कहें तो समस्त दृश्यमान सत्ता जड़ है, पुद्गल है। जीव दृश्य नहीं है, जीव इस दृश्य का दृष्टा है। जीव उपयोग लक्षण वाला है।

श्रीमद् राजचंद्रजी के पास एक भाई आया और कहने लगा कि 'आत्मा का अस्तित्व हम क्यों माने ? मुझे तो आत्मा के अस्तित्व पर शंका है ?' तब श्रीमद् राजचंद्रजी ने जो कि महान् आध्यात्मिक पुरूष हुए हैं, उन्होंने कहा कि-

आत्मानी शंका करे, आत्मा पोते आप।
शंका नो करनार ते, अचरज एह अमाप॥

(आत्मसिद्धि शास्त्र स. 58)

अर्थात् 'आत्मा पर आप शंका कर रहे हो, यह तो ठीक बात है किंतु ज़रा यह तो बताइए कि यह शंका करने वाला कौन है ? आत्मा ही आत्मा पर शंका कर रहा है, यह कैसा आश्चर्य है।' जड़ में तो शंका-कांक्षा उत्पन्न ही नहीं हो सकती। यह हाथ, ये पैर ये कभी प्रश्न नहीं उठाते ? प्रश्न जो उठाता है, वह वही है जो जान-देख सकता है। अतः जीव का परिचय, जीव का लक्षण, जीवन का चिह्न उपयोग है।

अनेक वस्तुओं में मिली हुई किसी भी वस्तु को जिसके द्वारा अलग करके पहचाना जा सके, उसको लक्षण कहते हैं। लक्षण दो प्रकार के होते हैं-

एक आत्मभूत दूसरा अनात्मभूत। जो लक्षण अपने लक्ष्य में अनुप्रविष्ट होकर रहता है, उसे आत्मभूत लक्षण कहते हैं। जो लक्षण लक्ष्य में अनुप्रविष्ट न रहकर मात्र अनुगामी होता है, उसको अनात्मभूत कहते हैं। जीव का उपयोग लक्षण आत्मभूत लक्षण है क्योंकि यह सदैव जीव के भीतर रहता ही है। यह लक्षण तीनों कालों में बाधा रहित रूप से जीव में मौजूद रहता है।

दर्शनशास्त्र में लक्षण के तीन दोष बतलाए गए हैं-अव्याप्ति दोष, अतिव्याप्ति दोष, असंभव दोष।

अव्याप्ति दोष उसे कहते हैं जो समस्त लक्ष्य में व्याप्त न होकर उसके किसी एक देश में ही व्याप्त हो। पूर्णतः व्याप्त न होने से उस लक्षण को अव्याप्ति दोष वाला कहते हैं। किंतु जीव का यह उपयोग लक्षण उस दोष से रहित है क्योंकि कोई भी जीव ऐसा नहीं है जिसमें कि ज्ञान और दर्शन न पाया जाए, कम से कम अनंतवे भाग प्रमाण ज्ञान तो प्रत्येक जीव में हर समय रहता ही है। नंदी सूत्र में कहा गया है-

अक्खरस्स अणंतोभागो उवओगो णिच्चुग्घाडियो भवइ।

अक्षर का अनन्तवाँ भाग जितना उपयोग गुण तो सदैव उद्घाटित (उघाड़ा) रहता ही है, अन्यथा जीव अजीव हो जाएगा। यह बात निगोद के जीव की अपेक्षा से कही गई है।

अतिव्याप्ति दोष उसे कहते हैं जो लक्ष्य और अलक्ष्य दोनों में समान रूप में पाया जाए। जीव के सिवाय अन्य कोई ऐसा द्रव्य नहीं है जिसमें ज्ञान और दर्शन दोनों पाया जा सके। अतः जीव का यह उपयोग लक्षण अतिव्याप्ति दोष से भी रहित है।

असंभव दोष उसे कहते हैं जहाँ लक्षण लक्ष्यमात्र में पाया ही न जाए। किंतु द्रष्ट और अद्रष्ट प्रमाणों से उपयोग लक्षण वाला जीव द्रव्य स्वयंसिद्ध है, अतएव उसमें असंभव दोष भी असंभव ही है।

अतः यह जीव का उपयोग लक्षण समस्त दोषों से रहित त्रिकालाबाधित है।

स्वरूप और लक्षण में अंतर- प्रत्येक पदार्थ में जिसमें गुण और उनकी पर्यायें पाई जाती है, वे सब मिलकर उसका स्वरूप है और जिससे उस पदार्थ की पहचान की जाती है, वह लक्षण है, यही दोनों में अंतर है। उपयोग जीव का लक्षण है। ज्ञान-दर्शन जीव का स्वरूप है। जानना ज्ञान है, देखना दर्शन। जानने और देखने की क्रिया उपयोग रूप है। जिस क्षण हम जान रहे हैं, वह उपयोग है, cognition है, जाने हुए को पुनः जानना re-cognition है। प्रत्यभिज्ञा है। उपयोग हमेशा समय (अद्धा समय) में होता है, जबकि प्रत्यभिज्ञा रूप जानना भूतकाल आश्रित ही होता है। पहचान अतीत के आधार पर ही संभव है। प्रत्यभिज्ञा के कारण हमारा जानना कहीं-न-कहीं हमारे भीतर विभेद (discrimination) पैदा करवाता है। जब तक discrimination है, तब तक अहं भाव भी रहता ही है। 'हूँ पना' भी रहता है। किंतु शुद्ध उपयोग में discrimination भी नहीं रहता। वहाँ मात्र जागृति रहती है, भेद का अभाव हो जाता है। जीव के भीतर उपयोग सतत् रहता है। निश्चयतः उपयोग किसी एक समय मात्र के लिए भी जीव से भिन्न नहीं होता। जब हम सो रहे होते हैं तब सचेतन नहीं होते, aware नहीं होते किंतु उपयोग तब भी होता है। यही कारण है कि सोना और सोकर जागना-इन दोनों को हम अपने में घटित होने वाली घटना के रूप में देख पाते हैं। उपयोग हमारा होनापन (being) है। होनापन शाश्वत है। सिद्ध अवस्था में भी उपयोग आत्मा होती है। भगवती सूत्र के अनुसार द्रव्य आत्मा, ज्ञान आत्मा, दर्शन आत्मा और उपयोग आत्मा-ये चार आत्मा 'सिद्ध अवस्था' में होती है। उपयोग चेतना का गुणधर्म है। किंतु चेतना का उपयोग गुण शब्दों में समझ पाना या समझा पाना असंभव है। फिर भी सूत्रकार अगले सूत्र में उपयोग के दो, आठ और चार भेद कहते हैं।

सूत्र-9
उपयोग के भेद

जीव के उपयोग लक्षण को विस्तार से जानने के लिए अब इस सूत्र में उस उपयोग गुण के भेदों को हम समझेंगे। द्वितीय अध्याय के नौवें सूत्र में तत्त्वार्थ सूत्रकार वाचक उमास्वाति उपयोग लक्षण के भेद बतलाते हुए कहते हैं कि-

सूत्र- स द्विविधोऽष्टचतुर्भेदः ॥9॥

अर्थ- वह उपयोग दो प्रकार है तथा आठ विधा और चार भेदों वाला है ॥9॥

विवेचन- तत्त्वार्थ सूत्र के प्रारंभ में हमने मोक्ष के तीन मार्ग-ज्ञान, दर्शन व चारित्र पढ़े थे। यहाँ उपयोग लक्षण बताते समय ज्ञान और दर्शन को तो ग्रहण किया गया है मगर चरित्र को नहीं, जिसे समझने के लिए हमें उपयोग को नए तरीके से समझना चाहिए। जीव को संसार को जानने-समझने की जो आत्मभूत योग्यता (अर्हन्तता, अर्हत्ता, अर्हमत्व)है, उसे उपयोग कहते हैं। योग शब्द का अर्थ होता है जुड़ना और 'उप' उपसर्ग का अर्थ होता है 'की ओर'। तो जीव की वह योग्यता जिससे वह योगों का प्रयोग कर सकता है, संसार की ओर जुड़ने के लिए अग्रसर होता है, उसे 'उपयोग' कहते हैं। प्रत्यक्ष रूप से देखने और जानने की दो योग्यता ही जीव की आत्मभूत अर्हता होती है। करना, कराना और अनुज्ञान करना जीव की आत्मिक योग्यता नहीं होती, शारीरिक और मानसिक विडंबना होती है। इसीलिए देखना और जानना अर्थात् ज्ञान गुण और दर्शन गुण को उपयोग कहा गया है। मगर चरित्र को उपयोग नहीं कहा गया, फिर भी उसे मोक्ष मार्ग बताया गया है। वह इसलिए कि देखना और जानना भी व्यवहारिक दृष्टि से चरित्र ही समझा जाता है। दूसरी बात यह है कि दर्शन करणवीर्य से अकरणीर्य में निष्क्रमण करने की प्रेरणा देता है किंतु प्रारंभिक क्षणों में उसे भी किया ही जाता है। इसीलिए जैन वांग्मय में सारी धार्मिक क्रियाओं को एवं साधुपने को चरित्र न कहकर चारित्र कहा गया है अर्थात् शारीरिक क्रियाओं (चरित्र)के द्वारा आत्मिक अक्रिया अर्थात् चारित्र को, अनंत वीर्य को प्राप्त करना।

कुछ व्याख्याकारों ने ज्ञान, दर्शन, चारित्र के आगे तप को जोड़कर उन्हें चतुर्विध स्वास्तिक का रूप देने का प्रयत्न किया। यह आत्मा के चार गुणों के दृष्टिकोण से किया गया है। वह है ज्ञान, दर्शन, चारित्र और तप।

णाणं च दंसणं चेव, चरित्तं च तवो तहा।
एयमग्गमणुप्पत्ता, जीवा गच्छंति सोग्गइं ॥ (उत्तरा. सूत्र; अध्ययन-28)

ज्ञान गुण से आत्मा विषयवस्तु की अनेकांत विधाओं को जानता है। दर्शन गुण से वह अनुभव करता है, इसलिए इन दोनों गुणों को उपयोग गुण कहा गया है। उपयोग गुण के कारण ही वह सारी सृष्टि से संबंधित हो सकता है। शेष दो गुण-वीर्य गुण और आनंद गुण उसकी निजी शैली होती है। अतः उससे वह सृष्टि से संबोधित या संबंधित नहीं बनता। अतः उन्हें उपयोग गुण में नहीं लिया गया।

इसे हम फिर से समझें तो ज्यादा अच्छा रहेगा। गोया, आनंद सिद्ध आत्मा का सहज स्वभाव है। मगर वह देखता और जानता अपने ज्ञान दर्शन गुणों से हैं और उसका मज़ा स्वयं लेता है।

इसी प्रकार अनंत वीर्य आत्मा का गुण है। मगर सृष्टि में जितने भी कार्य हो रहे हैं, उसमें सिद्ध आत्मा कुछ नहीं करता, किसी गति में वह उपयोग नहीं करता। यह दूसरी बात है कि दुनिया की सारी गतियाँ अनंतवीर्य सिद्ध आत्मा में ही होती है मगर उपयोग के दृष्टिकोण से वीर्य और आनंद निजानंद मस्ती ही है। उपयोग तो मात्र ज्ञान और दर्शन है इसीलिए सूत्रकार जीव का उपयोग लक्षण बताते समय दो ही गुणों का विश्लेषण करते हैं-एक ज्ञान व दूसरा दर्शन।

उपयोग के 12 भेद

साकारोपयोग (ज्ञान)		अनाकारोपयोग (दर्शन)
मति ज्ञान श्रुत ज्ञान अवधि ज्ञान मनः पर्यव ज्ञान केवल ज्ञान	मति अज्ञान श्रुत अज्ञान अवधि अज्ञान	चक्षु दर्शन अचक्षु दर्शन अवधि दर्शन केवल दर्शन

सूत्र कहता है कि उपयोग के दो भेद साकारोपयोग तथा अनाकारोपयोग है। साकार शब्द का अर्थ होता है-आकार सहित। आकृति सहित। जो उपयोग आकृति सहित है वह ज्ञानरूप है, साकार है। यह साकार उपयोग आठ भेदों वाला है-5 ज्ञान रूप तथा 3 अज्ञान रूप। ज्ञान-अज्ञान दोनों ही अभिव्यक्त हो सकते हैं। अतः साकार है। सम्यग्दर्शनी के लिए जहाँ ये ज्ञान रूप परिणीत होते हैं, मिथ्यादर्शनी के लिए अज्ञान रूप परिणीत होते हैं। ज्ञान के 5 भेद इस प्रकार है-

1. मतिज्ञान- पंचेन्द्रियों व मन की सहायता से जो मस्तिष्कीय ज्ञान होता है, वह मतिज्ञान है।
2. श्रुतज्ञान- श्रोतेन्द्रिय संबंधित एवं मति के मनन में सहायक जो वाणी रूप ज्ञान है, वह श्रुत ज्ञान है।
3. अवधि ज्ञान-देश-काल की सीमाओं को लेकर जो अतीन्द्रिय प्रत्यक्ष ज्ञान है, वह अवधि ज्ञान है।
4. मनःपर्यव ज्ञान- मन की विविध पर्यायों को समझने वाली चैतन्य शक्ति मनःपर्यव कहलाती है।
5. केवल ज्ञान- ज्ञानावरणीय कर्म के संपूर्ण क्षय हो जाने पर चैतन्य चंद्रिका का संपूर्ण उदय 'केवल ज्ञान' है।
6. मति अज्ञान- मिथ्यात्वी भाव दशा में मति संबंधित ज्ञान मति अज्ञान है।

7. श्रुत अज्ञान- गलत समझ के कारण सुनकर प्राप्त समस्त ज्ञान भी श्रुत अज्ञान है।
8. अवधि अज्ञान- इसे विभंगदर्शन भी कह सकते हैं। मिथ्यात्व के संयोग से देश-काल-संबंधित अतीन्द्रिय उपयोग अवधि अज्ञान कहलाता है। इस प्रकार द्रव्य मात्र का विशेष ग्रहण, बोध रूप व्यापार 'साकारोपयोग' कहलाता है।

अनाकारोपयोग-बिना आकार के, वस्तु मात्र का सामान्य ग्रहण, बोध रूप व्यापार 'अनाकारोपयोग' कहलाता है। अनाकारोपयोग को 'दर्शन' भी कहते हैं। यह ज्ञान से पूर्व होता है। चेतना का स्वप्रत्यय रूप बोध 'दर्शन' है।

बाह्य पदार्थ को ग्रहण करना ज्ञानोपयोग का कार्य है और उसके लिए आत्मा का स्वप्रत्यय रूप प्रयत्न का होना दर्शनोपयोग का कार्य है। इन दोनों उपयोगों को अन्य दो पदों में भी समझ सकते हैं। किसी भी प्रत्यय की अनुभूति दर्शन है और अभिव्यक्ति ज्ञान है। पहले अनुभूति होती है जो कि अनाकार निःशब्द होती है। फिर उसकी अभिव्यक्ति होती है जो साकार-सशब्द होती है।

अनाकारोपयोग के चार भेद इस प्रकार है-

1. चक्षु दर्शन- नेत्र द्वारा वस्तु मात्र का सामान्य ग्रहण 'चक्षु दर्शन' कहलाता है।
2. अचक्षु दर्शन- नेत्र के सिवाय अन्य ज्ञानेन्द्रियों द्वारा वस्तु मात्र का सामान्य बोध (अनुभव)' अचक्षु दर्शन' है।
3. अवधि दर्शन- अवधि ज्ञान के पूर्व वस्तु-विषय का अतीन्द्रिय सामान्य बोध रूप व्यवहार 'अवधि दर्शन' है।
4. केवल दर्शन- दर्शनावरणीय कर्म के पूर्णतः क्षय हो जाने पर समष्टि का अनुभव, संपूर्ण आत्म वेद 'केवल दर्शन' है। जिससे समस्त लोक को आत्मा स्वयं में वेदन करे, वह केवल दर्शन है।

इस प्रकार साकारोपयोग एवं अनाकारोपयोग को हम संक्षेप में समझ सकते हैं। आत्मज्ञानी पूज्य विराट गुरूजी के शब्दों में इन दोनों उपयोगों के बारे में कहें तो-जो समझा जा सकता है, वह दर्शन है और जो समझाया जा सकता है, वह ज्ञान है। बिना शब्दों का जो अनुभव है वह 'दर्शन' है, अनुभव की अभिव्यक्ति का प्रयास 'ज्ञान' है।

वाणी की प्रकट-अप्रकट अभिव्यक्ति ही सही मायने में ज्ञान है, मगर फिर भी यह आवश्यक नहीं है कि श्रोता का मन वक्ता की बात को गहन रूप से समझे व रंगीन चश्मों के बिना ग्रहण कर सके।

मन को मिलने वाली सतत् नई सूचनाएँ ही सही मायने में दर्शन है। मगर फिर भी यह आवश्यक नहीं कि मन उसे मात्र केवल ग्रहण करे या अपने अंदर छुपी जानकारियों के मसाले डालकर बने स्वाद को ग्रहण करे। वस्तुतः निष्पक्ष ज्ञान व निरपेक्ष दर्शन हो तब ही साकारोपयोग ज्ञान रूप व अनाकारोपयोग मोहमुक्त होकर हमें मोक्षमार्ग पर अग्रसर कर सकेगा। अन्यथा हमारी हर जानकारी व उसकी अभिव्यक्ति मात्र 'मैंपने' को पुष्ट करती जाएगी। संसार की ही अभिवृद्धि करेगी। अतः प्रत्येक साधक को अपने दर्शन व ज्ञान को आवरणरहित रहने देने का सतत् पुरूषार्थ करने की ज़रूरत है।

सूत्र-10

संसारी व मुक्त

जीव के उपयोग लक्षण के भेदों को विस्तार से समझने के साथ हमें यह भी जान लेना ज़रूरी है कि समस्त संसारी जीवों के उपयोग गुण के भेदों में तारतम्यता (कम-ज्यादा होना) रहती ही है। जिस प्रकार चंद्रमा की चाँदनी घटती-बढ़ती रहती है, उसी प्रकार संसारी जीवों के कर्म बंधनों की विविधता के कारण कभी उनके ज्ञान-दर्शन अधिक आवरित हो जाते हैं और कभी कम। उनका उपयोग गुण भी घटता-बढ़ता रहता है। उपयोग की यह विविधता बाह्य और आभ्यंतर दोनों कारणों से होती है। विषय भेद, इन्द्रिय आदि साधन भेद, देश-काल भेद इत्यादि विविधता बाह्य सामग्री की विविधता है। कर्मबंधनों के आवरण की तीव्रता-मंदता उपयोग गुण की विविधता का आंतरिक कारण है।

विविधताओं के कारण एक ही आत्मा भिन्न-भिन्न समय में भिन्न-भिन्न बोध क्रियाएँ करती है। जैसे कि बचपन में शिक्षा के अभाव में बोध क्षमता पूर्ण विकसित न होने से उसका उपयोग गुण कम विकसित होता है, वहीं वृद्धावस्था में इन्द्रियादि के शिथिल हो जाने पर भी उपयोग गुण का प्रायः ह्रास हो जाता है।

अनेक आत्माएँ भी एक ही समय में भिन्न-भिन्न क्रियाएँ करती है क्योंकि उन सबके कर्मावरण भिन्न-भिन्न फलदायी होते हैं।

किंतु जो जीवात्मा समस्त कर्मबंधनों से रहित हो चुकी है, ऐसी सभी मुक्त आत्माओं में समान उपयोग गुण पाया जाता है। इस दृष्टि से समस्त जीव राशि के दो विभाग किए जा सकते हैं।

ये दो विभाग कौन-कौन से हैं, इनका उल्लेख करते हुए वाचक उमास्वाति कहते हैं कि-

सूत्र- संसारिणो मुक्ताश्च ॥10॥

अर्थ- संसारी और मुक्त-ये दो विभाग है ॥10॥

विवेचन- जीव राशि के दो भेद है। प्रथम संसारी-जो जीव चार गति संसार में जन्म-मरण करता है, वह संसारी जीव है। द्वितीय मुक्त-जो जीव चार गति रूप संसार के बंधनों से मुक्त हो चुका है, जिसे अब कभी संसार में आवागमन नहीं करना है, वह मुक्त है।

संसार शब्द का अर्थ है-जहाँ संसरण हो यानि कि जहाँ परिवर्तन हो। जीव के उपयोग गुण में जहाँ निरंतर परिवर्तन होता रहता है, वे संसारी जीव है।

यह संसरण पाँच प्रकार से होता है, जो इस प्रकार है-

1. द्रव्य संसरण 2. क्षेत्र संसरण 3. काल संसरण 4. भव संसरण 5. भाव संसरण

द्रव्य, क्षेत्र, काल, भव आदि चारों संसारों का कारण भाव संसार है। भावों में रागादि का होना ही संसार का मुख्य हेतु है। कहा भी गया है कि-

रागो य दोसो वि य कम्मबीयं
कम्मं च मोहप्पभवं वयंति।
कम्मं च जाइमरणस्स मूलं।
दुक्खं च जाइमरणं वयंति ।।

(उत्तराध्ययन सूत्र 32/7)

राग ही वह दोषावित्त है जो कर्मबीज है। कर्म को ही मोहोत्पत्ति कहा जाता है और कर्म ही जाति मरण का मूल है। जाति मरण ही दुःख कहा जाता है।

इस प्रकार यह जातिमरण अर्थात् लगातार मरने की प्रक्रिया ही संसार है। यह संसार ही समस्त परिवर्तनों का आगार है। अनित्य है, अध्रुव एवं अशाश्वत है। यहाँ दुःख ही दुःख है क्योंकि यहाँ मोह है और मोह है क्योंकि राग है, लगाव है, रंग है। अतः जो जीव इस राग रूपी दाग के निष्पक्ष दृष्टा हुए हैं, वे मुक्ति को उपलब्ध हुए हैं।

ऐसे मुक्त जीवों के कोई भेद-प्रभेद नहीं होते हैं किंतु समस्त संसारी जीवों के अनेक-अनेक भेद होते हैं, जिनका वर्णन हम अगले सूत्रों में करेंगे।

सूत्र-11

समनस्क-अमनस्क

पिछले सूत्र में हमने समस्त जीव राशि के दो विभागों के बारे में जाना था। संसारी और मुक्त-ये दो प्रकार के जीव होते हैं। जो जीव मुक्त होते हैं, वहाँ संसार संबंधित कोई योग नहीं होता। वे उपयोगी हो जाते हैं। किंतु जो जीव संसारी है वे तो मन-वचन एवं काया इन तीन योगों को प्राप्त किए रहते हैं। योगों के अभाव में उपयोग गुण पूर्णतया प्रकट रहता है किंतु योगों के होने पर उपयोग गुण विविधता लिए रहता है।

समस्त संसारी जीवों में काययोग तो समान रूप से पाया जाता है किंतु मनयोग संसार के कुछ जीवों में ही पाया जाता है। इस दृष्टि से संसारी जीवों के दो भेद किए जा सकते हैं। इन दो भेदों को प्रस्तुत सूत्र में कहते हैं कि-

सूत्र- समनस्काऽमनस्काः ॥11॥

अर्थ- संसारी जीव मन सहित (समनस्क) और मन रहित (अमनस्क) इन दो भेदों वाले हैं ॥11॥

विवेचन- संसारी जीव अनंत है। संक्षेप में उनके दो विभाग है- एक वे जो समनस्क है; दूसरे वे जो अमनस्क है।

संसार में रहने वाले जीव एकेन्द्रिय से लगाकर पंच इंद्रिय वाले हैं। इनमें से जो एकेन्द्रिय से चौरिन्द्रिय तक के जीव है, वे सभी नियम से असंज्ञी होते हैं। मनरहित होते हैं क्योंकि मन प्राप्त करने योग्य पर्याप्ति उनमें नहीं पाई जाती। मन की उपलब्धि मात्र पंचेन्द्रिय जीवों को ही हो सकती है किंतु सभी पंचेन्द्रिय जीवों को मन की प्राप्ति नहीं होती है। पंचेन्द्रिय जीव भी दो प्रकार के होते हैं- संज्ञी पंचेन्द्रिय एवं असंज्ञी पंचेन्द्रिय। मन सहित पंचेन्द्रिय जीवों को 'संज्ञी पंचेन्द्रिय' कहते हैं किंतु मन रहित पंचेन्द्रिय जीवों को 'असंज्ञी पंचेन्द्रिय' कहते हैं। पंचेन्द्रिय जीव चारों गति में पाए जाते हैं। मनुष्यों में भी जो सम्मूर्च्छिम मनुष्य होते हैं, वे नियमतः असंज्ञी ही होते हैं। स्वर्ग-नरक में असंज्ञी तिर्यंच के उत्पन्न होने की अपेक्षा से कुछ समय तक के असंज्ञी देव-नरक भी माने गए हैं।

संसारी जीवों को जब तक मन की प्राप्ति नहीं हो जाती, तब तक वे संसार से मुक्त होने की योग्यता भी प्राप्त नहीं कर पाते। समनस्क जीव ही संसार से मुक्ति की साधना कर सकते हैं, अमनस्क जीव नहीं कर सकते हैं। अमनस्क जीवों के पास विचारने की स्वतंत्र क्षमता कहाँ ? जब तक विचारशक्ति नहीं तब तक सुख-दुःख का तुलनात्मक बोध भी नहीं, बंधनों की पीड़ा भी नहीं और जब तक बंधनों की पीड़ा नहीं, परतंत्रता का अहसास नहीं तब तक मुक्ति का ज़ज्बा भी नहीं। यही कारण है कि पूज्य विराट गुरूजी कहते हैं कि-

मन बिना मुक्ति नहीं,
मन ही बंधन, मन ही क्रंदन
मन ही मृत्यु, मन ही ईधन
मन नहीं, जीवन तो है पर जीवनी शक्ति नहीं
मन नहीं मुक्ति नहीं।।

मन के कारण ही जीव संसार में बंधा भी रहता है और मन के अ-मन होने से मुक्त भी हो पाता है। प्राचीन आचार्य यही बात कहते हैं कि-

'मन एव मनुष्याणां कारणं बंध मोक्षयोः।'

अर्थात् मन ही मनुष्य के बंधन एवं मोक्ष का कारण है। जो व्यक्ति मन को जीत ले, मन को जान ले, वह मन का मालिक है, मुक्त है किंतु जो मन की वृत्तियों के अधीन जीता है वह संसारी है, पराधीन है। जिसे संसार से मुक्ति की साधना करनी है, उसे मन को सतत् अभ्यास द्वारा जीतना होता है।

वाचक उमास्वाति जी संसारी जीव के कई प्रकार के भेदों में सबसे पहले मन के आधार पर वर्गीकरण करते हैं। जो समनस्क है, वही इन सारे तत्त्वों को जान सकता है। मन दो प्रकार का होता है-एक द्रव्य मन व दूसरा भाव मन। 'भाव मन' चेतना की विचारणा शक्ति, चिंतन क्षमता या संवेदना को कहते हैं। यह भाव मन तो संसार की प्रत्येक जीवात्मा में होता ही है क्योंकि जहाँ जीव है, वहाँ भाव तो होगा ही। भावों का होना ही भाव मन है किंतु 'द्रव्य मन' एक पौद्गलिक संरचना है। एक मशीनरी की तरह है जो कि कम विकसित रूप में पशुओं में भी होता है। मगर जो मनुष्य के पास में है, उसी को हम मस्तिष्क नाम से जानते हैं। यह मस्तिष्क ही द्रव्य मन है जो कि संसार के सभी प्राणियों में नहीं पाया जाता है। जानवर की कुछेक प्रजातियों में ये काफी विकसित होता है जैसे शार्क, व्हेल आदि मत्स्य योनि में तथा चिंपाज़ी-वानर आदि में, किंतु शत-प्रतिशत विकास की संभावना मनुष्य मात्र में ही है। यही कारण है कि मनुष्य मनुष्य कहलाता है। 'मननात् मनुष्याः।'

देवता व नरक में यह मस्तिष्क रूपी द्रव्य मन होता तो है किंतु मनुष्य की तरह विकसित नहीं होता, न ही वहाँ विकास की संभावनाएँ होती है। वहाँ मानसिक क्षमताओं को जगाने का वातावरण भी नहीं है क्योंकि जहाँ सुख ही सुख है, वहाँ कुछ समझने-जानने व बदलने की प्रेरणा कहाँ से होगी ? तथा जहाँ दुःख ही दुःख है, वहाँ सोचने-समझने की फुर्सत कहाँ व कैसे होगी ? वहाँ तो बस दुःखों से राहत की छटपटाहट होगी किंतु दुःख-मुक्ति के उपायों का ज्ञान जाग सके-ऐसे शांत क्षण उपलब्ध नहीं हो पाएँगे। यही कारण है कि देवगति व नरकगति भोगभूमि मात्र है अर्थात् वहाँ जीव भोग में तो समर्थ होते हैं मगर कर्मयोग उनसे संभव नहीं होता। अतः अक्सर देवलोक व नरक में पुराने पाप-पुण्य की निर्जरा ही होती है। मुक्ति के लिये जो मन का समकित इस्तेमाल करना होता है, वह तो मनुष्य लोक में ही संभव है। देवलोक व नरक में जीव समकित तो हो सकता है मगर सर्वथा धर्म ध्यान व शुक्ल ध्यान मनुष्य लोक में ही संभव है। एक मात्र मनुष्य ही संसार में ऐसा प्राणी है जो अपने मस्तिष्क के द्वारा, मन के द्वारा सातवीं नरक तक का कर्म बंधन कर सकता है एवं सर्वार्थसिद्ध विमान (उत्कृष्टतम देवलोक की अवस्था) तथा सिद्ध-मुक्त होने तक की योग्यता भी रखता है। इस मन को प्राप्त करना भी पुण्यवानी का फल ही समझना चाहिए। मन को सम्यक् शिक्षित-प्रशिक्षित करने में ज़रा भी प्रमाद न हो, सतत् सजग अभ्यास

रहे; ताकि मन सुविधा लिप्सा व आदतन मूर्च्छा के चक्रव्यूह से बाहर निकल सके। वह सम्यक् चिंतन कर सके। प्रत्येक इंद्रिय का सदुपयोग करके मुक्ति हित साधना कर सके। इसके लिए प्रत्येक साधक को अपनी पंच इंद्रियों को, उनके विषय क्षेत्र को, उनकी अन्तः-बाह्य संरचना व कार्यप्रणाली को भी जान लेना चाहिए। मन इन पाँचों इंद्रियों द्वारा सूचनाएँ प्राप्त करता है और फिर अपने पूर्व संचित संस्कारों व सोच के साँचों में ढालकर उन्हें पुनः नई प्रेरणाएँ भी देता रहता है। अतः अगले कुछ सूत्रों में वाचक उमास्वाति जी हमें त्रस-स्थावर जीवों एवं पाँच इंद्रियों के बारे में जानकारी देने जा रहे हैं।

सूत्र-12-14

त्रस-स्थावर

वाचक उमास्वाति तत्त्वार्थ सूत्र के द्वितीय अध्याय में जीवों के स्वरूप एवं उसके विविध भेदों का कथन करते हैं। पिछले सूत्र में हमने समस्त संसारी जीवों के दो विभागों का अध्ययन किया था। एक संज्ञी-समनस्क जीव समूह एवं दूसरा असंज्ञी-अमनस्क, मन रहित जीवों का समूह। संसार के समस्त जीवों में मन सहित जीव अत्यंत थोड़े हैं, शेष सभी मन रहित जीव होते हैं। जीव समूह को एक अन्य अपेक्षा से दो भागों में बाँटते हुए सूत्रकार कहते हैं कि-

सूत्र- संसारिणस्त्रसस्थावराः ॥12॥

अर्थ- संसारी जीव के त्रस और स्थावर-ये दो भेद होते हैं ॥12॥

विवेचन- संसारी जीव चूँकि विविध कर्मबंधनों वाले हैं, अतः उनकी संरचना भी भिन्न-भिन्न होती है। जो जीव मुक्त है वो तो सभी भेदों से रहित है, एकात्म है। उनके लिए कहा गया है कि-

एक माँहि अनेक राजे, अनेक माँहि एककम्
एक अनेक की नाहिं संख्या, नमो सिद्ध निरंजनम्।।

सभी सिद्ध जीव एक स्वरूप वाले हैं, अतः उनमें कोई संख्यागत अथवा स्वरूपगत भेद नहीं होता। किंतु समस्त संसारी जीव कभी भी एक जैसे नहीं होते हैं, उनमें भिन्न-भिन्न अपेक्षाओं से भिन्न-भिन्न भेद किए जा सकते हैं।

प्रस्तुत सूत्र संसारी जीवों के त्रसत्व और स्थावरत्व की अपेक्षा दो भेदों का कथन करता है। त्रस जीव वे होते हैं, जो स्वेच्छा से एक स्थान से दूसरे स्थान पर गति कर सकते हैं। त्रसन्तीति त्रसाः-जो चल-फिर सके, अपने संज्ञान के अनुसार प्रतिक्रिया करने में समर्थ हो, वे त्रस जीव है। स्थावर जीव उसे कहते हैं जो स्वेच्छा से गति करने में सक्षम नहीं है। जो अपनी संवेदनाओं, संज्ञानों के प्रति प्रतिक्रियाएँ करने में असक्षम है, वे स्थावर नाम कर्मोदय वाले जीव स्थावर कहलाते हैं। स्थावर जीव एकेन्द्रिय जाति वाले ही होते हैं। इनके मात्र स्पर्शन् इंद्रिय होती है। स्थावर जीव एवं त्रस जीव कौन-कौन से होते हैं, इसका उल्लेख आगे के दो सूत्रों में इस प्रकार किया गया है कि-

सूत्र- पृथिव्यम्बुवनस्पतय: स्थावरा: ॥13॥

अर्थ- पृथ्वीकाय, अप्काय (जल) और वनस्पति-ये तीनों स्थावर है। ॥13॥

सूत्र- तेजोवायू द्वीन्द्रियादयश्च त्रसा: ॥14॥

अर्थ- तेजस्काय, वायुकाय एवं बेइंद्रिय आदि जीव त्रस है ॥14॥

विवेचन- पृथ्वीकाय, अप्काय और वनस्पतिकाय-ये तीनों स्थावर जीव है। इन तीनों में स्वैच्छिक गति नहीं पाई जाती है। यद्यपि गति समष्टि का स्वभाव है किंतु उस गति से यहाँ प्रयोजन नहीं है। त्रस के भेदों में तेजोवायु इन दोनों को भी लिया गया है। यद्यपि स्वैच्छिक गति तो इन दोनों में भी संभव नहीं है किंतु तेउकाय सदैव ऊपर की ओर बढ़ती है, वायु सदैव तिरछी चलती है, इस प्रकार दोनों ही सदैव गतिशील ही रहते हैं, अत: इन्हें 'गतित्रस' कहा गया है। त्रस जीवों के दो भेद किए गए हैं-एक लब्धि त्रस, दूसरा गति त्रस। त्रस नामकर्म के उदय वाले जीव लब्धि त्रस है जैसे कि बेइंद्रिय, तेइंद्रिय, चउरिंद्रिय एवं पंचेन्द्रिय जाति के जीव जबकि स्थावर नामकर्म का उदय होने पर भी त्रस जैसी गति होने के कारण जो त्रस कहलाते हैं, वे गतित्रस है। ये उपचार मात्र से त्रस है जैसे कि तेउकाय एवं वायुकाय के जीव।

ये सूत्र संसारी जीवों के त्रस एवं स्थावर की अपेक्षा से भेद बतलाते हुए यह इंगित करते हैं कि इन पृथ्वी, पानी, अग्नि, वायु में भी जीव है। यद्यपि इनका हलन-चलन आदि दिखलाई नहीं पड़ता है, तथापि जीव होने से इनका अनावश्यक उपयोग हिंसा का कारण है। आधुनिक विज्ञान वनस्पति एवं पानी में तो जीवन का होना स्वीकार करता है किंतु पृथ्वी, अग्नि एवं वायु के प्रति अभी वह सुस्पष्ट नहीं है। प्रभु महावीर छद्मस्थ काल में जब त्राटक साधना करते थे तब उनकी शोध का विषय बिंदु था-आड़े-तिरछे लोक के जीव। उन्होंने जीवों की विविध अवस्थाओं को, चैतन्य की विविध अभिव्यक्तियों को अनुभूत किया था। वे ही कह पाए कि जैसा मनुष्य का आत्मा है, वैसा ही संसार का अल्प विकसित प्राणी भी आत्मवान है किंतु अभी वह अपने विकास पथ पर गतिशील नहीं है तो 'स्थावर' है। जो जीव चेतना के विकास की यात्रा पर गतिशील है, वे 'त्रस' है। त्रस और स्थावर चैतन्य के विकास की अवस्थाएँ मात्र है। जो जीव त्रस होकर किसी समय 'परिपूर्ण विकसित चेतना का स्वामी' बन जाए तो ठीक अन्यथा वह पुन: स्थावरत्व को उपलब्ध हो जाएगा। त्रस अवस्था में कोई भी जीव दो हज़ार सागरोपम से ज्यादा काल तक नहीं ठहर सकता है, इतने में वह यदि मुक्त नहीं होता है तो उसे पुन: स्थावर अवस्था प्राप्त हो जाती है जो कि अनंतकाल की स्थिति वाली है। प्राणियों में संवेदनशीलता की तरतमता से स्थावर जीवों का क्रम बनाया गया है। जिन प्राणियों में संवेदनशीलता सर्वाधिक न्यून है, वे पृथ्वीकाय है, उनसे अधिक संवेदन क्षमता अप्काय (पानी के जीवों) में है। फिर क्रमश: यह संवेदन क्षमता विकसित होती जाती है। अब आगे के सूत्रों में हम पंचेन्द्रियों के बारे में विस्तारपूर्वक जानेंगे।

सूत्र-15-18

इंद्रियाँ पाँच

पूर्व सूत्र में हमने जीवों के त्रस एवं स्थावर-इन दो भेदों को समझा था। सूत्र संख्या 14 में कहा गया था कि 'तेजोवायू द्वीन्द्रिया-दयश्च त्रसाः' अर्थात् तेजस्काय, वायुकाय और द्वीन्द्रियादि त्रस है। द्वीन्द्रिय आदि पद में रहे 'आदि' शब्द को विस्तृत करते हुए प्रस्तुत सूत्र इंद्रियों के भेदों का कथन करता है। वाचक उमास्वाति संसारी जीवों को प्राप्त इंद्रियों के भेदों का कथन करते हुए कहते हैं कि-

सूत्र- पंचेन्द्रियाणि ॥15॥

अर्थ- इंद्रियाँ पाँच है ॥15॥

विवेचन- इंद्रियाँ पाँच है, जो इस प्रकार है- श्रोतेन्द्रिय (कान), चक्षुरिन्द्रिय (आँख), घ्राणेन्द्रिय (नाक), रसनेन्द्रिय (जीभ), स्पर्शनेन्द्रिय (त्वचा)।

इन्द्र अर्थात् आत्मा, उसकी जो पहचान कराए, उसे इंद्रिय (senses) कहते हैं। जीव की चैतन्य शक्ति को ये इंद्रियाँ ही सूचित करती है, इंद्रियों की प्रवृत्ति को देखकर अनुमान होता है कि इस शरीर में जीव है। परन्तु सभी जीवों के पाँचों ही इंद्रियाँ नहीं होती है। किसी के एक, किसी के दो, किसी के तीन, किसी के चार और कुछ जीवों के पाँचों इंद्रियाँ भी होती है। जो एक इंद्रिय वाले हैं वे एकेन्द्रिय कहे जाते हैं। एकेन्द्रिय जीवों के पास मात्र त्वचा यानि कि स्पर्शन इंद्रिय (body) ही होती है। बेइंद्रिय जीवों के पास स्पर्शन और रसना (tounge)-ये दो इंद्रियाँ होती है। तेइंद्रिय जीवों में घ्राण शक्ति (nose) भी पाई जाती है। चतुरिन्द्रिय जीवों में चक्षुरिन्द्रिय (eyes) की वृद्धि हो जाती है। परिपूर्ण इंद्रिय पंचेन्द्रिय कही जाती है। ये पाँचों इंद्रियाँ ज्ञानेन्द्रियाँ हैं क्योंकि ये पाँचों अपने-अपने विषयों का ज्ञान चेतना को उपलब्ध कराती है। आत्मा रूपी मालिक के लिए ये पाँचों इंद्रियाँ एजेन्ट के समान है। इनके माध्यम से जीव बाह्य जगत से संपर्क स्थापित करता है।

कुछ अन्य दार्शनिक पाँच ज्ञानेन्द्रियों के सिवाय पाँच कर्मेन्द्रियों को भी इन्द्रिय रूप स्वीकार करते हैं। सांख्य दर्शन के अनुसार वाक्, पाणि (हाथ), पाद (पैर), पायु (गुदा) और उपस्थ (लिंग या जननेन्द्रिय)- ये पाँचों ही कर्मेन्द्रियाँ हैं। इनके द्वारा जीव कर्मों का संपादन कर पाता है, अतः इन्हें कर्मेन्द्रिय कहा गया है। जीवन-यात्रा के आवश्यक कर्म-आहार-विहार-निहार चूंकि इन पाँचों अवयवों द्वारा होते हैं, अतः इन्हें कर्मेन्द्रिय कहा गया है। इन पाँचों कर्मेन्द्रियों का समावेश स्पर्शनइंद्रिय में हो जाता है। जैसे वाक् का रसना स्पर्शन सहित, क्योंकि वाक्नली (vocal chord) कण्ठ, तालू आदि बोलने में सहायक अंग स्पर्शनइंद्रिय है और शेष चार का स्पर्शनइंद्रिय में समावेश हो ही जाता है।

निर्ग्रन्थ दर्शन इन पाँचों इंद्रियों को पुनः 2 भागों में बाँटता है। सूत्रकार के शब्दों में-

सूत्र-द्विविधानि ॥16॥
निर्वृत्त्युपकरणे द्रव्येन्द्रियम् ॥17॥
लब्ध्युपयोगौ भावेन्द्रियम् ॥18॥

अर्थ- ये पाँचों इंद्रियाँ दो-दो प्रकार की है ॥16॥
द्रव्येन्द्रिय निवृत्ति और उपकरण रूप है ॥17॥
भावेन्द्रिय लब्धि और उपयोग रूप है ॥18॥

विवेचन- ये पाँचों इंद्रियाँ भी द्रव्य और भाव के भेद से दो प्रकार की है। पुद्गलमयी जड़ संरचना द्रव्य इंद्रिय है और चेतना की उपयोग क्षमता भाव इंद्रिय है। जीव के ज्ञानावरणीय कर्मों का क्षयोपशम होने पर ही वह बाह्य पदार्थों का ज्ञान करने में सक्षम हो पाता है। यह क्षयोपशम रूप उपलब्धि ही भाव इंद्रिय है। आगे के सूत्रों में द्रव्येन्द्रिय एवं भावेन्द्रिय इनके भी पुनः 2-2 भेद किए गए हैं। जैसे कि द्रव्येन्द्रिय के दो भेद- निर्वृत्ति द्रव्येन्द्रिय एवं उपकरण द्रव्येन्द्रिय है। इसे हम निम्न चार्ट से समझेंगे-

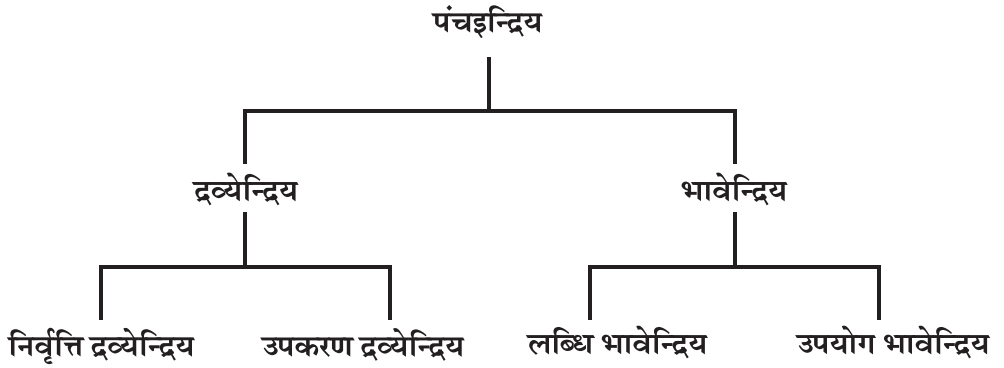

द्रव्येन्द्रिय के दो भेद है- निर्वृत्ति और उपकरण। निर्वृत्ति शब्द का अर्थ होता है -रचना। निर्माण नाम कर्म और अंगोपांग नाम कर्म के निमित्त से शरीर पुद्गलों की रचना 'निर्वृत्ति' है। अर्थात् शरीर में दिखाई देने वाली इंद्रियों संबंधी पुद्गलों की विशिष्ट रचना निर्वृत्ति है। यह एक प्रकार का झरोखा है, जिसके माध्यम से जीव बाह्य जगत का ज्ञान प्राप्त करता है।

उपकरण इस बाह्य ज्ञान में सहायक होता है तथा निर्वृत्ति रूप रचना को हानि नहीं पहुँचने देता। इस प्रकार जो निर्वृत्ति द्रव्येन्द्रिय के लिए उपकारक (सहयोगी) हो उसे 'उपकरण द्रव्येन्द्रिय' कहते हैं। निर्वृत्ति और उपकरण

दोनों के ही दो-दो भेद होते हैं- 1. आंतरिक 2. बाह्य।

उदाहरण के लिए चक्षुइंद्रिय को लें। चक्षुइन्द्रियावरण कर्म के क्षयोपशम से आत्मप्रदेशों का चक्षुइन्द्रिय के आकार में बनना, यह आंतरिक निर्वृत्ति है और उस देखने योग्य पुद्गलों की रचना बाह्य निर्वृत्ति है। आँख में जो काली पुतली (retina) है तथा इसके चारों ओर जो सफेद मण्डल है वह आंतरिक उपकरण है तथा पलक, बरौनी आदि बाह्य उपकरण है।

इस प्रकार आंतरिक व बाह्य इन दो भेदों से निर्वृत्ति और उपकरण-द्रव्येन्द्रिय के इन दोनों भेदों को पाँचों इंद्रियों के संबंध में समझना चाहिए। इसे हम सेलफोन के उदाहरण से भी समझ सकते हैं। सेलफोन (mobile) की बाहरी संरचना निर्वृत्ति है। इसमें जो बैटरी आदि लगी है-वह उपकरण है। जितने भी features हैं, वे सभी उपकरण है। इन उपकरणों में यानि प्रत्येक अंग में अपने-अपने कार्यों को करने की जो क्षमता है वह 'लब्धि' है। किंतु उस लब्धि को प्रयोग में लाने के लिए बेटरी का चार्ज होना व उपयोगकर्त्ता (user) को उपयोग में लेना आना ज़रूरी है। यही द्रव्येन्द्रिय व भावेन्द्रिय का सशक्त उदाहरण है। मोबाईल का सॉफ्टवेयर भावेन्द्रिय रूप है तथा हार्डवेयर को द्रव्येन्द्रिय रूप समझना।

भावेन्द्रिय के दो भेद हैं-लब्धि और उपयोग। लब्धि का अभिप्राय शक्ति प्राप्ति से, उपलब्धि से है। ज्ञानावरणीय कर्म के क्षयोपशम से प्राप्त जीव को इंद्रिय संबंधित विशिष्ट उपलब्धि 'लब्धि भावेन्द्रिय' कही जाती है तथा उस लब्धि अर्थात् प्राप्त शक्ति-क्षमता द्वारा जो जानने की क्रिया होती है, वह उपयोग कहलाता है। जैसे, किसी जीव में देखने की शक्ति तो है किंतु उसका उपयोग दूसरी ओर होने से वह सामने स्थित वस्तु को भी नहीं देख सकता है। इसी तरह किसी वस्तु को जानने की इच्छा होते हुए भी यदि क्षयोपशम न हो तो नहीं जाना जा सकता। अतः लब्धि और उपयोग के मिलने से ही पदार्थों का ज्ञान होता है। लब्धि एक साथ अनेक ज्ञानों की हो सकती है किंतु उपयोग एक काल में एक ही ज्ञान का होता है। जैसे मोबाईल में अनेकों applications है किंतु एक समय में सभी applications एक साथ उपयोग में नहीं लाई जा सकती।

लब्धि, निर्वृत्ति और उपकरण इन तीनों के मिलने से जो रूपादि विषयों का सामान्य और विशेष बोध होता है, वह उपयोग इंद्रिय है। उपयोग इंद्रिय मतिज्ञान रूप तथा चक्षु-अचक्षु दर्शन रूप है। इनका प्राप्ति क्रम इस प्रकार है- लब्धीन्द्रिय होने पर ही निर्वृत्ति संभव है। निर्वृत्ति के बिना उपकरण नहीं अर्थात् लब्धि प्राप्त होने पर ही निर्वृत्ति उपकरण और उपयोग हो सकते हैं। इसी तरह निर्वृत्ति (रचना) प्राप्त होने पर उपकरण तथा उपयोग एवं उपकरण प्राप्त होने पर उपयोग संभव है। उपयोग स्वयं इंद्रिय नहीं है, वह तो इंद्रिय व्यापार का फल है, परिणाम (result) है किंतु वह इन द्रव्येन्द्रिय एवं लब्धि के निमित्त से ही होता है, इसलिए कारण में कार्य का उपचार करके उसे भी इंद्रिय कहा है। लब्धि रूप भावेन्द्रिय जन्म के प्रथम समय से उत्पन्न हो जाती है और द्रव्येन्द्रिय की रचना शरीर ग्रहण के प्रथम समय से उत्पन्न होती है। जब द्रव्येन्द्रिय पूर्ण हो जाती है, तब उपयोग भावेन्द्रिय होती है। इस प्रकार यह द्रव्येन्द्रिय और भावेन्द्रिय की उत्पत्ति का क्रम है।

सूत्र-19-21

इंद्रिय-विषय

जीव के उपयोग गुण को पंचेन्द्रियों के द्वारा व्यक्त किया जाता है। बाह्य जगत से संपर्क पंचेन्द्रियों द्वारा संभव है। इन पंचेन्द्रियों के दो-दो भेदों का एवं उनके उपभेदों का विस्तारपूर्वक कथन हम पिछले सूत्रों में कर चुके हैं। अब इन पाँच इंद्रियों का उपयोग किन विषयों में प्रवृत्त होता है, इसका वर्णन हम आगे के सूत्रों में समझेंगे-

सूत्र- उपयोगः स्पर्शादिषु ॥19॥
स्पर्शन रसन घ्राण चक्षुः श्रोत्राणि ॥20॥
स्पर्श रस गंध रूप शब्दास्तेषामर्थाः ॥21॥

अर्थ- उपयोग स्पर्श आदि विषयों में होता है ।।19।।
स्पर्शन, रसन, घ्राण, चक्षु और श्रोत-ये इंद्रियों के नाम है।।20।।
स्पर्श, रस, गंध, वर्ण (रूप) और शब्द-ये पाँच इंद्रियों के अर्थ यानि विषय है।।21।।

विवेचन- भावेन्द्रिय के दो भेद क्रमशः लब्धि एवं उपयोग रूप थे। अब प्रश्न यह उपस्थित होता है कि इंद्रियाँ किसमें उपयोग लगाती है ? किसमें प्रवृत्त होती है ? उनकी प्रवृत्ति के प्रयोजन क्या है ? इन प्रश्नों का समाधान उपरोक्त सूत्रों में किया गया है कि ये इंद्रियाँ चूंकि पाँच है और पाँचों का कार्य क्षेत्र भिन्न-भिन्न है। प्रत्येक इंद्रिय का नियत विषय है, जिसे वह ग्रहण करती है। जिस प्रकार एक सरकारी तंत्र में प्रत्येक विषय के अलग-अलग विभाग होते हैं और उन विभागों के अलग-अलग मंत्री होते हैं, जैसे कि खाद्य मंत्री खाद्य विभाग की देखरेख करता है। इसी तरह उद्योग मंत्री, कृषि मंत्री, ऊर्जा मंत्री, विदेश मंत्री, शिक्षा मंत्री-ये सभी अपने-अपने विषय विभाग की देखरेख-देखभाल करते हैं। इसी प्रकार हमारे शरीर तंत्र के भी पाँच महकमे हैं। ये पाँच विभाग क्रमशः स्पर्शन, रसन, घ्राण, चक्षु और श्रोत है। इनका कार्य क्रमशः स्पर्श, स्वाद (रस), घ्राण (गंध), रूप (वर्ण) एवं शब्दों को ग्रहण करना है। मतिज्ञान के उस व्यापार को जो कि स्पर्शन आदि इंद्रियों के स्पर्श-रस-गंध-वर्ण और शब्द रूप प्रतिनियत विषयों को ग्रहण करने वाला है, 'उपयोग' कहते हैं। स्पर्शनादि विषय का मतिज्ञान ही यहाँ पर उपयोग शब्द से लिया गया है। यह उपयोग दो प्रकार का होता है-एक विज्ञान रूप एवं दूसरा अनुभव रूप। इंद्रियों के विषयों की उपलब्धि को 'विज्ञान' एवं सुख-दुःख के वेदन को 'अनुभव' कहते हैं। यह उपयोग पाँच इंद्रियों द्वारा हुआ करता है किंतु एक समय में एक ही इंद्रिय द्वारा होता है।

जगत के समस्त पौद्गलिक पदार्थों में चार गुण पाए जाते हैं। वे हैं-वर्ण, गंध, रस एवं स्पर्श। वर्णादि ये

चारों गुण पाए जाने के कारण पुद्गल पदार्थ रूपी कहलाता है। यह पुद्गल जड़ है, इसमें चेतना नहीं है, अतः ये ज्ञेय तो हो सकता है, ज्ञाता नहीं। ये विषय तो बन सकता है, विषयी नहीं। इसे जानने वाला चेतन जीव है, जो अपने उपयोग गुण के कारण इन पाँचों इंद्रियों की सहायता से पौद्गलिक पदार्थों को जानता-देखता है। प्रत्येक पौद्गलिक पदार्थ में वर्णादि चारों गुण पाए जाते हैं और हमारी इंद्रियाँ उन्हें अपनी-अपनी विषय क्षमता के अनुरूप ग्रहण करती है जैसे कि एक लड्डू को आँखे देखती है, नाक उसकी गंध ग्रहण करता है, जीभ उसका स्वाद बतलाती है, स्पर्शन द्वारा उसके हल्के-भारीपन को तथा गर्म-ठंडेपन को ग्रहण किया जाता है, लड्डू खाते समय होने वाले शब्द को कान द्वारा सुना जाता है। इस प्रकार हर विभाग स्वतंत्र रूप से अपने-अपने विषयों को ग्रहण करके उनकी सूचनाएँ मन तक भेजता है।

इन पाँचों इंद्रियों द्वारा ग्रहीत विषय भी तेईस भेदों वाले हैं। यथा-श्रोतेन्द्रिय तीन प्रकार के शब्द ग्रहण करती है-जीव शब्द, अजीव शब्द, मिश्र (जीवाजीव संयुक्त) शब्द। चक्षुन्द्रिय पाँच प्रकार के वर्ण ग्रहण करती है-काला-नीला-लाल-पीला-सफेद। इनके सिवाय जितने भी रंग है, वे इन्हीं के मिश्रण से बने हैं, अतः उन सभी को चक्षु द्वारा ग्रहण किया जाता है। घ्राणेन्द्रिय का कार्य गंध ग्रहण करना है। गंध मात्र मोटे तौर पर दो भागों में समझी जाती है-एक सुरभिगंध (सुगंध; pleasant smell), दूसरा दुरभिगंध (दुर्गंध; foul smell) । रसनेन्द्रिय का कार्य रस को ग्रहण करना है, जिसके स्थूल रूप से 5 भेद किए गए हैं जैसे कि-तीक्ष्ण (pungent), कटु (bitter), कषैला (astrigent), अम्ल (sour), मधुर (sweet)। स्पर्शनेन्द्रिय का कार्य विषय त्वचा द्वारा प्राप्त संवेदनाओं को ग्रहण करना है, जिन्हें आठ भेदों में समझा जा सकता है यथा-शीत (cold), उष्ण (hot), लघु (light), गुरू (heavy), कर्कश (rough), कठोर (hard), रूक्ष (dry), स्निग्ध (sticky)। यद्यपि पाँचों इंद्रियों के ये सभी विषय पृथक्-पृथक् है किंतु जिन्हें विशिष्ट लब्धि की प्राप्ति हो जाती है, वे एक ही इंद्रिय से सभी विषयों को ग्रहण करने में सक्षम हो जाते हैं।

वैसे भी एकेन्द्रिय जीव जिनके पास मात्र स्पर्शन इंद्रिय है, वह अपनी एक इंद्रिय से ही पाँचों प्रकार की संवेदनाओं को यथाशक्य ग्रहण कर पाता है। जिनके पास मात्र दो इंद्रियाँ है, वे अपने सारे क्रिया-कलाप उन दो इंद्रियों के मार्फत ही करते हैं। इंद्रियाँ पाँच होने पर प्रत्येक का कार्य क्षेत्र भिन्न-भिन्न रूप से काम करता है। अब पंचेन्द्रिय अवस्था में प्रत्येक इंद्रिय की निजी कार्यक्षमता तो कम हो जाती है किंतु पाँचों की समवेत क्षमता का उपयोग करने से इंद्रिय ज्ञान क्षमता बढ़ जाती है। ये पाँचों इंद्रियाँ जीव को उसके ज्ञानावरणीय कर्मों के क्षयोपशम के अनुसार मिला करती है। जिस जीव ने ज्ञान और ज्ञानी की आशातना की हो, उनका अवर्णवाद (निंदा) किया हो, उन्हें मानसिक व शारीरिक कष्ट पहुँचाया हो, वह जीव उसी भव में अथवा आगामी भव में गूँगा, बहरा, अंधा या लूला-लंगड़ा बनकर ज़िंदगी जीने को बाध्य होता है। इसके विपरीत जिस जीव ने ज्ञान और ज्ञानी पुरूषों की विनय-भक्ति-बहुमान किया हो, उन्हें मानसिक व शारीरिक साता पहुँचाई हो, उनकी सेवा-सुश्रुषा की हो, उस व्यक्ति को श्रुत लब्धि, नेत्र लब्धि, घ्राण लब्धि आदि विविध प्रकार की लब्धियाँ सहजता से प्राप्त होती है। हम में से प्रत्येक व्यक्ति को इस बात का बोध रहे, विवेक रहे ताकि हम कभी भी किसी भी प्राणी मात्र को दुःख या कष्ट न पहुँचावें। भूलकर भी किसी विद्वत् पुरूष या ज्ञानी पुरूष का अविनय न करें। ज्ञान की जिज्ञासा सदैव रखें।

पंचइंद्रियों की लब्धि के अनन्तर बस एक ही चरम उपलब्धि शेष रह जाती है, जो कि असंज्ञी पंचेन्द्रियों में नहीं होती, मात्र संज्ञी पंचेन्द्रिय जीवों में ही पाई जाती है वह है मनोलब्धि। वाचक उमास्वाति जी अगले सूत्र में उसी लब्धि का आख्यान करेंगे।

सूत्र-22
अनिन्द्रिय विषय

पिछले सूत्रों में हमने पाँचों इंद्रियों के नाम एवं उनके द्वारा जाने गए (ज्ञेय) विषयों के बारे में जाना था। जानने का काम भावेन्द्रिय का है, द्रव्येन्द्रिय उसमें निमित्त-सहायक रूप होती है। संज्ञी जीवों द्वारा होने वाले इंद्रिय व्यापार में उनका मन भी सहायक होता है। ये पाँचों इंद्रियाँ अपने-अपने विषय की सूचनाएँ मन तक पहुँचाती है। फिर मन इन सूचनाओं को अलग-अलग करता है। जो उसे रूचिकर व महत्वपूर्ण लगती है, उसे स्मृति में रखता है, जो उसे महत्वपूर्ण या रूचिकर नहीं लगती, उसे गौण कर देता है। मन की मशीनरी सारी सूचनाओं को व्यवस्थित करती है, पूर्व सूचनाओं से संबद्ध करती है। कलन (गणना), मनन, संग्रहण, चिंतन-ये सारा कार्य मन से होता है। मन को वैसे तो अनिन्द्रिय कहा गया है किंतु यह मन अन्तः इंद्रिय है। कई लोग इसे अन्तःकरण भी कहते हैं। इसके विषय को बतलाते हुए वाचक उमास्वाति कहते हैं कि-

सूत्र- श्रुत मनिन्द्रियस्य ॥22॥

अर्थ- श्रुत अनिन्द्रिय का विषय है ॥22॥

विवेचन- जिस प्रकार दृश्य-आँख का, स्वाद-रसना का, गंध-घ्राण का, स्पर्शन्-त्वचा का विषय है, उसी प्रकार श्रुत यानि कि सुनना मन का विषय है। मात्र कान से सुना जाता हो, ऐसा नहीं है। कान तो सुनने के लिए द्वार है, सुनना तो तब ही संभव हो पाता है जबकि मन भी सहयोगी बने।

पाँच इंद्रियों में अंतिम इंद्रिय श्रोतेन्द्रिय है। इसे दुर्लभ बताया गया है। उसकी दुर्लभता का एक प्रमुख कारण यह है कि इसके मिलने के साथ ही मन का मिलना संभव है। एकेन्द्रिय से चतुरिन्द्रिय तक के जीवों के पास मन नहीं होता। उनके पास न मन है, न कान है। जिनके पास कान (श्रुत) है, उसी को मन की प्राप्ति संभव है। और जब तक मन नहीं, तब तक मनन नहीं। हेय-उपादेय का विवेक नहीं। चुनने, त्यागने की क्षमता नहीं। मन बिना मुक्ति नहीं। अतः मन महत्वपूर्ण है।

इस सूत्र में बताया है कि मन का विषय श्रुत है। श्रुत शब्द का साधारण अर्थ है-'सुना गया'। स्पर्शन् आदि इंद्रियाँ केवल रूपी पदार्थ को ग्रहण करती है और वह भी आंशिक ही, अतः इनका विषय क्षेत्र सीमित है। जैसे, आँखें अमुक दूरी से कम या अधिक दूर स्थित वस्तुएँ नहीं देख सकती। कान भी निश्चित फ्रीक्वेंसी से कम या ज्यादा के शब्द ग्रहण नहीं कर सकता। किंतु मन रूपी-अरूपी सभी पदार्थों को अनेक प्रकार से ग्रहण करता है, इसलिए इसका विषय अपरिमित है। मन का कार्य विचार करना है। विचार इंद्रियों के द्वारा प्रत्यक्षतः ग्रहण किए गए

अथवा नहीं ग्रहण किए गए सभी विषयों का हो सकता है, इस विचार का नाम ही 'श्रुत' है। अतः मन का विषय 'श्रुत' रूपी-अरूपी सभी पदार्थों का स्वरूप चिंतन है। जैसे 'अमेरिका' शब्द सुनते ही मन वहाँ के चित्रों में विचरण करने लगता है। मन किसी भी विषय के बारे में सुने गए प्रत्येक शब्द के साथ उनका रूप चित्रण एवं भाव चित्रण भी करता है। मन का विषय क्षेत्र बहुत व्यापक है।

श्रुतमनिन्द्रिय की जो हमने सर्वसाधारण व्याख्या की है, ये व्याख्या अन्य भी कई विद्वानों द्वारा अपने-अपने तरीके से लगभग वैसी ही की गई है मगर इससे जिज्ञासु को इन्द्रिय व अनिंद्रिय का भेद स्पष्ट नहीं होता। प्रश्न खड़ा रहता है कि अनिंद्रिय क्या होता है और यहाँ 'अनिंद्रिय' शब्द से सूत्रकार का क्या संकेत है? अनिंद्रिय विज्ञान क्या है ? और पांचों इन्द्रियों के विषय में मात्र श्रुत को ही अनिंद्रिय क्यों कहा गया है? हम कहते हैं कि अगर कोई व्यक्ति इस रहस्य को जान ले तो बिना सूत्रों को परिपाटीगत रटे, माने, भगवान महावीर के कर्मवाद को बूझ ले। इसे समझने के लिए हम सरसरी तौर पर अन्य दर्शनों की बात पर विचार करेंगे मगर उससे पहले यह समझ लें कि श्रुत दो तरह का होता है -

1. सूकार श्रुत-भाव श्रुत 2. विकार श्रुत-द्रव्य श्रुत।

जो कानों से सुना व जुबान से बोला जाता है-वह विकार श्रुत है, द्रव्य श्रुत है। अतः वह तो निश्चय ही कान का विषय है इसलिए इन्द्रिय का विषय ही हुआ, मगर सूत्रकार यहाँ जो बात बताना चाहता है, वह सूकार श्रुत है। वह मात्र कानों का विषय नहीं है, वह मन के द्वारा प्रसारित व ग्रहित भाव तरंगे हैं। अतः अनिंद्रिय है क्योंकि मन अपने आप में इन्द्रिय नहीं है, इन्द्रियों का राजा है। इन्द्रियों का काम तो मात्र घटित घटनाओं का हूबहू विवरण मन तक पहुँचाने का है और मन से प्राप्त आदेशों को लागू करने का है मगर इन्द्रियों से प्राप्त संकेतों को अपने अनुकूल या प्रतिकूल समझने, मानने व सोचने का काम मन का है। अतः मन को ही अनिन्द्रिय कहा गया है, जो बाहरी तौर से तो दिखलाई नहीं पड़ता, चिह्नित नहीं किया जा सकता किन्तु वह समस्त श्रुत को अपने सॉफ्टवेयर के अनुसार समझता व ग्रहण करता है। जैसे एक लघुवय का बालक संस्कृत, फ्रेंच आदि भाषाओं को सुन तो सकता है, कदाचित् बोल भी सकता है, किन्तु जब तक उसका मन विकसित न हो, वह उसे समझ नहीं सकता। यही कारण है कि श्रुत मन का विषय है। मन अगर उपयोगयुक्त नहीं है तो सुनी हुई बात भी समझ नहीं आ पाएगी। सुना अनसुना हो जाएगा।

श्रुत शब्द का जैन निमित्त शास्त्रों के अनुसार अर्थात् यूँ कहो मंत्र विज्ञान के अनुसार अर्थ होता है-पुरूषत्व की रूचि व रमण का सृष्टि के साथ तालमेल। प्रकट में तो 'शब्द' वाक्य या भाषा के रूप में होता है मगर वास्तव में वह भाव अर्थ में श्रुत होता है जो सारी सृष्टि का सृजन करता है, अतः वह इन्द्रियों का विषय नहीं होता। अनिंद्रिय इसीलिये कहा गया है कि ये भाव श्रुत ही आत्मा से मन के द्वारा प्रकट, प्रसारित, सम्मिलित व चित्रित होता है; बल्कि सृष्टि का सृजन ही ये भाव करते हैं। मन तो मात्र एक उपकरण होने की वजह से सिर्फ माध्यम ही होता है। मूल रूप से यह आत्मा की योग्यता है। यह दूसरी बात है कि मन उसे अपने संस्कारों में तोल कर अच्छा-बुरा कैसे प्रस्तुत करता है। आत्मा चाहे तो उसे माने, चाहे तो नकारे। आत्मा अगर ऐसे समय में साइलेंट या किंकर्त्तव्यविमूढ़ रहता है तो मन के द्वारा विचार तरंगों के माध्यम से, ये भाव सृष्टि में प्रसारित कर दिये जाते हैं। सृष्टि में ये भाव अन्य भावों से मिलते, बिछुड़ते, आकर्षित, विकर्षित, चित्रित हो जाते हैं; जो बाद में हमारा प्रारब्ध बन जाते हैं। इसलिये श्रुत को अनिंद्रिय कह कर सूत्रकार संकेतों में ये विज्ञान समझा रहा है।

आगे के सूत्र में एकेन्द्रिय से लगाकर पंचेन्द्रिय तक की यात्रा के विज्ञान के सूत्र भी समझाए जाएँगे। अब

हम देखते हैं, इस संबंध में अन्य दर्शन क्या कहते हैं।

ईसाई दर्शन कहता है कि ये सारी सृष्टि 'शब्द' से बनी हुई है। वैदिक संस्कृत व्याकरण कहती है कि शिव (आत्मा, परमात्मा) के डमरू अर्थात् मस्तिष्क समेत शरीर से चौदह शब्द निकले, जिससे ये सृष्टि बनी। आर्हत दर्शन कहता है कि इस सृष्टि का कोई नियंता नहीं है। यह सृष्टि अपने आप में एक ईश्वरीय तत्त्व है, जो अनादि-अनंत है। वह सनातन तत्त्व दुनिया के सारे जीवों के भाव है, जिसके जैसे भाव, उसका वैसा ही भाग्य बन जाता है, जिसे 'कल्प' कहा गया है। ये हमारे भाव, सृष्टि का सृजन कर रहे हैं इसलिये उसे सृकार श्रुत अर्थात् सृष्टि को बनाने वाला कार्य कह रहे हैं, यह इन्द्रियों का विषय नहीं है। क्वांटम फिज़िक्स कहता है कि यह सारी सृष्टि मात्र तरंगों का एक उलझा हुआ जाल है। हर जीव की अपनी-अपनी भाव तरंगें अपनी-अपनी फ्रिक्वेंसी में, तरंग वीथी में प्रवाहित होती रहती है और भाव प्रमाण सृष्टि की रचना होती रहती है। चूंकि इन्द्रियों के विषय से तात्पर्य मात्र शरीर की सवेंदनाएँ ही है, अतः श्रुत इन्द्रियों से परे अनिंद्रिय ही है।

सूत्र-23-24

एकेन्द्रिय यावत् पंचेन्द्रिय

पिछले सूत्रों में हमने पाँच इंद्रियों के नाम, उनके अर्थ, उनके भेद-प्रभेद,उनके विषयों व अनिन्द्रिय मन के बारे में जाना था। जीव-समूह अपने द्वारा प्राप्त इंद्रियों के द्वारा ही संसार के संपर्क से शारीरिक संवेदनाओं को ग्रहण और अभिव्यक्त कर पाता है। कान व जुबान के द्वारा प्रकट में तो वह संवेदनाओं को ही ग्रहण व अभिव्यक्त करता है मगर अप्रकट व सूक्ष्म रूप से अपनी-अपनी इच्छाओं, भावनाओं के अनुसार अनुकूल व प्रतिकूल अपनी-अपनी सृष्टि की रचना करता रहता है। इसमें मौलिक उपादान मन का होता है। वैसे संसार के सारे जीवों में मन नहीं होता। ऐसी स्थिति में भी गुप्त रूप से उनकी संज्ञा तो जागृत रहती ही है, जिससे वह इंद्रियों से प्राप्त संवेदनाओं को ग्रहण करते समय कुछ ज्यादा अच्छा होने का भाव प्रसारित करता रहता है। और भाव-प्रमाण ही वह विकास प्राप्त करता रहता है। प्राथमिक अवस्था में जीव एकेन्द्रिय होता है मगर वह विकासवाद के सिद्धांत की तरह, समुद्र की लहरों की तरह गिरते-पड़ते आगे बढ़ता जाता है और इन्द्रियाँ प्राप्त करता रहता है। एक दिन वह मन को प्राप्त करके पंचेन्द्रिय मनुष्य बन जाता है। तब उसके पास उसका अमूल्य धन मन होता है, जिसका सही उपयोग करके वह सिद्धि को प्राप्त करता है और गलत उपयोग अर्थात् दुरूपयोग करके एकेन्द्रिय बनता है अर्थात् पतन को पाता है। जीव मात्र की इस न्यूनतम इंद्रिय अवस्था का वर्णन करते हुए सूत्रकार कहते हैं कि

सूत्र- वायवन्तानामेकम् ॥23॥ (अथवा पाठान्तर) वनस्पत्यन्तानामेकम्
कृमिपिपीलिकाभ्रमरमनुष्यादीनामेकैकवृद्धानि ॥24॥

अर्थ- वायुकाय तक के जीवों के अथवा वनस्पतिकाय तक के
जीवों के एक इंद्रिय होती है ॥23॥
कृमि (लट), पिपीलिका (चींटी), भ्रमर और मनुष्य आदि के क्रमशः
एक-एक इंद्रिय अधिक होती है ॥24॥

विवेचन- सूत्र संख्या 23 के पाठ में कुछ प्रतियों में 'वायवन्तानामेकम्' ऐसा सूत्र पाठ मिलता है तो कुछ में 'वनस्पत्यानामेकम्' यह पाठ मिलता है।

'वायवन्तानामेकम्' सूत्र पाठ मिलने का कारण यह है कि इन्होंने 13 वें और 14 वें सूत्र का पाठ 'पृथिव्यम्बुवनस्पतयः स्थावराः' तथा 'तेजोवायू द्वीन्द्रियादयश्चत्रसाः' यह माना है तब एकेन्द्रिय जीवों को

बताने के लिए 'वायवन्तानामेकम्' यह सूत्र कहा गया है। क्योंकि पृथ्वी, जल, वायु, अग्नि और वनस्पति यह पाँचों एकेन्द्रिय जीव है। जहाँ 'वनस्पत्यन्तानामेकम्' यह सूत्र पाठ है उसका भी भाव तो इन पाँचों स्थावर को एकेन्द्रिय बतलाने का ही है।

इन पाँच ही प्रकार के एकेन्द्रिय जीवों के पास मात्र स्पर्शनेन्द्रिय होती है। जो भी देहधारी जीव है, वे बिना स्पर्शनेन्द्रिय के नहीं हो सकते। पाँचों इंद्रियों में यह मूलभूत इंद्रिय है। इसका विस्तार संपूर्ण देह प्रमाण होता है। यह पृथ्वी आदि जीवों के शरीर रूप ही है। जो विविध प्रकार के पृथ्वीकायिक जीव है, उन सबकी स्पर्शन् इंद्रिय भी विविध प्रकार की होती है जैसे रत्न, सोना-चाँदी अथवा मिट्टी, कंकर, क्षार आदि। अपकाय का पानी रूपी शरीर ही उसकी स्पर्शन् इंद्रिय है। यहाँ स्पर्शन् इंद्रिय तरल रूप में है, अग्नि में लपट रूप है, वायु में पताका रूप है, वनस्पति में विविध रूप में है। बीज से लेकर फल पर्यन्त वनस्पति के विविध रूप स्पर्शनेंद्रिय की ही भिन्न-भिन्न अभिव्यक्तियाँ है।

यह स्पर्शनेंद्रिय समस्त संसारी जीवों में होती ही है। एकेन्द्रिय जीव मात्र इसी एकेन्द्रिय से अपना संपूर्ण जीवन पूरा करते हैं किंतु बेइन्द्रिय जीव अपनी क्षमताओं को कुछ अधिक विकसित कर लेते हैं, वे स्पर्शनेंद्रिय के साथ-साथ रसनाइंद्रिय भी उपलब्ध कर लेते हैं। ऐसे जीवों में कृमि आदि योनि के जीव आते हैं। लट, शंख, जोंक आदि दो इंद्रियों वाले जीव है। चींटी, खटमल, बिच्छु आदि के स्पर्शन, रसना और घ्राण -ये तीन इंद्रियाँ पाई जाती है। भ्रमर (भौंरा), मक्खी, मच्छर आदि के उपरोक्त तीन एवं चक्षु-इस प्रकार चार इंद्रियाँ होती है। मनुष्य के पास पाँचों इंद्रियाँ होती है। मनुष्य, नारक, देव एवं जलचर-स्थलचर-खेचर आदि के पास पाँचों इंद्रियाँ होती है।

इंद्रियों की उत्तरोत्तर वृद्धि जीव के विकास की सूचक है। जीव अपनी भाव की योग्यतानुसार इंद्रिय वृद्धि कर पाता है। प्रत्येक जीव निरंतर भाव प्रसारण तो करता ही रहता है। भावों की क्षमता ही जीव के प्रत्येक परिवर्तन का कारण है। एकेन्द्रिय आदि जीव भी अपने भावों के कारण ही कर्मबंध भी कर पाते हैं और कर्म निर्जरा भी। यद्यपि उन पर अत्यधिक कर्मावरण है किंतु कुछ अंश की योग्यता तो निरावरित रहती ही है। वे भी अपने विकास, विस्तार की संज्ञा वाले होते हैं। वे भी भय-शंका से ग्रस्त होते हैं। उन्हें भी वेदना आदि का संज्ञान होता है। यद्यपि उनमें मन नहीं होता किंतु भाव मन तो सभी जीवों में पाया जाता है। जब वे स्वयं को अन्य जीवों से आशंकित, असुरक्षित महसूस करते हैं तब उनमें भी यह भाव प्रबल होता है कि मैं भी अधिक योग्य, अधिक बड़ा, अधिक विकसित हो जाऊँ तो मुझे इनसे भय नहीं रहेगा। इस प्रकार आत्मरक्षा का प्रबल संस्कार एवं भय संज्ञा उन्हें अपने स्थान से आगे बढ़ाती है और तब जीव क्रमशः इंद्रियों में उत्तरोत्तर वृद्धि प्राप्त करता है।

यहाँ समझने की बात यह है कि एकेन्द्रिय जीवों में भी राग-दोष तो होता ही है मगर उनके विकसित मन नहीं होता, अतः विकास का भाव तो रहता है मगर वे तुलनात्मक विवेचना नहीं कर पाते। अतः उनके भाव प्रसारण मात्र अपने विकास के होते हैं और वो विकास करते भी हैं। चूंकि उनके भावों में दूसरों की बढ़ोतरी पर ईर्ष्या नहीं होती, अतः निर्जरा ज़्यादा होती है और बंधन कम। जैसे -जैसे निर्जरा होती जाती है, वे विकास करते जाते हैं और उत्तरोत्तर इन्द्रियाँ प्राप्त करते जाते हैं।

दूसरी समझने की बात यह है कि निगोद के जीव असीमित कर्मों से आबद्ध होते हैं, अतः उनका दैहिक स्वरूप सूक्ष्म से सूक्ष्मतम होता है। कहते हैं एक सुई की नोंक में अनंत जीव आ जाते हैं। यह सब कर्मों के आवरण के दाब से होता है। इसे ऐसे समझो कि इस विशालकाय पृथ्वी को अगर एक सरीखा दबाया जाए तो विज्ञान के अनुसार यह एक माचिस की डिब्बी में समा सकती है। इसी प्रकार भाव कर्मों के आवरण के दाब से यह जीव इतने

सूक्ष्म बने रहते हैं कि नंगी आँखों से अथवा वैज्ञानिक उपकरणों से भी नहीं देखे जा सकते। शनैः -शनैः ये जीव निर्जरा को प्राप्त होते जाते हैं, और इनका चौरासी लक्ष्य (target) सापेक्षित विकास होता जाता है। इसे मोटे तौर पर डार्विन के विकासवाद के सिद्धांत theory of evolution से समझ सकते हैं। मगर अध्यात्म इनसे बहुत ही गहन-गंभीर है, अतः इस विषय को जानने के लिए हमें समकित आध्यात्मिक शोध-दृष्टि की आवश्यकता रहती है।

तीसरी उल्लेखनीय बात यह है कि जीव निगोद से लगाकर मनुष्य योनि तक जन्म -जन्मान्तर में दैहिक विकास तो पाता है। मगर आत्म-रूप से उसकी शक्ति एकेन्द्रिय रूप में अथवा पंचेन्द्रिय रूप में समान ही होती है। जिसे विज्ञान 'विकास' कहता है, वह प्रकट रूप से चैतसिक विकास (pshycic development) ही है। आत्मशक्ति जो भावों द्वारा प्रसारित होती है, वह तो हर जीव की हर अवस्था में अपने आप में पूर्ण ही है। अब यह अलग बात है कि आत्मा जितनी -जितनी कर्मों के प्रभाव से आवरित है, उसकी आत्म-शक्ति उतनी-उतनी सुप्त है। इसीलिए एकेन्द्रिय से पाँच इन्द्रिय तक विकास करने का यह अर्थ नहीं लगाना चाहिए कि जीव की आत्मशक्ति कुछ बढ़ी हो बल्कि मनुष्य बनने तक उसकी यह पुरूषैण शक्ति पाँच भागों अथवा पाँच शाखाओं में बँट जाती है। हम कह सकते हैं कि मनुष्य के पास पाँच शक्तियाँ है मगर उसकी कोई एन्द्रिक शक्ति न्यूनेन्द्रिक जीव की एन्द्रिक क्षमता का मुकाबला नहीं कर सकती। उदाहरण के लिए एक पेड़ के magnetic field (आभा-वलय या लेश्याचक्र) में प्रवेश करते ही पेड़ आगन्तुक जीव की प्रकृति (inner nature) को पहचान जाता है। मनुष्य ऐसा नहीं पहचान पाता। आध्यात्मिक योगियों की बात अलग है। इसी प्रकार चींटी की घ्राण-शक्ति आदमी से कहीं ज्यादा बेहतर होती है। प्रकृति ऐसे हज़ारों उदाहरणों से भरी पड़ी है, जिन्हें आप स्वयं समझ सकते हैं।

जैसे -जैसे इंद्रिय क्षमता बढ़ती है, जीव के भीतर आत्मगुणों की भी संभावनाएँ प्रकट होती है। मनुष्य के पास पाँचों इंद्रियाँ होने से उसमें आत्म विकास की, आत्मगुणों के प्रगटीकरण की भी संभावनाएँ मौजूद रहती है। किसी विषय को अनेकान्त दृष्टिकोण से समझने-समझाने की स्थिति बनती रहती है। वह स्वयं को व्यक्त कर पाता है, स्वयं को समझ सकता है किंतु ये सब भी कब संभव हो पाता है-इसका वर्णन आगे के सूत्र में वाचक उमास्वाति करते हैं।

सूत्र-25

संज्ञी कौन ?

निगोद अर्थात् चेतना की निम्नतम अवस्था से मनुष्य तक के उत्क्रांति के विषय को हमने इन्द्रिय विकास के माध्यम से समझा। उससे इस बात का समाधान तो होता है कि जीव कैसे-कैसे विकट परिस्थितियों में विकास की भावना करता रहा और विकास को प्राप्त होता रहा। मगर यह प्रश्न बना ही रहता है कि आखिर जीव क्या चाहता है ? हमें लगता है कि इसी गुत्थी को सुलझाने के लिए अगले सूत्र में महर्षि उमास्वाति अथवा उमास्वामि जो भी कहो, मन और संज्ञा की बात कर रहे हैं। उल्लेखनीय बात यह है कि निगोद से लगाकर चार इंद्रियों तक का प्राणी उत्तरोत्तर विकास ज़रूर करता है मगर यह विकास जीव का परम इष्ट नहीं होता, मंज़िल नहीं होती। उससे भी महत्वपूर्ण बात यह है कि हर जीव का एक परम इष्ट तो ज़रूर होता है मगर चार इन्द्रिय तक के प्राणी को इसकी समझ नहीं होती। जैसे कोई विद्यार्थी कहे कि मैं भविष्य में कुछ बनना चाहता हूँ, कुछ होना चाहता हूँ, मगर 'क्या होना चाहता हूँ ?' इसके बारे में मुझे कुछ पता नहीं है, स्पष्ट नहीं है। अप्रत्यक्ष रूप में उमास्वाति समझाते हैं कि हर जीव का परम इष्ट उस अवस्था को प्राप्त होना है जो कि उसकी अपनी स्वाभाविक अवस्था है, जहाँ कोई अशांति नहीं। आहर्त/जैन दर्शन उस अवस्था को 'मोक्ष' कहता है। इसके साथ जैन दर्शन यह भी कहता है कि उस अवस्था को जानते हुए ही प्राप्त किया जा सकता है, अज्ञान और प्रमाद में विकास का कितना ही पराक्रम क्यों न किया जाय, बंधनों से आबद्ध जीव मुक्त नहीं हो सकता। हम मुक्त तभी हो सकते हैं, जब हम बंधनों के ज्ञान को समझते हैं। सूयगडांग सूत्र अपनी पहली ही गाथा में यह बात स्पष्ट करता है कि-'हे मनुष्य ! तू क्यों नहीं बूझता ?' ज्यों ही हम जानेंगे, कर्म टूट जाएँगे अर्थात् कर्मों को तोड़कर या कर्मों को हटाकर निर्वाण अवस्था की असीम शांति को प्राप्त करना, मात्र काय योग से संभव नहीं है। मात्र कर्म-काण्ड से, रूढ़िगत पारंपरिक कठिन तपश्चर्या अथवा झूठी-सच्ची धारित मान्यताओं के आधार पर किए गए कार्यों से संभव नहीं है। बंधन तो ज्ञान से ही टूटते हैं।

'बुज्झिज्ज त्ति तिउट्टिज्जा बंधणं परिजाणिया।'

प्रश्न है कि इस विचित्र संसार की अनंत शाखाओं में उलझी हुई परिस्थितियों में फँसा जीव ज्ञान कैसे प्राप्त कर सकता है ? तो यह अग्रिम सूत्र ईशारा करता है कि चार इंद्रिय तक जीव में वैसी समझ नहीं होती। अतः वह क्रमिक विकास तो ज़रूर करता है मगर मुक्त होने की, परम इष्ट को उपलब्ध होने की कोई संभावना नहीं होती। कारण है कि चार इंद्रिय तक के जीव के पास विकसित द्रव्य-मन होता ही नहीं। अतः उसमें सोचने-समझने की शक्ति होती ही नहीं। अपने जीवन के परम इष्ट, अंतिम मंज़िल को प्राप्त करने के लिए जीव को हर परिस्थिति को समझ कर जीतना होगा और यह मन के द्वारा ही संभव है। तथ्य यह है कि पाँचवीं श्रोतेन्द्रिय को प्राप्त करते ही जीव में मन का विकास होना शुरू हो जाता है। मनुष्य बनते-बनते वह एक परिपूर्ण मन का स्वामी बन जाता है। वह

संसार को, उसकी विचित्रताओं को, अपनी दैहिक आवश्यकताओं को, अपनी प्राकृत, आकृत एवं जागृत आज्ञा को समझ सकता है, उस ज्ञान को चरितार्थ कर सकता है और बंधनों को तोड़ सकता है। यह समझना आर्हत् दर्शन/जैन दर्शन में मान्य नहीं है कि अकारण ही मात्र भगवत् कृपा किसी जीव को मुक्त कर सकती है या परम उपलब्धि दे सकती है। हकीकत यह है कि ज्योत ही ज्योत को बढ़ाती है और ज्ञान ही ज्ञान को उजवाता है। वही परम इष्ट का साधन है। इसीलिए सूत्र कहता है कि मन को नियन्त्रित करके मनुष्य आत्मा से परमात्मा बन सकता है। सूत्र है कि-

सूत्र- संज्ञिनः समनस्काः ॥25॥

अर्थ- जो जीव मन सहित होते हैं, वे संज्ञी जीव कहलाते हैं ॥25॥

विवेचन- संज्ञी शब्द का साधारण भाषा में प्रचलित अर्थ है-चेतनायुक्त होना, मगर जैन धर्म की पारिभाषिक शब्दावली में संज्ञा शब्द विशेष प्रयोजन रखता है। उत्तरोत्तर विकास करने के दृष्टिकोण से जीव में कुछ अच्छा होने के भाव रहते ही हैं। मगर जानने-समझने की क्षमता, व्यक्त करने, निर्णय लेने आदि की क्षमता नहीं होती। चार इंद्रिय तक का जीव कुछ ऐसे ही विकास करता है जैसे किसी बच्चे को पढ़ाया-लिखाया नहीं भी जाए तब भी वह प्राकृत रूप से सहज विकास करता हुआ, जवान होगा ही। मगर मनुष्य बनने के बाद मनधारी जीव की स्थिति कुछ अलग ही होती है। जहाँ साधारण जीव की संज्ञा सुप्त प्रायः होती है, तो समनस्क जीव की जाग्रत। अब उसे सोच-समझ कर अपना निर्णय स्वयं लेते हुए अपना विकास करना होता है। ऐसी स्थिति में वह अपनी इच्छाओं की परितुष्टि के लिए कुछ-न-कुछ पराक्रम करता ही है। धीरे-धीरे ऐसे पराक्रम उसकी भावनाओं में गहरी पैठ कर देते हैं और जागृत व सुप्त चेतना में सहज प्रवर्तमान हो जाते हैं। मनस्क जीव को जानने-समझने, परस्पर व्यवहार करने अथवा अपनी भावनाओं को अभिव्यक्त करने आदि के इस व्यक्तिगत प्रवर्तमान प्रकार को 'संज्ञा' कहा गया है।

साधारण शब्दों में 'संज्ञा' एक ऐसी विधा है जो देहधारी जीव की चेतना होते हुए भी एक प्राकृत और रूढ़ शैली-सी बन जाती है। समण साहित्य में संज्ञी व असंज्ञी जीव के ऐसे दो भेद उल्लिखित है। जो पंचेन्द्रिय मन सहित प्राणी हैं, वे संज्ञी कहलाते हैं तथा एकेन्द्रिय से लेकर बिना मन वाले पंचेन्द्रिय तक के सभी प्राणी असंज्ञी कहलाते हैं। मन होना संज्ञी होना है।

चारों गति में संज्ञी अर्थात् मनयुक्त जीव होते हैं और चारों ही गति में असंज्ञी यानि मन लब्धि से च्युत जीव भी होते हैं। एकेन्द्रिय से चतुरिन्द्रिय तक के समस्त तिर्यंच गति वाले जीव तो असंज्ञी ही होते हैं। पंचेन्द्रिय में संज्ञी व असंज्ञी दोनों प्रकार के जीव होते हैं।

जीव की संपूर्ण संसार यात्रा में संज्ञी पंचेन्द्रिय होना और उसमें भी मनुष्य होना सर्वोत्कृष्ट उपलब्धि है। मनुष्य को मुक्ति हित जिन साधनों की आवश्यकता है, उनमें प्रथम साधन तो संज्ञी पंचेन्द्रिय व स्वस्थ इंद्रिय क्षमता वाला होना ही है। उसके बाद सम्यग्दृष्टि होना, संयमी होना और अप्रमत्त-जागृत यत्नावान होना है।

सूत्र-26

विग्रह गति

जिन जीवों में संज्ञा सज्ञान होती है, वे संज्ञी जीव कहलाते हैं। चेतना के अर्थ में संज्ञा तो हर जीव में होती है, मगर अपनी ही संज्ञा के अवलोकन की क्षमता मात्र पंचेन्द्रिय जीव में होती है क्योंकि वे समनस्क होते हैं। द्रव्य-मन में स्थित असंख्य चित्तों से पंचेन्द्रिय जीव में सोचने की, गणित करने की, तुलना करने की, सूचनाओं को ग्रहण करने की, भण्डारण करने की, एक से दूसरे डिपार्टमेण्ट में लेन-देन करने की, सूचनाओं के सम्मिश्रण से कुछ नया फल निकालने की और नया निर्णय लेने की क्षमता होती है। इसी से जीव अब उत्कृष्ट रूप से भाव कर सकता है। जीव के यह भाव ही कर्म होते हैं। जब जीव सहज गति में होता है तो वह कार्य मुक्त होता है। मगर विग्रह गति में वह अपने भावों के द्वारा संसार के पुद्गल-परमाणुओं से योग करता है, उन परमाणुओं को आंदोलित करता है, उत्तेजित करता है, आकारित करता है, तरंगित करता है जिससे उसके लिए नई सृष्टि रचती जाती है, इसलिए इस क्रिया को 'कर्म योग' कहा है। सूत्र दिया गया है कि

सूत्र- विग्रहगतौ कर्मयोगः ॥26॥

अर्थ- विग्रह गति कर्मयोग है ॥26॥

विवेचन- साधारणतः इस सूत्र का यही अर्थ लगाया जाता है कि देह को छोड़ने के बाद जब जीव इस सृष्टि में गतिमान रहता है तो वह अन्य-अन्य पुद्गलों से योग करता है और अपने भाव कर्म प्रमाण से नए शरीर को प्राप्त करता है, उसे कर्म योग कहा गया है, जो एक दृष्टि से ठीक है। यह भी ठीक है कि जब कोई जीव इस शरीर को छोड़ता है तो उसका स्थूल शरीर यहीं धरा रह जाता है। वह सूक्ष्म शरीर के द्वारा इस सृष्टि में भ्रमण करता हुआ किसी न किसी नई योनि के पुद्गलों को अपने आयुष्य कर्म और लेश्या चक्र के अनुसार ग्रहण कर लेता है। अतः जीव की वह गति भी व्याकरण सम्मत जीव की विग्रह गति ही होती है। इस समय सूक्ष्म शरीर के रूप में उसके पास कार्मण आदि शरीर तो होते ही है। कार्मण अर्थात् कर्म शरीर। यह कर्म शरीर अपने बलाबल और भवितव्यता के अनुसार फिर और कर्म-परमाणुओं को ग्रहण करता है। इस प्रकार जीव नई देह को प्राप्त कर लेता है। अतः यह भी कर्म योग ही हुआ।

सूत्र की गंभीरता पर चिंतन करें तो इसमें कई और आध्यात्मिक अर्थ छुपे हुए हैं-ऐसा आभास होता है, जिसका सार-संक्षेप हम यहाँ बताने का प्रयत्न करेंगे।

'संज्ञा' शब्द से हमें यह समझ में आता है कि जीव में चेतना गुण है ही। मगर चेतना का जागृति रूप संपूर्ण विकास मन के माध्यम से होता है। इस मन के अंदर अनेक चित्त होते हैं जिसमें देह की संपूर्ण योग्यताएँ और असीम

जानकारियाँ छुपी रहती है। इस मन की गति यदि सम्यक् होती है तो नए कर्मों का आदान नहीं होता। पुराने कर्म निर्जरित होते जाते हैं और अन्तःतोगत्वा जीव मुक्ति को प्राप्त हो जाता है। इस समय भी आत्मा की समस्त योग्यताएँ-केवल ज्ञान, अभंग दर्शन, अनंत वीर्य और अव्याबाध सुख तो विद्यमान रहते ही हैं मगर क्षायिक समकित होने के कारण उसमें अहम् भाव नहीं रहता।ऐसी स्थिति में जीव कुछ करता-धरता नहीं फिर भी उसे सृष्टि का भान होता है।ऐसी आत्मा को हम दर्पण की उपमा देते हैं जिसमें सारा दृश्य दिखता है अर्थात् अभंग दर्शन होता है।जीव यह पूर्ण रूप से जानता है कि क्या-क्या कलाबाजियाँ और करतब हो रहे हैं।अतः केवल ज्ञान भी होता है। प्रतिपल हो रहे समस्त क्रिया-कलापों की शक्ति वह दर्पण अपने में महसूस करता है जो हर पल नई और अंतहीन है,अतः अनंत वीर्य भी होता है।मगर इतना सब होते हुए भी वह आत्मा किंचित भी दुःखी नहीं होती और न ही सुख में बाधा ही पहुँचती है।अतः उसे अव्याबाध सुख कहा है।

इसके विपरीत जब जीव में मोह होता है तो उसमें परिग्रह का भाव उत्पन्न हो जाता है।'मैं अधिकारी बना रहूँ,''दूसरे मेरे मातहत होवे,मेरी आज्ञा में होवे''ज्यादा से ज्यादा सुख-वैभव मुझे प्राप्त हो' आदि कई-कई आरंभ प्रारंभ हो जाते हैं।इससे ही संसार की सृष्टि होती है।इस प्रकार के भावों के वशीभूत जीव कुछ -न -कुछ ग्रहण करता ही रहता है।उसे कर्मयोग कहा गया है।

यहाँ समझने की बात यह है कि साधारण जीव जो मनस्क नहीं है, वे अपने भावों से कर्मयोग तो प्राप्त करते हैं, और उत्तरोत्तर विकास भी करते हैं मगर उन्हें अपनी चेतना का अनुज्ञान नहीं होता। इसलिए उस सुक् चेतना को जो यंत्रवत् काम करती है, जैन दर्शन में संज्ञा कहा गया है और सर्वथा जागृत चेतना को 'जागृत चेतना, सम्यक् दृष्टि' कहा गया है।

प्रसंगवश हम यहाँ लिखना चाहेंगे कि जैन दर्शन में चार संज्ञाएँ बताई गई है-आहार संज्ञा, भय संज्ञा, मैथुन संज्ञा, परिग्रह संज्ञा। ये चेतना के वे यंत्रवत् प्रकार हैं जिस पर प्रमादी जीव का वश नहीं चलता। वश तो साधारणतया मन पर भी नहीं चलता मगर अध्यात्म कहता है कि जागृति से मन पर अधिकार किया जा सकता है। तब ये सारी सुप्त संज्ञाएँ जागृत-चेतना बन जाती है।विग्रह गति समाप्त हो जाती है और जीवन स्वभाव गति में आ जाता है।

प्रज्ञापना सूत्र के संज्ञा पद में संज्ञा को दस इकाईयों में भी बाँटा गया है-

1. आहार संज्ञा 2. भय संज्ञा 3. मैथुन संज्ञा 4. परिग्रह संज्ञा 5. क्रोध संज्ञा
6. मान संज्ञा 7. माया संज्ञा 8. लोभ संज्ञा 9. ओघ संज्ञा 10. लोक संज्ञा।

हम समझते हैं कि देश-काल-पात्र-भाव के अनुसार ये व्याख्या करने के अलग-अलग तरीके रहे हैं, जिसमें संज्ञा और कषाय (तनावों) को एक क्रम में बताया गया है। ठीक वैसे ही जैसे स्त्री और पुरूष दोनों को मनुष्य ही कहते हैं।तथ्य यह है कि दोनों एक दूसरे के पूरक और प्रेरक है।एक अन्य अपेक्षा से संज्ञा पाँच भी होती है-आहार संज्ञा, भय संज्ञा, मैथुन संज्ञा, अतिक (लोक संज्ञा) और परिग्रह संज्ञा। और कषाय भी पाँच होते हैं, क्रोध, मान, माया, निरन्तरता (ओघ)और लोभ।

संज्ञा साधारणतया हर जीव में होती है मगर कषाय विकसित मन से ही उत्पन्न होता है।आज की भाषा में इसे (tension) अथवा तनाव कहते हैं।यह मन से ही उत्पन्न होता है, उसके बाद वचन व तन द्वारा प्रगट होता है। मन में जो दबाव (Pressure), पैदा होता है वह अपनी निकासी का द्वार ढूँढता है और फिर यह क्रम सतत् व आदतन चालू ही रहता है। हम लगातार pressure and release की प्रक्रिया से गुज़रते जाते हैं। यही कषाय व संज्ञा का

दुष्चक्र हमारे भीतर का संसार है। जो भीतर सूक्ष्म रूप में चलता जाता है, बाहर स्थूल रूप में यही समस्त सृष्टि में मौजूद सारे चक्रीय परिवर्तनों का कारण है, जिसे आधुनिक भाषा में Big Bang Theory कहा जाता है। संकोचन-प्रसारण, दाब-उछाल का क्रम ही भीतर-बाहर के विश्व संचालन का कारण है। इससे मुक्त होने का तरीका भी मन को शांत करने से ही संभव है। जो कि संज्ञी (समनस्क) जीव से ही संभव है इसलिए नंदी सूत्र में संज्ञी की परिभाषा देते हुए स्पष्ट किया गया है कि

जस्स णं अत्थि ईहा, अवोहो, मग्गणा, गवेसणा, चिंता, वीमंसा से णं सण्णीति भवइ।
जस्स णं नत्थि ईहा, अवोहो, मग्गणा, गवेसणा, चिंता, वीमंसा से णं असण्णीति भवइ॥

अर्थात् जिसमें ईहा, अपोह, मार्गणा, गवेषणा, चिंता और विमर्श करने की योग्यता हो, उसे संज्ञी कहते हैं। जिसमें ईहा, अपोह, मार्गणा, गवेषणा, चिंता और विमर्श करने की योग्यता न हो, उसे असंज्ञी कहते हैं।

ईहा अर्थात् जानने की इच्छा, अपोह यानि तर्क-वितर्क, मार्गणा, गवेषणा यानि कि खोजबीन करने की वृत्ति, चिंता-विमर्श अर्थात् तत्त्व विचारणा एवं चिंतन करने की योग्यता जिसमें है वह 'संज्ञी' कहलाता है और ऐसा संज्ञावान जीव 'समनस्क' कहलाता है।

द्रव्यमन का निर्धारण अथवा द्रव्यमन की प्राप्ति तो मनःपर्याप्ति नाम कर्म के कारण होती है किंतु उसमें विचारने की क्षमता, मनन कार्य संज्ञान से होता है। वैचारिक पक्ष की अपेक्षा से ही संज्ञी को समनस्क अथवा मन वाला कहा है।

ऐसे समनस्क जीव चारों गति के पंचेन्द्रिय जीव होते हैं। देव व नारक समनस्क है किंतु मनुष्यों एवं तिर्यंचों में जो जीव गर्भज है, वे ही समनस्क है। जो जीव सम्मूर्च्छिम है, वे मन रहित है। संज्ञान क्षमता भी सभी जीवों की भिन्न-भिन्न होती है। मनुष्य के पास सर्वाधिक विकसित संज्ञान क्षमता होती है। यही कारण है कि वह जन्मांतरों का बोध भी पा लेता है। मनुष्य यदि इन संज्ञाओं का रूपांतरण कर ले तो आत्मगुणों को भी पूर्ण रूप से प्रगट कर सकता है।

यहाँ सूत्रकार का स्पष्ट आशय है कि जो समनस्क अथवा संज्ञी जीव है, उन के पास उत्कृष्ट कर्मयोग की क्षमता होती है मगर उनकी सोच सकारात्मक है तो वे पुण्य कर्मों से योग करते हैं और नकारात्मक है तो वे पाप कर्मों का उपार्जन करके पुनः अधोगामी बन जाते हैं। कर्मयोग अपने आप में मन की विग्रह गति ही है। विग्रह गति इसलिए कि वह टूटी-फूटी बिखरी-बिखरी (fragmented) कई-कई शाखाओं में विभक्त होती है। अगर सकारात्मक रूप से यह एकीकृत प्रवाह बन जावे तो वह जागृत एकमुश्त ओघ प्रवाह बन जाता है। चूंकि जीव कर्म का योग कर सकता है तो कर्म का वियोग भी कर सकता है जिसे 'निर्जरा' कहा गया है। निर्जरा की चरम स्थिति को 'मोक्ष' व 'निर्वाण' कहा गया है। मगर साधारणतया जीव कुछ अच्छा होने के लिए दौड़-भाग करता रहता है, उसमें निरंतरता बनी रहती है, उसे 'अतीक संज्ञा' या 'लोक संज्ञा' कहा गया है। आदमी को करने के लिए कुछ-न-कुछ चाहिए। कुछ नहीं तो वह टाँग ही हिलाएगा। यह अनावश्यक कार्य करना, अतिक संज्ञा है। आदतन यांत्रिक व्यवहार व प्रतिक्रियाएँ 'ओघ संज्ञा' कहलाती है। जैसे पिन चुभते ही चीख निकलना, मच्छर काटते ही हाथ का उसे हटाने के लिए जाना इत्यादि। ये ओघ संज्ञा प्रायः सभी समनस्क जीवों में होती ही है। दूसरे लोगों की राय से प्रभावित होना, देखा-देखी करना, समूह बनाकर रहना लोक संज्ञा के अंतर्गत आता है। ये संज्ञाएँ

पौद्गलिक संयोगजन्य पैदा हुई मानसिक वृत्तियाँ है। अज्ञानी इन्हीं संज्ञाओं से प्रभावित ज़िंदगी जीता है जबकि ज्ञानी अपनी संज्ञाओं को रूपांतरित (transform) करके अप्रमत्त जीता है। यही कारण है कि ज्ञानी मुक्त होता है। अज्ञानी पुनः-पुनः संज्ञा चक्र में चक्रायित होता रहता है।

समण सूत्रों में पंचेन्द्रिय जीवों को भी पुनः तीन श्रेणियों में समझाया गया है-पंचेन्द्रिय गर्भज जीव, देवता और नारकी। इसमें देवता और नरक योनि के जीव को भोग भूमिज जीव कहा गया है। यह एक मानसिक अवस्था होती है जिसमें जीव अपने मन से संग्रहित की गई समस्त कुण्ठाओं को भोग-भोगकर स्यात् विसर्जित ही करता है। मगर मनुष्य और दूसरे पंचेन्द्रिय जीव जिनके पास स्थूल शरीर यानि औदारिक काया और मन होता है, वे अपने भावों से और शरीर के कार्यों से नए कर्म करते रहते हैं। यह विग्रह गति होती है। जो जीव समकित वीतराग हो जावे, वह भी दैनिक कार्य तो निपटाता है मगर करने के भाव से कुछ नहीं करता और जो भी करता है, वह सर्वथा एकमुश्त जागृत प्राण-प्रवाह में करता है, अतः उसे कर्म बंध नहीं होते। अतः वह अविग्रह गति जीव होता है। यह जीव कर्म योग से मुक्त हो सकता है और अपने आत्म-स्वरूप को, अपनी ईश्वरीय योग्यता को उपलब्ध हो जाता है। अर्हत्-सिद्ध परम-आत्मा हो जाता है।

सूत्र-27-28

अनुश्रेणि गति

पिछले प्रकरण में हमने विग्रह गति के बारे में अध्ययन किया। गति शब्द का अर्थ होता है- एक स्थान से दूसरे स्थान तक आना-जाना, सरकना। आर्हत् दर्शन में एक योनि से दूसरी योनि को प्राप्त करने के संदर्भ में 'गति' शब्द का प्रयोग हुआ है। चार गतियाँ बताई गई है-देवगति, मनुष्य गति, तिर्यंच गति, नरक गति। इसमें तिर्यंच गति और मनुष्य गति में जीव भाव क्रिया से हर क्षण अपने व्यक्तित्व को एक स्थान से दूसरे स्थान में स्थापित करता रहता है अर्थात् वह हर क्षण नए पुद्गल पदार्थों को उपलब्ध होता रहता है। अतः उसे विग्रह गति कहा गया है। वह हर क्षण कर्म बंधन करता रहता है, अतः वह हर क्षण अपनी पुरानी अवस्था से नई अवस्था को प्राप्त होता रहता है। आचारांग सूत्र में इसके लिए 'परियट्टण' शब्द प्रयुक्त हुआ है। हम पिछले प्रकरण में स्पष्ट कर चुके हैं कि जब जीव अपने शरीर को छोड़कर दूसरे शरीर में प्रवेश करने के लिए सृष्टि में संचरण करता है, तब भी वह रास्ते में चलते हुए बहुत से परमाणुओं को ग्रहण करता है जिसे आर्हत दर्शन में 'पर्याप्ति' कहा गया है। आजकल प्रचलित अर्थ में देह छोड़े हुए जीव के नई देह तक पहुँचने से पहले ग्रहण किए जा रहे कर्म परमाणुओं को विग्रह गति बताया जाता है, जो स्यात् सत्य है मगर एकायामी अर्थ है, विराट अर्थ नहीं है। मगर हर हाल में नए कर्म परमाणुओं से संबंध स्थापित करने के प्रयास को विग्रह गति ही कहा गया है। अगले सूत्र में शास्त्रकार अनुश्रेणी गति की बात करते हैं।

अनुश्रेणी का अर्थ होता है -लीक। मगर यहाँ सूत्रकार का अर्थ मात्र लीक से नहीं है, जहाँ सब कुछ यथावत् होता हो, कुछ नया प्रपंच नहीं होता हो, नई क्रान्ति नहीं होती हो, उसे अनुश्रेणी कहा गया है। जैसे देवता और नारकी कुछ नया प्रतिबंध नहीं करते। मात्र पुराने कर्मों को भोग कर विसर्जित करते हैं। यह कार्य चूंकि प्रकृति के क्रमबद्ध पर्याय से होता है, सब कुछ विज्ञान के platform पर होता है, अतः यह अनुश्रेणी गति कहा गया है। अनुश्रेणी अर्थात according to the norms.

हमें यहाँ समझ लेना चाहिए कि इस परिवर्तनशील जगत में समस्त परिवर्तनों का कारण है-गति। अगर गति है तो परिवर्तन निश्चित है। हाँ ! कर्म जुड़ाव (कर्मयोग) कर्म भूमिज या भव स्थानांतर में रास्ते चलते होता है। और कर्म विलगाव (निर्जरा) ध्यान, तपस्या, मनुष्य योनि या स्यात् तिर्यंच योनि में होता है । जैन दार्शनिक -शब्दावली में कर्म योग गीता के कर्म योग का अर्थ नहीं बताता। गीता का कर्म योग कर्त्तव्य पालन है जबकि समण दर्शन का कर्मयोग नया पौद्गलिक बंधन। गति को भगवान वर्द्धमान ने धर्मास्तिकाय कहा है, धर्मास्तिकाय का लक्षण कहा है और इसे समस्त लोक व्यापक माना है। अतः गति से परे कोई तत्त्व नहीं है। अब यह गति दो तरह की है। एक है जीव की गति व दूसरी है अजीव-पुद्गल की गति। जीव की गति स्वप्रेरक है, स्वैच्छिक है, स्वतंत्र है किंतु पुद्गल की गति जीव के भावों के अनुसार होती है। पुद्गल जड़ द्रव्य होने के कारण स्वतंत्र गतिशील द्रव्य नहीं है। वह सदा भावों के क्रम के अनुसार चलता है।

अब जीव की गति भी पुनः दो प्रकार की है। एक देह मुक्त जीव की गति व दूसरी देहयुक्त जीव की गति।

देहयुक्त जीव की गति सदा कर्मवश या कर्मप्रेरित होगी, यह चर्चा हम पिछले सूत्र में कर चुके हैं। किंतु देहमुक्त (अविग्रह) जीव की गति कैसी होती है, इसका वर्णन वाचक उमास्वाति जी निम्न दो सूत्रों में करते हैं-

सूत्र- अनुश्रेणि गतिः ॥27॥
अविग्रहा जीवस्य ॥28॥

अर्थ- अविग्रही जीव की गति अनुश्रेणी में होती है ॥27-28॥

विवेचन- उपरोक्त दो सूत्रों में मुक्त होने वाले जीव की गति को वर्णित किया गया है। ये दोनों सूत्र परस्पर संबंधित है। सूत्र 27 में बताया गया है कि गति अनुश्रेणी होती है अर्थात् सदा क्रमबद्ध होती है, आत्म प्रेरित होती है, रेखा में होती है। श्रेणी शब्द का अर्थ पंक्ति भी होता है। सूत्र 28 में बताया है कि जो जीव मुक्त हो रहे होते हैं, वे अपनी देह को छोड़ते हुए सदा अविग्रह अनुश्रेणी गति ही करते हैं। वे आत्म-दिशा में गति करते हैं। उन्हें कभी संसार दिशा में मुड़ना नहीं पड़ता।

इस तथ्य को हमें और ज्यादा ध्यान से समझना चाहिए। पहली बात तो यह है कि गति से तात्पर्य है चेतना की पहचान क्योंकि अगर गति नहीं तो चेतन और जड़ में कोई फर्क नहीं। गति वही कर सकता है, जो चेतन हो। हाँ, यह दूसरी बात है कि जड़ अथवा अचेतन को चेतन तत्त्व अपने आत्म वीर्य अर्थात् गति के माध्यम से गतिमान कर दे। मगर मूलगति (mother institute) चेतन तत्त्व की ही योग्यता है। यही कारण है कि जैन दर्शन गति प्रेरक तत्त्व को धर्म कहता आया है और गति में बाधक तत्त्व को अधर्मास्तिकाय।

अब सृष्टि अनेकांत है, अतः अलग-अलग विषय व संदर्भो में अलग-अलग श्रेणियों (branches) में अलग -अलग विषयों की व्याख्याएँ होती रहना स्वाभाविक है।

शास्त्रकारों का मानना है कि अंतराल गति (वाटे बहता जीव की गति) दो प्रकार की होती है-एक ऋजु व दूसरी वक्र। ऋजु गति यानि कि अनुश्रेणी गति से स्थानान्तर जाते हुए जीव को नया प्रयत्न नहीं करना पड़ता, क्योंकि जब वह पूर्व शरीर छोड़ता है तब उसे पूर्वशरीरजन्य वेग मिलता है। इस तरह वह दूसरे प्रयत्न के बिना ही धनुष से छूटे हुए बाण की तरह अथवा बंदूक से दागी गई गोली की तरह सीधे नए स्थान को पहुँच जाता है। दूसरी गति वक्र अर्थात् घुमावदार होती है, इसलिए जाते समय जीव को नए प्रयत्न की अपेक्षा होती है, क्योंकि पूर्व शरीरजन्य प्रयत्न वहीं तक काम करता है, जहाँ से जीव को घूमना पड़ता है। घूमने का स्थान आते ही पूर्वदेहजनित वेग कम पड़ जाता है, अतः वहाँ से कार्मण काययोग एवं तेजस् शरीर जो कि सूक्ष्मरूप में जीव के साथ में उस समय भी रहते हैं, उनके प्रयत्न से जीव गति करता हुआ अपने नए उत्पत्ति स्थान तक जाता है। इसी आशय से पिछले सूत्र में विग्रहगति में कार्मणकाययोग के होने की बात की गई थी। वक्र गति से जाने वाले जीव को कार्मणकाययोग की आवश्यकता होती है। किंतु जो जीव ऋजुगति से देहांतर स्थान को प्राप्त करता है, उसे पूर्वशरीरजन्यवेग (कर्मयोग) की पर्याप्त मात्रा होती है। प्रस्तुत दो सूत्रों में मुक्त होने वाले जीव की अनुश्रेणी गति को वर्णित किया गया है।

अनुश्रेणि गतिः
अविग्रहा जीवस्य

अनुश्रेणी गति अथवा सीधी ऋजु गति का आशय यह है कि पहले जिस आकाश क्षेत्र में जीव या परमाणु स्थित हो, वहाँ से गति करते हुए वे उसी आकाश क्षेत्र की सरल रेखा में ऊँचे, नीचे या तिरछे चाहे जहाँ चले जाते हैं। श्रेणी अर्थात् पूर्वस्थानप्रमाण आकाश की अन्यूनाधिक सरल रेखा जिससे पूर्वस्थान से नए स्थान तक जाने में सरल रेखा का भंग न हो अर्थात् एक भी घुमाव न हो, वह ऋजु गति है। मुक्तमान आत्मा को चूँकि कहीं भी नया उत्पत्ति स्थान नहीं खोजना है, अतः उसे वक्र गति करने का कोई कारण नहीं होता। वह जहाँ है, वहीं से सीधा उर्ध्वगमन को उपलब्ध हो जाता है। देहमुक्त होने के कारण एवं सर्वथा कर्मयोग से मुक्त होने के कारण उन जीवात्माओं को किसी प्रकार के विग्रह की अब ज़रूरत नहीं रहती। विग्रहगति की ज़रूरत नहीं बचती, इस प्रकार वे 'अविग्रहा जीवस्य' होते हैं किंतु संसारी जीवों की गति अविग्रह एवं सविग्रह दोनों प्रकार की होती है। वे ऋजुगति एवं वक्रगति दोनों प्रकार से गति करते हुए अपने नए उत्पत्ति स्थान तक जा सकते हैं क्योंकि नए उत्पत्ति स्थान को प्राप्त करने के लिए उन्हें संभावनाओं की खोज करनी पड़ती है, इसलिए वे विचित्र गति वाले हो सकते हैं। इस प्रकार से विचित्रताओं को ग्रहण किए हुए जो गति होती है, उसे विग्रह गति कहते हैं और जो गति विचित्रताओं से मुक्त हो, सीधी सरल हो उसे अविग्रह गति समझना।

सूत्र-29

मृत्यु पश्चात् जन्म में अंतराल कितना ?

पिछले सूत्रों में हमने ऋजु गति व वक्रगति को जाना। समस्त संसारी जीव कर्मवशात् निरंतर जन्म-मरण करते रहते हैं। एक देह को छोड़कर नवीन देह धारण करते रहते हैं। अतः उन्हें संसार में इन दोनों प्रकार से गति करनी पड़ती है। मुक्त जीव सीधी सरल रेखा में गति करता हुआ लोकाग्र पर विराजमान हो जाता है, उसे अन्य किसी स्थान की कोई तलाश नहीं रहती, अतः वह मात्र अनुश्रेणि गति ही करता है। यह गति उनके पूर्वशरीरजनित वेग के कारण होती है। जिस प्रकार पहिए को चलाना बंद कर देने पर भी पूर्व वेगवश वह थोड़ी देर चलता रहता है, ठीक इसी प्रकार मुक्त हो रहे जीव की गति को भी समझा जा सकता है।

निश्चय में बात यह है कि गति आत्मा का धर्म है। जब तक जीव में विभाव मौजूद है, वह जन्म-मरण करता रहेगा, एक स्थिति से दूसरी स्थिति में भटकता रहेगा। यह संसार स्वयं अपने आप में अनेकांत, उलझा हुआ और वक्र है। अतः सांसारिक जीव कोई भी गति करे, कैसी भी गति करे, कितने ही हाथ-पाँव मारे, वह हर गति वक्र गति ही होती है। दूसरी तरफ जब जीव में विभाव नहीं रहता , तो उसकी गति अपने आप में, अर्थात् स्वभाव में ही होती है, अपनी आत्म श्रेणी में ही होती है। आत्मा का कोई दैहिक आकार नहीं रहता, फिर भी गति जो उसका धर्म है,रहती ही है । फर्क इतना ही है कि वह गति संसार के वक्र मार्गों में न होकर आत्मा में अनुश्रेणित हो जाती है। गति की इस स्वाभाविक तीव्रता के कारण आत्मा जो अरूपी है, अरूपी होते हुए भी दर्पणनुमा हो जाती है और उस सिद्ध आत्मा को सारा संसार आनंदरूप में दर्पणनुमा अपने में ही भासता है। जिसे शास्त्रकारों ने मोक्ष और तदनंतर निर्वाण कहा है।

दूसरे तरीके से अगर समझें तो अनुश्रेणी गति वह गति है जिसमें कोई घुमाव, आँटाबाजी , फिरकापरस्ती नहीं होती मगर अन्य सांसारिक गतियाँ, जिन्हें वक्र गति कहा गया है, वहाँ ठहराव, टकराव, बदलाव घुमाव होते ही है। इन गतियों के चार स्थान और तीन मोड़ कुछ अपेक्षा विशेष से समझे जा सकते हैं, ऐसा सूत्रकार का कहना है। हम इस विषय को समझने का प्रयत्न करेंगे।

साधारण जनता के लिए यह प्रश्न वाकई अनावश्यक और फालतू रहा हो मगर पूछा अवश्य जाता है कि एक जीव स्थूल शरीर छोड़कर दूसरी योनि में स्थापित होने के बीच अपनी गति में कितने घुमाव लेता है। हम नहीं समझते कि अवधिज्ञानी के ये प्रश्न साधारण जनता में विवाद का विषय बनने चाहिए मगर तत्त्वार्थ सूत्र में जाने किस अपेक्षा से यह वर्णन आया है, अतः हम इस पर विचार करते हैं -

भारत में प्रायः कुछ दार्शनिकों की मान्यता सुनने में आती है कि मृत्यु के बाद कुछ आत्माएँ भटकती है। तब तक भटकेगी जब तक उनके लिए यज्ञ-हवन, श्राद्ध-तर्पण आदि नहीं किया जाएगा। लोक में इस तरह की मान्यता बहु प्रचलित है। अधिकांश लोग ऐसा ही समझते हैं कि मरने के बाद जीव इस संसार में भटकता रहता है और जब उसका तर्पण कर दो, तेरहवां कर दो अथवा चौथा कर दो तब वह नए स्थान पर जाकर पैदा हो पाएगा।

किंतु वीतराग भगवान का कहना है कि इस संसार में एक देह से छूटते ही जीव नवीन देह को तीन समय के अंदर प्राप्त कर लेता है। स्यात् इसी तथ्य को वाचक उमास्वाति मोक्षशास्त्र के द्वितीय अध्याय के 29 वें सूत्र में इस प्रकार कहते हैं कि-

सूत्र- विग्रहवती च संसारिणः प्राक्चतुर्भ्यः ॥29॥

अर्थ- संसारी जीव जो विग्रहगति से जा रहे हैं वे चार से पहले अर्थात् 1,2 या 3 मोड़ लेते हैं। विग्रहगति का समय चार समय से पहले यानि तीन समय तक का कहा गया है ॥29॥

विवेचन- इस संपूर्ण लोक में ऐसा कोई स्थान नहीं है जहाँ जाने में जीव को तीन से अधिक मोड़ लेने पड़ते हो। इसलिए विग्रह गति का समय चार समय के पहले-पहले तक का कहा गया है।

जब जीव ऋजु गति से गमन कर रहा होता है तब वह मात्र एक समय में उत्पत्ति क्षेत्र में पहुँच जाता है किंतु जब वह वक्र गति कर रहा होता है तब यदि एक घुमाव हो तो उसका कालमान दो समय का, जिसमें दो घुमाव हो उसका कालमान तीन समय का और जिसमें तीन घुमाव हो उसका कालमान चार समय का है। इस प्रकार कालभेद की अपेक्षा से इन गतियों के चार भेद है। 1. अविग्रहा 2. एकविग्रहा 3. द्विविग्रहा 4. त्रिविग्रहा।

इससे अधिक भेद भी संभव नहीं और समय भी नहीं लगता, क्योंकि इसके आगे जीव की गति का प्रतिघात नहीं होता और न विग्रह के लिए कोई निमित्त ही है। जब तक कोई प्रतिघात न हो तब तक गति वक्र नहीं होती है। साधारणतया हर गति सीधी सरल रेखा में ही होती है किंतु जब प्रतिघातक निमित्त मिलता है तब गति वक्र हो जाती है। दिगंबर आचार्य वक्रगति के तीन नाम देते हैं। जिसमें एक बार सरल रेखा का भंग हो उसे पाणिमुक्ता कहते हैं। जिस प्रकार पाणि पर रखा हुआ मुक्ता एक मोड़ लेकर जमीन पर गिरता है, उस प्रकार की गति। जिसमें दो बार सरल रेखा का भंग हो उसे लांगलिका गति कहते हैं। लांगलिका इसलिए क्योंकि लांगन अर्थात् हल में दो मोड़ा होते हैं। और जिसमें तीन मोड़ा लेने पड़ते हो, उसे गोमूत्रिका कहते हैं। जो जीव शरीर को छोड़कर गमन नहीं करते, शरीरस्थ गमनागमन करते हैं, उनके लिए विग्रह का कोई भी नियम नहीं है। पुद्गलों की गति के लिए भी ऐसा कोई नियम नहीं है। पुद्गल की वक्रगति में घुमाव की संख्या का कोई नियम नहीं है, उसका आधार प्रेरक निमित्त है। जैसे-जैसे निमित्त मिलते हैं, वह वैसे-वैसे गति करता जाता है। यह तीन मोड़ और चार गति एकान्तिक बात नहीं है। इसके बड़े आध्यात्मिक रहस्य है। न ही यह सूत्र एक देह छोड़कर दूसरी देह में अवस्थित होने के विज्ञान तक ही सीमित है।

सांसारिक जीव की विग्रह गति की अपेक्षा से भी चार गति और तीन मोड़ होते हैं। नरक गति, तिर्यंच गति, देव गति , मनुष्य गति। इसमें नरक गति, तिर्यंच गति और देव गति मोड़ है जहाँ जीव वक्र रूप से भटकता रहता है। मगर मनुष्य गति वह एकमात्र गति है जहाँ से वह अगति की गति यानि अनुश्रेणी में प्रवेश कर सकता है।

मनुष्य गति में भी पुनः चार गति और तीन मोड़ है। सावक, साविका और साध्वी-ये तीन मोड़ है-जहाँ से जीव अनुश्रेणी में भी जा सकता है और प्रतिघातक होकर, प्रतिबाधित होकर विग्रहित भी हो सकता है, bounce भी हो सकता है। हालांकि व्यवहारिक रूप से साधु भी वैसा ही प्रतिघातित हो सकने वाला जीव होता है मगर दिगंबर मत में साधु को सर्वथा वीतरागी मानकर यह बात कही जाती है कि वह मुक्तिगामी ही होगा । हम ऐसा

कहते हैं कि मात्र प्रतिवेशित होने से अर्थात् बाना पहनने से अथवा दैहिक रूप से नग्न हो जाने से कोई साधु नहीं होता। सच्चा साधु वही है जो भावों से वीतरागी है और जो भी ऐसा साधु है, उन्हें हमारा नमस्कार। वे मुक्तिगामी जीव ही हैं-णमो लोए सव्व साहूणं।

चार गति और तीन मोड़ के बड़े आध्यात्मिक व वैज्ञानिक रहस्य भी है। माना जाता है कि आत्मा हर नई स्थिति को प्राप्त करते समय साढ़े तीन फेरे लेती है। यह बहुत लंबा विषय है, इच्छुक और जिज्ञासु लोग हमसे संपर्क कर सकते हैं, सही पात्र को गुरू ज्ञान अवश्य दिया जाएगा।

हिन्दुस्तान में लौकिक जीवन में इस रहस्य को प्रतीक रूप में रिवाज़ों में ज़रूर प्रतिध्वनित किया गया है। जैसे, व्यक्ति जब शादी करता है तो एक जीवन से दूसरे जीवन में प्रवेश करते समय साढ़े तीन अथवा चार फेरे लेता है क्योंकि अपने लक्ष्य का चयन करने में जीव को अमूमन इस सृष्टि के साढ़े तीन फेरे लेने पड़ते हैं। चौरासी लक्ष जीव योनि को साढ़े तीन भागों में बाँटकर हर एक चक्र के 24 गुणसूत्र जाने जाते हैं जिसके आधार पर 24 तीर्थंकरों की गणना भी की जाती है।

गुरू को संपूर्ण लोक मानकर और मोक्ष मानकर उसकी साढ़े तीन परिक्रमा भी की जाती है। तीन परिक्रमा पूरी होती है और आधी परिक्रमा अपने स्थान पर आकर बैठने में स्वतः हो जाती है। इस परिक्रमा से शिष्य को गुरू से सद्गुणों की प्राप्ति होती है। यह ठीक वैसे ही होती है जैसे पृथ्वी को सूर्य से ऊर्जा मिलती है। इन साढ़े तीन आँटों को, जो एक प्राकृतिक तथ्य है, हम अपनी रीढ़ की हड्डी में भी देख सकते हैं। इसीलिए रीढ़ की हड्डी भी सीधी न होकर सांप की तरह वक्राकार होती है। इसीलिए शैव लोग शिवलिंग पर तंत्रशक्ति रूप साँप को साढ़े तीन आँटे डाले हुए, फन फैलाए हुए दिखाते हैं।

यह साढ़े तीन का चक्र समुद्र में धाराओं की तरह शरीर में भी व्याप्त रहता है। अतः हर मनुष्य का शरीर हर व्यक्ति के अपने हाथ से साढ़े तीन हाथ का अथवा सात बिलात का ही होता है।

कुरआन, बाईबिल, वेद और जैनागम भी सृष्टि को अलग-अलग विभागों में सात भागों में समझाते हैं। जैसे सात आकाश, सात वायु, सात समुद्र, सात खण्डी पृथ्वी, सात सुर, इन्द्रधनुष के सात रंग, मानव जीवन में सात सुख, आदि-आदि...। यह बहुत विस्तृत विषय है, अवधि ज्ञान का विषय है, हमें क्षमा करें।

सूत्र-30-31

अविग्रह गति-अनाहारक स्थिति

भवांतर में गमन करने वाले संसारी जीव को गति बदलाव में अधिक से अधिक तीन समय लगते हैं। 'समय' काल के अंतिम अविभाज्य अंश को कहते हैं। एक पलक झपकने के दौरान जितने समय बीतते हैं, वे असंख्य है। इस अपेक्षा से सोचें तो ये तीन समय, अत्यंत सूक्ष्म कालमान है जो बुद्धि के गणित से या वैज्ञानिक उपकरणों की ग्राफिक क्षमता से भी सूक्ष्म है। जीव की गति इतनी प्रबल है कि वह मात्र एक समय में चौदह रज्जु लोक को संपूर्ण माप सकता है।

चौदह रज्जु लोक एक आध्यात्मिक मापदण्ड तय किया हुआ है। जिस प्रकार आदमी का शरीर अपने हाथ से सात बिलात का होता है, उसी प्रकार 'यथा पिण्ड तथा ब्रह्माण्ड' के अनुसार यह संपूर्ण लोक भी सात वीथियों में माना गया है। एक वीथि या बिलात को पूवार्द्ध और उत्तरार्द्ध -दो भागों में बाँटने से यह ब्रह्माण्ड चौदह भागों में विभक्त हो जाता है। इसे चौदह रज्जु लोक कहा गया है। 'रज्जु' शब्द का अर्थ होता है-रस्सी। चूंकि पुराने ज़माने में दूरी को मापने के लिए धातु की स्केल नहीं होती थी, बल्कि रस्सी का फीता होता था, अतः रज्जु शब्द कहा गया है।

हमने पिछले सूत्रों में जाना कि जीव जब एक गति से दूसरी गति में गमन करता है, एक योनि से दूसरी योनि में गति करता है अथवा एक विचार से दूसरे विचार में गति करता है तो यह गति बिना किसी रूकावट के लक्ष्य को उपलब्ध हो, यह आवश्यक नहीं है। कारण यह है कि यथार्थ में जीव गति करता ही नहीं है, गति तो भाव मात्र से ही होती है। जब आत्मा की गति आत्मा में ही होती है तो कोई रूकावट आती नहीं। इसे अविग्रह गति कहा गया है मगर भावों की गति जब विभावग्रस्त होती है, तो वह आत्मगति न होकर चौदह रज्जु लोक में गति होती है। इस चौदह रज्जु लोक में हर समय अनंत जीवों के भाव गति कर ही रहे हैं तो निश्चय है कहीं न कहीं जीव को अर्थात् उसके भावों को बाधा पहुंचती है और गति क्रिकेट के बॉल की तरह (bounce) हो जाती है अर्थात् मोड़ हो जाता है, गति मुड़ जाती है। चूंकि भाव ही जीव का पर्याय है, अतः यह जीव की विग्रह गति कहलाती है। अन्यथा हर आत्मा में एक विशेषता है कि अगर वह पुद्गलों से आवृत्त न हो तो भाव मात्र से एक समय में संपूर्ण लोक में व्याप्त हो सकता है और यदि विभावग्रस्त हो जाए तो संकुचित होकर सुई की नोंक के अनंतवें भाग तक हो सकता है। इस प्रकार भौतिक दृष्टिकोण से जीव अपने आप में एक असिद्ध रहस्य है। बस यही समझ लो कि जीव के भाव ही गति है। भाव ही जीव है और जीव ही भाव है अथवा निश्चय दृष्टिकोण से जीव ही समय है, समय ही जीव है। जीव की शुद्ध अवस्था की उस गति का वर्णन करते हुए सूत्र कहता है कि-

सूत्र- एकसमयोऽविग्रहः ॥30॥

अर्थ- अविग्रह गतिमात्र एक समय की होती है ॥30॥

विवेचन- वैसे तो मुक्त जीवों को सिद्ध अवस्था प्राप्त होने में मात्र एक समय ही लगता है मगर बहुत ही योग्य जीवों को, जिनके नए आयुष्य बंध में कोई विचिकित्सा युत अवरोध न हो, वे भी अविग्रह गति से एक समय में ही उच्च देवलोक में स्थापित हो जाते हैं।

ऐसा भी माना जाता है कि न केवल जीव बल्कि पुद्गल परमाणु को भी लोकांत से लोकाग्र यानि कि चौदह रज्जु लोक की यात्रा में मात्र एक समय ही स्यात् लग सकता है परंतु ऐसा कम ही संभव होता है। कारण कि यात्रा में बाधाएँ तो आती ही है। जो पुद्गल परमाणु भावों से निरावेशित है, वह यात्रा करता नहीं और जो पुद्गल परमाणु भावों से आवेशित या उत्तेजित हो चुका है, अक्सर वह ऐसे ही और कई समवर्ती परमाणुओं का यौगिक (compound) बन जाता है। तब वह उन परमाणुओं का झुण्ड बनकर (परमाणु निषेक) यात्रा करता है। ऐसे में विपरीत प्रकार के भावों से आवेशित परमाणुओं से कई बार टकराहट भी होती है। अतः यह नियम पूर्ण रूप से लागू होने में समर्थ नहीं है।

कई लोग प्रश्न करते हैं कि वाटे बहते जीव आहारक होते हैं अथवा अनाहारक ? वाटे बहते जीव के पास स्थूल शरीर का तो पूर्णतः अभाव है। मार्गांतर में मात्र कार्मण काययोग ही पाया जाता है, उसके सिवाय और कोई योग नहीं होता, तब वह जीव आहारक है अथवा अनाहारक ?

वाचक उमास्वाति इस प्रश्न को उत्तरित करते हुए कहते हैं कि-

सूत्र- एकं द्वौ वा ऽनाहारकः ॥31॥

अर्थ- जीव एक या दो समय तक अनाहारक रहता है ॥31॥

विवेचन- जो जीव मुक्त हो रहे हैं, वे तो सदैव अनाहारक ही होते हैं परंतु संसारी जीव, जो ऋजुगति से या दो समय की एक विग्रह वाली गति से देहांतर में जाते हैं, वे अनाहारक नहीं होते। क्योंकि ऋजुगति वाले जिस समय में पूर्व शरीर छोड़ते हैं, उसी समय वे नया स्थान प्राप्त करते हैं, समयांतर वहाँ नहीं होता। इसलिए उनकी ऋजुगति का समय त्यागे हुए पूर्वभवीय शरीर के द्वारा ग्रहण किए गए आहार का या नवीन जन्म स्थान में ग्रहण किए गए आहार का समय है। यही स्थिति एक विग्रहवाली गति की है क्योंकि इसके दो समयों में से पहला समय पूर्वशरीर के द्वारा ग्रहण किए हुए आहार का है और दूसरा समय नए उत्पत्ति स्थान में पहुंचने का है, जिसमें नवीन शरीर धारण करने के लिए आहार किया जाता है। परंतु तीन समय की दो विग्रहवाली और चार समय की तीन विग्रहवाली गति में अनाहारक स्थिति होती है, क्योंकि इन दोनों गतियों के क्रमशः तीन और चार समयों में से पहला समय शरीर के लिए हुए आहार का और अंतिम समय उत्पत्ति स्थान में लिए हुए आहार का है परंतु प्रथम तथा अंतिम इन दो समयों को छोड़कर बीच का काल आहारशून्य होता है। अतएव द्विविग्रह गति में एक समय और त्रिविग्रह गति में दो समय तक जीव अनाहारक माने गए हैं। प्रस्तुत सूत्र में यही भाव प्रकट किया गया है।

सारांश यह है कि ऋजुगति और एकविग्रह गति में आहारक दशा ही रहती है और द्विविग्रह तथा त्रिविग्रह गति में प्रथम और चरम इन दो समयों को छोड़कर मध्य के एक तथा दो समय की अनाहारक दशा रहती है।

यहाँ यह बात जानने योग्य है कि आहार का अर्थ स्थूल रूप से भोजन ग्रहण करने से नहीं है। आहार शब्द से अभिप्राय यहाँ पर औदारिक अथवा वैक्रिय शरीर के पोषक सूक्ष्म पुद्गलों के ग्रहण करने से है। इस आहार के ग्रहण न करने वाले को अनाहारक कहते हैं। आहार तीन प्रकार का बताया गया है-ओज आहार, रोम आहार एवं

प्रक्षेप (कवल) आहार। विग्रहगति में एक या दो समय तक इनमें से कोई भी आहार नहीं होता। जिस प्रकार यहाँ आहारक एवं अनाहारक की चर्चा की गई है, उसी प्रकार यह भी प्रश्न पूछा जा सकता है कि क्या विग्रह गति युत जीव कर्म बंधन करते हैं अथवा नहीं करते हैं। इसका उत्तर भी अनेकांतमयी-शैली में ही दिया जाता है। सूत्रकार कहते हैं कि वह कर्म बाँधता भी है और नहीं भी। आयुष्य कर्म की अपेक्षा वह कर्म नहीं बांधता है किंतु अन्य सात कर्मों की अपेक्षा वह कर्म बाँधता रहता है। क्योंकि उस समय भी कार्मण काया का योग तो उसके पास रहता ही है। संसारी जीव विभावग्रस्त रहने के कारण सतत् कर्मबंधन करता रहता है।

विग्रह गति द्वारा देहांतर गमन करने के पश्चात् जीव नवीन उत्पत्ति स्थान को प्राप्त कर पुनः नवीन देह में जन्म धारण करता है। इसलिए आगामी सूत्रों में हम जन्म संबंधी चर्चा करेंगे।

सूत्र-32

जन्म प्रकरण

पिछले प्रकरण में हम संसारी जीवों के देहांतर गमन की चर्चा कर चुके हैं। जब जीव एक देह को छोड़कर नवीन देह को धारण करने के लिए जाता है, तब वह विग्रह गति से अथवा अविग्रह गति से जाते हुए एक समय अथवा उत्कृष्ट तीन समय में अपने जन्मने योग्य स्थान को प्राप्त कर लेता है। इस दर्शन को हम मात्र वीतराग वाणी से ही जान सकते हैं। छद्मस्थ के लिए इन्हें जान पाना, प्रत्यक्ष कर पाना संभव नहीं है। अब जबकि जीवात्मा नवीन देह को पा रही है तो उसका पुनः जन्म हो रहा है। तब स्वाभाविक रूप से यह जिज्ञासा पैदा होती है कि क्या समस्त संसारी जीवों का जन्म एक सरीखा ही होता है या भिन्न -भिन्न तरीके से होता है।

हम प्रत्यक्षतः देख पाते हैं कि मनुष्यों को जन्म लेते हुए, पशुओं को जन्म लेते हुए, कीट-पतंगे व वृक्षों को पैदा होते हुए-इनमें से जो मनुष्य व पशु-पक्षी है वे गर्भ रूप में आते हैं,फिर जन्म लेते हैं किंतु कीट-पतंगे, फल-बीज, ये सब तो गर्भपूर्वक जन्म नहीं लेते, ये तो वैसे ही वातावरण के निमित्त से अथवा रोपण आदि से पैदा हो जाते हैं। इसका मतलब यह हुआ कि सृष्टिगत समस्त जीवों के जन्म की प्रक्रिया एक सरीखी तो नहीं है। आर्हत दर्शन जन्म के संबंध में क्या कहता है, उसे जानने के लिए हम मोक्षशास्त्र के द्वितीय अध्ययन जीवाधिकार के 32 वें सूत्र की यात्रा करते हैं। वह सूत्र इस प्रकार है-

सूत्र- सम्मूर्च्छनगर्भोपपाता जन्म ॥32॥

अर्थ- सम्मूर्च्छन, गर्भ और उपपात -ये जन्म के तीन प्रकार हैं ॥32॥

विवेचन- सूत्र कहता है कि सृष्टिगत समस्त जीवों का नवीन देह में जन्म तीन प्रकार से संभव है। या तो वे सम्मूर्च्छन जन्म लेते हैं या गर्भ रूप में अथवा उपपात से। अब ये सम्मूर्च्छन जन्म क्या है, इसे जानना चाहिए। सूत्रकार कहते हैं कि जब किसी जीव का जन्म बिना माता-पिता के संयोग के, मात्र वातावरण की प्रेरणा से, उचित पुद्गलों के संयोग होने पर स्वतः हो जाता है-उसे सम्मूर्च्छन जन्म कहते हैं। यह सम्मूर्च्छन जन्म प्रायः सभी अमनस्क जीवों का होता है। एकेन्द्रिय से लेकर असंज्ञी पंचेन्द्रिय, असंज्ञी मनुष्यों तक का जन्म इस प्रकार का होता है। ये जन्म-मरण मूर्च्छा की उत्कृष्ट अवस्था में स्वतः होता रहता है। इस प्रकार के जन्म के लिए जीव का संकल्प बल उत्पत्ति स्थान को नहीं चुन पाता वरन् वातावरण ही काम करता है। जैसे वर्षा ऋतु में मच्छरों व मेंढको की बाढ़ आ जाना। हरियाली एवं पानी का संयोग होने पर मच्छरों का बढ़ जाना इत्यादि। सम्मूर्च्छित जीव भी एक देह को छोड़कर दूसरी देह में प्रवेश करते हुए आहार तो ग्रहण करता है (जिसे जैन दर्शन में पर्याप्ति कहा गया है) मगर वह अपने-अपने कर्म व भावों के निमित्त समवाय के अनुसार अपने आप होता है। जैसे, मूर्च्छित मनुष्य भी

बिना जानते हुए श्वास ग्रहण करता है, ठीक वैसे ही इनके आहार को समझना चाहिए। मगर दूसरे संज्ञी जीव कुछ सुप्त अथवा जागृत अवस्था में देहांतरण में अपनी -अपनी आवश्यकतानुसार आहार ग्रहण करते हैं अथवा यूँ कहो पर्याप्ति को उपलब्ध होते हैं।

जो जीव स्त्री-पुरूष अथवा नर-मादा के संयोग से मादा की योनि में पैदा होते हैं और शुक्र व शोणित के पुद्गलों से शरीर का निर्माण प्राप्त करते हैं, उन्हें 'गर्भज' कहा जाता है। सभी संज्ञी मनुष्यों एवं पशुओं का जन्म इसी प्रकार होता है।

'उपपात' जन्म उसे कहते हैं जिसमें जीव उत्पत्ति स्थान में स्थित वैक्रिय पुद्गलों को पहले-पहल शरीर रूप में ग्रहण करता है। यह जन्म वैक्रिय शरीरधारी जीवों के ही होता है। नारक व देवताओं का उपपात जन्म होता है। जन्म संबंधी विषय पर आधुनिक विज्ञान में भी कई शोध हुए हैं। जीव वैज्ञानिकों ने अनेक प्रकार की प्रजातियों के जन्म की प्रक्रिया का अध्ययन करके अनेक तथ्य (facts) प्राप्त किये हैं। वैज्ञानिकों द्वारा प्राप्त समस्त निष्कर्षों को हम सम्मूर्च्छन जन्म एवं गर्भज के अंतर्गत जान सकते हैं। उपपात जन्म संबंधी जानकारियाँ वैज्ञानिक संयंत्रों द्वारा संभव नहीं है।

जीवों के जन्म संबंधी वर्णन के बाद उत्पत्ति क्षेत्र विषयक कथन का निरूपण अगले सूत्र में किया गया है।

सूत्र-33

योनि प्रकरण

जीवों के देहांतर गमन की प्रक्रिया का निरूपण करने के बाद अगला चरण उत्पत्ति स्थान के संबंध में जानना है। जन्म के लिए स्थान आवश्यक है। जिस स्थान पर जीव नवीन शरीर प्राप्ति के लिए योग करता है, उस स्थान को 'योनि' (birthplace) कहा जाता है। वाचक उमास्वाति अब योनि संबंधित जानकारी देते हुए अगले सूत्र में लिखते हैं कि-

सूत्र- सचित्तशीतसंवृत्ताः सेतरा मिश्राश्चैकशस्तद्योनयः ॥33॥

अर्थ- सचित्त, शीत और संवृत्त-ये तीन तथा इन तीनों के विपरीत (opposite) अचित्त, उष्ण और विवृत एवं मिश्र रूप अर्थात् सचित्ताचित्त, शीतोष्ण एवं संवृत्तविवृत-जन्म की ये कुल नौ योनियाँ है ॥33॥

वाचक उमास्वाति बताते हैं कि समस्त योनियाँ नौ प्रकार के भेदों में समाहित की जा सकती है। इन नौ नामों का उल्लेख उपरोक्त सूत्र में किया गया है।

विवेचन- **सचित्तादियोनि**- आत्मा के चैतन्य विशेष रूप परिणाम को चित्त कहते हैं। जो चित्त रहित हैं, वह अचित्त एवं जो उत्पत्ति क्षेत्र सचित्त एवं अचित्त दोनों प्रकार के पुद्गलों से युक्त है, वह मिश्र रूप सचित्ताचित्त योनि है।
शीतादियोनि-जो उत्पत्ति स्थान शीत स्पर्श वाला हो वह शीत योनि, इसके विपरीत जो उष्ण स्पर्श वाला हो, वह उष्ण योनि एवं जो शीत व उष्ण दोनों प्रकार की विशेषताओं से युक्त हो, वह शीतोष्ण योनि है।
संवृत्तादि योनि- जो उत्पत्ति स्थान भली प्रकार से ढका हो, वह संवृत्तयोनि कहलाता है। इसके विपरीत जो उघाड़ा हो, खुला हो-वह विवृत्त एवं जो उभय रूप हो वह संवृत्तविवृत योनि कहलाता है।

विस्तार से योनियाँ 84 लक्ष अथवा 84 लक्ष्य कही गई है। पृथ्वीकाय आदि जिस-जिस काय वाले जीवों के स्पर्श, रस, गंध और वर्ण वाले जितने-जितने उत्पत्ति स्थान हैं-वे सब मिलाकर 84 लक्ष हो जाते हैं।

किस-किस योनि में कौन-कौन से जीव उत्पन्न होते हैं, इसका विवरण इस प्रकार है-

जीव	योनि प्रकार
1. नारक व देवता गर्भज मनुष्य व तिर्यंच शेष सब पाँच स्थावर, तीन विकलेन्द्रिय, असंज्ञी तिर्यंच पंचेन्द्रिय व असंज्ञी मनुष्य	1. अचित्त योनि मिश्र-सचित्ताचित्त योनि सचित्त, अचित्त एवं सचित्ताचित्त (मिश्र) तीनों प्रकार के
2. गर्भज मनुष्य, तिर्यंच तथा देवता तेजस्कायिक जीवों के शेष चार स्थावर, तीन विकलेन्द्रिय, असंज्ञी तिर्यंच पंचेन्द्रिय, मनुष्य तथा नारक	2. शीतोष्ण योनि उष्ण योनि शीत, उष्ण एवं शीतोष्ण तीनों प्रकार की योनि में जन्म
3. नारक, देवता एवं समस्त एकेन्द्रिय विकलेन्द्रिय एवं सम्मूर्च्छन जीवों के गर्भज मनुष्य एवं तिर्यंच पंचेन्द्रिय	3. संवृत्त योनि विवृत्त योनि मिश्र योनि (संवृत्त विवृत्त)

इस प्रकार इन 9 भेदों की अपेक्षा से योनि को एवं उसमें उत्पन्न होने वाले 24 दण्डकों के जीवों को हम जान चुके हैं। इनके सिवाय भी योनि के तीन भेद आकृति की अपेक्षा से किए गए हैं। पन्नवणा सूत्र के पद में गर्भज जीवों के आकार योनि की अपेक्षा तीन भेद इस प्रकार बतलाए गए हैं-

1. शंखावर्त योनि 2. कूर्मोन्नत योनि 3. वंशपत्र योनि।

इन तीनों में ये शंखावर्त योनि में गर्भ धारण क्षमता का प्रायः अभाव होता है। शेष दो में नहीं। इन तीनों प्रकार की योनि को 'आकार-योनि' भी कहा जाता है। उपरोक्त 9 भेदों को 'गुण-योनि' भी कहा जा सकता है। ये आकार-योनि के भेद मानव-स्त्री तथा मादा-पशु की योनि की अपेक्षा है। गुण-योनि और उसके नौ भेद सभी दण्डकों की अपेक्षा कहे गए हैं। इसके सिवाय 84 लक्ष योनियों का वर्णन भी सूत्रों में मिलता है। वह एक अलग विषय है।

आत्मज्ञानी श्री विराट गुरूजी का कहना था कि 84 लक्ष योनियों को ही कालांतर में 84 लाख बना दिया गया जबकि यहाँ 'लक्ष' पद का अर्थ लाख (lakh) (पाँच शून्य, 00000) न होकर जीव के कल्प की उत्कृष्ट अवस्थाएँ है, जिसे 'लक्ष' यानि Targets या Goals कह सकते हैं। इस संपूर्ण संसार चक्र में परिभ्रमण कर रहे जीव की उत्कृष्ट उपलब्धि मानव जीवन पाना है, वही 84 वाँ लक्ष है उसके बाद 'अलख-निरंजन' यानि सिद्ध अवस्था है। किंतु कोई मानव बनकर इस अवस्था को उपलब्ध नहीं होता है तो पुनः चौरासी के चक्कर में उसे घूमना पड़ता है। पुनः 'मूषको भवः' वाली अवस्था को जीना पड़ता है। इन समस्त योनिगत भेदों को जान-समझकर आत्म साधक अपने उत्पत्ति स्थान की तह तक जाए व दुबारा जन्म न लेना होवे-इस हेतु प्रत्येक लक्ष्य से अलख हो जाए यानि निरंजन हो जाए क्योंकि जब तक राग है-रंजन है तब तक मुक्ति संभव नहीं। मुक्ति तो अलख- निरंजन को ही है।

सूत्र-34-36

जन्म प्रक्रिया

जीवाधिकार नाम के इस द्वितीय अध्याय में अब तक हम जीव के जन्म व योनिगत भेदों को समझ चुके हैं। अब इन तीन प्रकार के जन्म में से संसारगत सारे जीव किस-किस प्रकार के जन्म को प्राप्त होते हैं, उनका वर्णन आगामी तीन सूत्रों में किया गया है।

सूत्र- जराय्वण्डपोतजानां गर्भः ॥34॥
नारकदेवानामुपपातः ॥35॥
शेषाणां सम्मूर्च्छनम् ॥36॥

अर्थ- जरायुज, अण्डज और पोतज प्राणियों का गर्भ से जन्म होता है ॥34॥
नारक और देवों का उपपात जन्म होता है ॥35॥
शेष सब प्राणियों का सम्मूर्च्छन् जन्म होता है ॥36॥

विवेचन- प्रस्तुत तीनों सूत्रों में जन्म-प्रक्रिया के तीन भेद बतलाए गए हैं। वे इस प्रकार है-गर्भज जन्म, औपपातिक जन्म एवं सम्मूर्च्छन जन्म। गर्भज जन्म संज्ञी मनुष्यों व तिर्यंच पंचेन्द्रिय जीवों का होता है। पुनः गर्भज जन्म के भी तीन भेद इस प्रकार है-

1. जरायुज-जन्म के समय प्राणी के ऊपर जाल की तरह रूधिर और मांस की खोल-सी लिपटी रहती है, उसे जरायु या ज़ेर कहते हैं। उससे जो उत्पन्न होते हैं, उन्हें जरायुज (covered with placenta) कहते हैं। जैसे गाय, भैंस, बकरी, बैल एवं मनुष्य आदि।

2. अण्डज- जो अण्डे से पैदा होते हैं, वे अण्डज (shell) कहलाते हैं। जैसे मुर्गी, कबूतर, साँप आदि। अण्डा नख (नाखून) की त्वचा के समान कठिन और गोल होता है और इसका आवरण शुक्र और शोणित से बनता है।

3. पोतज-जिसके सब अवयव बिना आवरण के पूरे हुए हैं और जो योनि से निकलते ही हलन-चलन आदि सामर्थ्य से युक्त हैं, उसे पोतज कहते हैं। जैसे सिंह, हिरण, बंदर, बिल्ली आदि।

ये तीनों गर्भ से जन्म लेने वाले जीवों के भेद हैं।

गर्भज के पश्चात् औपपातिक जन्म लेने वाले जीवों के बारे में सूत्र संख्या 35 में बताया गया है कि नारकी व देवता उपपात जन्म लेते हैं। स्वर्ग व नरक में जन्म के लिए विशेष नियत स्थानों को उपपात स्थान कहते हैं। उपपात जन्म में माता-पिता की कोई आवश्यकता नहीं होती। जीव स्वयं ही उत्पत्ति स्थान के वैक्रिय पुद्गलों को ग्रहण करके अपना शरीर निर्मित कर लेता है। उपपात जन्म का एक निश्चित उत्पत्ति स्थान होता है, जैसे देवलोकों में उपपात पुष्प शय्या तथा नरक में कुंभीनुमा कोई आकृति। देवताओं का जन्म देवशय्या पर स्वतः होता है। देवशय्या दिव्य वस्त्र से ढकी रहती है। जब किसी देवता का जन्म वहाँ होता है तो वह वस्त्र फूलती हुई रोटी के समान फूल-सा जाता है एवं उसमें से पूर्णतः नौजवान युवक की भांति देवता बाहर निकल आता है।

नारकीयों का उपपात क्षेत्र बिलों के ऊपरी भाग में वज्रमय गवाक्ष आदि होता है। नारकी व देवता-दोनों ही अन्तर्मुहूर्त मात्र में ही अपने संपूर्ण विकसित रूप को प्राप्त कर लेते हैं।

इस प्रकार गर्भज एवं औपपातिक जन्म के बाद शेष बचे समस्त संसारी जीवों का जन्म सम्मूर्च्छन बताया गया है। सूत्र संख्या 36 में कहा गया है कि शेष सभी जीवों का जन्म सम्मूर्च्छन होता है। सम्मूर्च्छन अर्थात् प्राकृतिक वातावरण के संयोग से उत्पन्न जीव-जंतु समस्त एकेन्द्रिय, समस्त विकलेन्द्रिय एवं समस्त असंज्ञी तिर्यंच पंचेन्द्रिय एवं असंज्ञी मनुष्य सम्मूर्च्छन् जन्म को ही प्राप्त करते हैं।

सम्मूर्च्छिम मनुष्यों के उत्पत्ति स्थान शरीर के मल इत्यादि है, जिन्हें सूत्रकारों ने 14 भेदों में समझाया है, जो इस प्रकार है-

1. उच्चारेसु वा (मल-विष्ठा में) 2. पासवणेसु वा (मूत्र में) 3. खेलेसु वा (कफ में)
4. सिंघाणेसु वा (नाक के मैल में) 5. वंतेसु वा (वमन-उल्टी में) 6. पित्तेसु वा (पित्त में)
7. सोणिएसु वा (रक्त-खून में) 8. पूएसु वा (पूई-चोट लगे रक्त में) 9. सुक्केसु वा (शुक्र semen में)
10. सुक्कपुग्गलपरिसाडिएसु वा (सूखे हुए शुक्र पुद्गलों में) 11. विगयजीवकलेवरेसु वा (मृत शरीर में)
12. इत्थीपुरिस संजोगेसु वा (स्त्री-पुरूष संभोग-मैथुन क्रिया में)13. नगरनिधमणेसु वा (नगर की मोरी-गट्टर में) 14. सव्वेसु चेव असुइ ठाणेसु वा (सभी अशुचि-दुर्गंधयुक्त स्थानों में)।

इस प्रकार हम देखते हैं कि ये सम्मूर्च्छिम मनुष्य संख्यातीत तादाद में मानव शरीर से उत्पन्न व नष्ट होते रहते हैं। इनकी आयु अन्तर्मुहूर्त मात्र कही गई है। ये उपरोक्त 14 स्थान सम्मूर्च्छिम मनुष्यों के कहे गए हैं। सम्मूर्च्छिम जीव में तो एकेन्द्रिय से चौरेन्द्रिय तक सभी सूक्ष्म व बादर प्राणी तथा असंज्ञी तिर्यंच पंचेन्द्रिय भी परिगणित है। समस्त सम्मूर्च्छिम जीवों की 'कल्प-क्षमता' अत्यल्प होने के कारण स्वयं के लिए उत्पत्ति स्थानों का चयन करने की स्वतंत्र योग्यता उनमें विकसित नहीं हो पाती, और इसी कारण वे वातावरण के निमित्त ही जन्म-मरण चक्र को उपलब्ध होते रहते हैं। इन सभी जीवों को मनुष्य प्रायः 'प्रकृति' (nature) कहकर संबोधित करता है, जिनमें प्रमुख तो पाँच स्थावर जीव है।

हमें जानना चाहिए कि जिसे प्रकृति कहते हैं, वह सभी जीवन है, सचेतन है, मन रहित होने के कारण हमारी तरह क्रिया-प्रतिक्रिया करने में चाहे योग्य न हो किंतु हम इंसानों के भावों को ग्रहण करने व महसूस करने में तो सक्षम है ही क्योंकि यह तो जीव मात्र का उपयोग गुण हैं। अतः हमें कभी भी किसी भी प्राणी को तुच्छ या हीन समझने की भूल नहीं करनी चाहिए, ना ही इनका अनावश्यक भोग-उपभोग किया जाना चाहिए।

जन्म-प्रक्रिया के तीनों भेदों में से हम मनुष्य जरायुज कहलाते हैं। हमारा जन्म भी हमारे अपने कृत-कल्पों के अनुसार होता है, अतः हम न किसी इंद्रिय का दुरूपयोग करें, न ही प्राकृतिक वातावरण का अनावश्यक उपभोग।

सूत्र-37

पाँच शरीर

तत्त्वार्थ सूत्र के जीव तत्त्व नामक द्वितीय अध्याय में अब तक हम संसारी जीवों के देहान्तर गमन, उत्पत्ति स्थान, जन्म एवं योनि विषयक वर्णन जान चुके हैं। जन्म ग्रहण करने के साथ ही हर जीव अपने लिए शरीर (body) का निर्माण करता है। जीव की ये योग्यता समण सूत्र-साहित्य में 'शरीर पर्याप्ति' के नाम से जानी जाती है। इस संसार में जीव एक क्षण भी बिना शरीर नहीं रहता है। किंतु यह भी सच है कि वह शरीर बदलता रहता है। देहांतर गमन करता रहता है-कभी मानव तन धारण करता है तो कभी देवता बन जाता है, कभी कीट-पतंगा बन जाता है तो कभी जानवर। यह पूरा संसार देहधारी प्राणियों का जमावड़ा है। इन इतनी चित्र-विचित्र देहों को देखकर जिज्ञासु मन सहज ही प्रश्न करता है कि देह कितनी तरह की होती है? शरीर कितने तरह के हो सकते हैं? कौन से शरीर की क्या विशेषता होती है? क्या खामियां होती है? कौनसी देह मोक्ष को उपलब्ध हो सकती है? कौनसी देह संसार बंधन को ही बनाए चली जाती है? इन अनेक प्रश्नों का समाधान वाचक उमास्वाति शरीर विषयक सूत्रों में इस प्रकार करते हैं -

सूत्र- औदारिकवैक्रियाऽऽहारकतैजसकार्मणानि शरीराणि ॥37॥

अर्थ- औदारिक, वैक्रिय, आहारक, तेजस एवं कार्मण-ये पाँच प्रकार के शरीर हैं ॥37॥

विवेचन- आगम-शास्त्रों में पाँच प्रकार के शरीर बतलाए गए हैं। जो पुद्गलों के चयोपचय से बनते हैं एवं निरंतर जीर्ण-शीर्ण होते रहते हैं, उसे शरीर कहते हैं। शरीर जीव का क्रिया करने का साधन है।

1. औदारिक शरीर (Physical body) - जो शरीर उदार अर्थात् स्थूल पुद्गलों से बना हो, उसे औदारिक शरीर कहते हैं। उदार शब्द का एक अन्य अर्थ 'प्रधान' भी होता है। यह शरीर अन्य सभी शरीरों की अपेक्षा प्रधान है, श्रेष्ठ है इसलिए भी इसे औदारिक शरीर (gross physical body) कहते हैं। यही वह शरीर है जिसके बिना जीव मुक्त नहीं हो सकता। मोक्ष प्राप्ति की चरम योग्यता, चरम साधना इसी देह द्वारा संभव है, इसलिए भी इसे श्रेष्ठ माना जाता है। यह शरीर समस्त मनुष्यों व तिर्यंच योनिक जीवों के पास होता है। यह शरीर हाड़-माँस, रक्त, मज्जा आदि अवयवों सहित होता है। इस शरीर को जलाया जा सकता है, इसका छेदन-भेदन भी किया जा सकता है।

औदारिक शब्द बड़ा गहन अर्थ लिए हुए है। इसका एक अर्थ होता है-उदर संबंधी। इस शरीर को शेष भारतीय धर्मों ने 'स्थूल शरीर' कहा है क्योंकि भोजन करना, पचाना व विसर्जन करना अर्थात् पेट संबंधी सारे कार्य इस शरीर से होते हैं। मनुष्य हो, जानवर हो या सूक्ष्म से सूक्ष्म कीड़े-मकोड़े, एक कोशिकीय amoeba या

plasma अथवा निगोद के जीव-इन सबका शरीर स्थूल शरीर होता है; जिसे आँखों से या वैज्ञानिक उपकरणों से अनुभव किया जा सकता है। ये सारे जीव उदर अर्थात् पेट वाले जीव होते हैं जो स्थूल पदार्थ अर्थात् भौतिक पदार्थ का भोजन ग्रहण करते हैं-ये सभी जीव श्वासोच्छ्वास लेते हुए भी दिखलाई पड़ते हैं।

2. वैक्रिय शरीर (Astral body)- वह शरीर जो विविध क्रियाओं को करने में, विकुर्वणा करने में समर्थ है, वह वैक्रिय शरीर कहलाता है। वैक्रिय शरीरधारी जीव अनेक चित्र-विचित्र रूप धारण कर सकता है। वह कभी एक, कभी अनेक, कभी छोटा, कभी बड़ा, कभी मोटा, कभी पतला आदि अनेक रूप बना सकता है। जन्म के साथ ही देवता एवं नारकी के पास यह शरीर होता है। मनुष्य एवं तिर्यंच इस शरीर को लब्धि द्वारा प्राप्त कर सकते हैं। वैक्रिय शरीर में विकिरण शक्ति विशेष होती है। इसे अन्य भारतीय दार्शनिक शब्दावली में 'सूक्ष्म शरीर' कहा गया है। सूक्ष्म अर्थात् स्थूल नहीं होना। न ही ये इन्द्रिय गोचर होता है। न ही वैज्ञानिक उपकरणों के दायरे में आता है। अतः कुछ लोग इसे 'अभौतिक' भी कहते हैं। इसे यूँ समझो कि यह एक तरह का प्रकाश पुंज ही होता है। यह सूक्ष्म शरीर औदारिक देह के अंदर समाया हुआ भी हो सकता है, स्वतंत्र भी हो सकता है। इसमें दृष्ट भौतिक शरीर की तरह नस, नाड़ियाँ, हड्डियाँ नहीं होती। न ही साधारण आदमी इसे देख सकता है। जिसके पास वैक्रिय शक्ति होती है, वही इस शरीर को देख सकता है, कदाचित छू भी सकता है और कदाचित अपने औदारिक शरीर के अंदर समाए हुए इस शरीर को बाहर निकालकर इसका प्रयोग भी कर सकता है। इस शरीर के अंदर विशेष अतीन्द्रिय शक्तियाँ होती है। जैसे, चन्द्र शीतल विद्या अर्थात् शीतो लेश्या जो किसी योगी, ध्यानी व्यक्ति से निकलकर अपने प्रभाव से किसी को बर्फ की तरह जमा भी सकती है अथवा ऊष्ण सूर्य किरणों से निकली तेजो लेश्या, जो किसी को निष्क्रिय भी कर सकती है। वैदिक वाङ्मय में अणिमा, गरिमा आदि अष्ट सिद्धि व नव निधि का वर्णन आता है। ये सारी की सारी वैक्रिय लब्धियाँ होती है। इन लब्धियों का प्रयोग करके विद्याधर सूई की नोंक जितना छोटा अथवा विशालकाय रूप भी बना सकते हैं। हकीकत में इस शरीर के ऊपर कुछ वैक्रिय किरणों का ऐसा वलय छा जाता है कि वे छोटे-बड़े दिखते हैं और ऐसे अनुभव भी होते हैं। उनका असली स्थूल शरीर वैक्रिय प्रभावों से स्थान विशेष से दूर हटकर कहीं भी अस्तित्वमान होते हुए भी दिखाई नहीं देता और वैक्रिय रूप प्रयोगकर्त्ता के इच्छानुसार छोटा-बड़ा दिखाई देता है। ऐसी और कई-कई जादूगरी इस लब्धि में होती है जो यहाँ स्थान की कमी के कारण नहीं दी जा रही है।

साधारण मनुष्य में यह शरीर नहीं होता मगर देवी-देवता या नरकवासियों में यही शरीर होता है। उनके पास स्थूल औदारिक शरीर नहीं होता। अतः उनकी भोजन, पाचन प्रणाली हमारे जैसी नहीं होती। वे भाव अथवा दुर्भाव मात्र से अथवा कर्म ग्रंथि के प्राकृत भोग के नियमों के अनुसार वैक्रिय परमाणुओं को ग्रहण करते व छोड़ते रहते हैं। मगर इस क्रिया को ठीक वैसे ही समझना चाहिए जैसे हम सहज श्वास लेते व छोड़ते हैं। यहाँ जानकारी में लेने वाली बात यह है कि देवता हमेशा इच्छित व मनोज्ञ परमाणुओं को ग्रहण करते हैं और नारक (नरक के जीव) अनिश्चित व अमनोज्ञ परमाणुओं को प्राप्त करते हैं।

स्थूल शरीर की जो शक्तियाँ होती है, उनके बारे में लिखने की आवश्यकता नहीं है। सूक्ष्म शरीर की शक्तियाँ उनसे बिल्कुल भिन्न होती है। इस कारण साधारण मनुष्य देवी-देवताओं की पूजा करता है। तांत्रिक, ध्यानयोगी आदि लोग मंत्र बल, इच्छाशक्ति बल आदि के प्रयोग से सृष्टि में सूक्ष्म विकिरण उत्पन्न करके इच्छित देवी-देवता को अपने वश में भी कर सकते हैं। मंत्र वचनों से बंधे इन देवों से बहुत से असंभव कार्य करवाए जा

सकते हैं और ऐसा आज भी हो रहा है।

प्रसंगवश हम इस वैक्रिय प्रणाली पर वैज्ञानिक दृष्टिकोण से चिंतन करना भी उचित समझते हैं। यह सत्य है कि स्थूल दुनिया अलग है और वैक्रिय दुनिया अलग। कुछ कारणों से ही इन दोनों विभिन्न विधाओं का कभी-कभी परस्पर सहयोग-विरोध अथवा सहसंचरण हो पाता है। वे कुछ संधि स्थान है, जिसमें ये संभव है।

साधारणतया एक सूक्ष्म शरीर और एक स्थूल शरीर एक-दूसरे को नहीं छू पाते। आश्चर्य ये है कि दोनों शरीर एक-दूसरे के आर-पार हो जाते हैं। मगर ये कत्तई आवश्यक नहीं कि उन्हें इस बात का आभास तक हो। कहने को हम कह सकते हैं कि जिस प्रकार शीशे में से किरणें आर-पार हो जाती है, वैसे ही स्थूल शरीर में से सूक्ष्म शरीर आर-पार होता है। मगर इस बात में फर्क ये है कि शीशा प्रकाश की ऊष्मा से गर्म ज़रूर होता है। मगर आर-पार होने की अवस्था में भी ये दोनों शरीर सर्वथा निष्प्रभावित रहते हैं। यह अलग बात है कि किसी सूक्ष्म शरीर वाले में विशेष क्षमताएँ हो तो वह किसी स्थूल शरीर में आवेशित, प्रवेशित या समावेशित हो सकता है। साधारणतया ऐसा नहीं होता।

विज्ञान ये है कि दोनों शरीरों की बनावट तो पुद्गल परमाणुओं से ही हुई है। मगर हर उन परमाणु निषेकों (अणु) में निहित परमाणु की एक-दूसरे से गति व दूरी भिन्नता लिए होती है। दूसरी विधा के निषेकों से अलग प्रकार से संगठित हुए होती है। अतः ये परमाणु निषेक एक दूसरे के आर-पार हो जाते हैं मगर एक-दूसरे को छूते नहीं, न ही एक-दूसरे के आभावलय को प्रभावित करते हैं। जैसे कि सात फुट दूर आदमी, दस-दस फुट की दूरी पर एक झुण्ड बनाए हुए हैं। और दूसरे एक फुट में दस आदमी तेरह-तेरह फुट की दूरी पर एक झुण्ड बनाए हुए हैं। वे एक-दूसरे के आर-पार हो जाते हैं। मगर अहसास नहीं होता। न तो उनकी शारीरिक संरचना बाधित होती है, न ही उनमें बंधित इकाइयों (परमाणुओं) की परिक्रमा गति बाधित होती है।

3. आहारक शरीर - वह शरीर जो योगजन्य विशिष्ट साधना द्वारा जागृत होकर अनेक चमत्कारिक कार्य करने की क्षमता रखता है, आहारक शरीर कहलाता है। औदारिक शरीर की अपेक्षा वैक्रिय शरीर सूक्ष्म होता है एवं वैक्रिय की अपेक्षा यह आहारक शरीर। इस शरीर का स्वामी मात्र अप्रमत्त लब्धिधारी विशिष्ट मनुष्य ही हो सकता है। शास्त्रकारों का मानना है कि यह शरीर विशेष प्रयोजन होने पर ही अन्तर्मुहूर्त मात्र के लिए जागृत होता है, शेष समयों में सुप्त योग्यता के रूप में सबके भीतर पड़ा रहता है। यह अतिसूक्ष्मतर विशिष्ट पुद्गल द्रव्यों से बना होता है।

समण वाङ्मय में ऐसे उल्लेख मिलते हैं कि जब किसी लब्धिधारी मुनि को संशय निवृत्ति के लिए अथवा जिज्ञासा समाधान के लिए दूरस्थ केवली भगवन् के पास जाना हो तो वे इस लब्धि का प्रयोग कर एक हाथ मात्र पुतला बाहर निकालते हैं। यह पुतला केवली भगवान् के समीप जाकर शंका-समाधान कर पुनः लौट आता है और मुनिराज के शरीर में प्रविष्ट हो जाता है। इस प्रकार वे मुनि अपना समाधान प्राप्त कर लेते हैं। इस शरीर को साधारण चर्म चक्षुओं से नहीं देखा जा सकता। यह शरीर धातु, हड्डियों आदि से रहित होता है। इस शरीर द्वारा किसी पौद्गलिक बनावट को बाधा पहुँचाए बिना, व्याघात रहित गमनागमन संभव है।

शास्त्रों में इसका आकार और इसका व्यास एक हाथ का बताया गया है। मगर आत्मज्ञानी श्री विराट गुरूजी का कहना है कि ये उस समय की भाषा में कही गई बात है। हमारे अनुभव में ये शरीर एक बिलात् का होता है और हृदय के ठीक दूसरी तरफ अर्थात् शरीर के दाहिने भाग की छाती के नीचे गुप्त रूप से व्याप्त रहता है। मैं तो

इसे वैक्रिय शरीर के हृदय के समकक्ष ही ठहराता हूँ क्योंकि इसकी स्थिति वैक्रिय शरीर के अंदर रहती है। जब दूरस्थ गुरू की भाव परिक्रमा की जाती है तो साधक अपने भाव इष्ट का (गुरू का) अपने सम्मुख कल्प करता है। कल्प बहुत गहन भावमय होने पर गुरू का छायापुरूष का कोई एक रूप साधक के सामने दृष्टिपथ में उपस्थित हो जाता है। 'आदेश' मंत्र के द्वारा गुरू की मौन स्वीकृति प्राप्त करते ही साधक के अपने शरीर से उसका वैक्रिय शरीर, जो कि उसके भौतिक शरीर की ऊँचाई की अपेक्षा से लगभग तीन चौथाई होता है, साधक के स्थूल शरीर से बाहर निकल कर इष्ट गुरू के उस छायांकित पुतले की परिक्रमा करता है। उस समय आहारक शरीर, वैक्रिय शरीर के अंदर ही होता है और आहारक शरीर से ही व्यक्ति के स्थूल शरीर से संबंध जुड़ा रहता है। इसलिये व्यक्ति का वैक्रिय शरीर वापस स्थूल शरीर में आ पाता है।

इस आहारक शरीर को मैं तो हृदय ही कहता हूं। सूक्ष्म हृदय। जिस प्रकार वैक्रिय शरीर के पाँव उल्टे होते हैं और ज़मीन पर नहीं टिकते। ऐसा ही कुछ आहारक शरीर हमारे हृदय का विशेष सूक्ष्म व विपरीत ध्रुवीय स्थिति में होता है। ठीक ऐसे ही जैसे फिल्म का नेगेटिव। हमारे वैक्रिय शरीर में वैसे तो भौतिक शरीर की तरह नाड़ियाँ नहीं होती, मगर प्राण प्रवाह का संचालन खून की तरह उसमें भी होता है। वैक्रिय शरीर साँस द्वारा वातावरण से कुछ विशेष प्राण ग्रहण करता रहता है। यह प्राण आहारक शरीर का आहार होता है। वह उसको पेट की तरह पचाता है और भाव प्रमाण कर्म निर्जरा के योग्य परमाणु बना देता है। ये परमाणु आहारक शरीर से निकलकर वैक्रिय शरीर में प्रवाहित होने लगते हैं और पूर्व प्रवाहित प्राण, रक्त को शुद्ध करते रहते हैं अर्थात् हृदय की तरह ही इसकी कार्यप्रणाली होती है। इस प्रकार दूषित परमाणु, वैक्रिय शरीर से बाहर निकलते रहते हैं, निर्जरित होते रहते हैं। ये सारा ही निर्जरण वैक्रिय लब्धिधारी योगी ध्यानी पुरूष देवता अथवा नारकी के जीवन में प्रतिपल होने वाली घटना भोग के रूप में प्रदर्शित होता है। यहाँ विचार नहीं होता, भाव ही होता है और भाव मस्तिष्क भी यह आहारक शरीर ही होता है। कुछ विशिष्ट योगी जो विचारशून्य होते हैं, अपने भावों की उत्कृष्टतावश बिना वैक्रिय शरीर का इस्तेमाल किए ही आहारक शरीर से टेलीपैथी, दूरदर्शन, दूरमिलन आदि की क्रियाएँ कर सकते हैं। इसीलिये आहारक शरीर को मैं सूक्ष्म शरीर कहता हूँ। मुझे बताया गया कि आयुर्वेद में हृदय को ही मस्तिष्क माना गया है।

सांख्य दर्शन के पंचभूत की परिकल्पना की अपेक्षा से अगर दृष्टिपात किया जाए तो माना जा सकता है कि हमारा स्थूल शरीर (औदारिक काया) परमाणु की संरचना के आधार पर पृथ्वी तत्त्व है। सूक्ष्म अर्थात् वैक्रिय शरीर जलभूत है। आहारक अर्थात् अनाहत शरीर वायुभूत है और आगे हम पढ़ेंगे कि शरीर नंबर 4 तेजस् शरीर अग्नि तत्त्व है, अग्निभूत है और अन्तिम कार्मण शरीर आकाशभूत या आकाशीय तत्त्व है।

4. तेजस् शरीर (Heat body) - उपरोक्त तीनों शरीरों को कान्ति देने वाले शरीर को तेजस् शरीर कहते हैं। यह शरीर समस्त संसारी जीवों में अभिन्न रूप से पाया जाता है। यह शरीर औदारिक शरीर को स्वस्थ रखने का व भोजन पाचन का कार्य भी करता है। यह दो भेद रूप है - अभिन्न तेजस् व भिन्न तेजस्।

अभिन्न तेजस् - जो संसारी जीवों की सभी अवस्थाओं में रहता है।

भिन्न तेजस् - जो मात्र लब्धिधारी मुनियों के होता है। यह दो प्रकार का है-

1. शुभ भिन्न तेजस् 2. अशुभ भिन्न तेजस्

शुभ भिन्न तेजस् - तप्त तपस्वी, शुभ लेश्यायुक्त जीवों को इस प्रकार की तेजस् लब्धि प्राप्त होती है। वे अपनी लब्धि के द्वारा दूसरे का अनुग्रह करने में, संकटों से त्राण देने में समर्थ हुआ करते हैं।

अशुभ भिन्न तेजस् - गोशालक के समान जो तपस्या करके लब्धि तो प्राप्त कर लेते हैं किंतु क्रोध आदि कषायों के वशीभूत होकर वे किसी भी प्रकार का शाप दे सकते हैं, अग्नि लगा सकते हैं। कई नगरों को जलाकर नष्ट कर सकते हैं। कई उपद्रवों को पैदा कर सकते हैं।

इस प्रकार यह तेजो लब्धि शुभ व अशुभ दोनों रूपों में प्रयुक्त हो सकती है। तेजो लब्धि का यह प्रयोग तो प्रयोक्ता पर निर्भर करता है। लब्धि तो सदैव निरपेक्ष होती है, प्रयोग करने वाला यदि निष्पक्ष न हो तो यह प्रयोक्ता के विनाश व पतन का कारण भी बन जाती है।

वैज्ञानिक दृष्टि से जैसे भौतिक (औदारिक) शरीर में हृदय रक्त शुद्धिकरण करता है, मगर रक्त बनने के लिए कारखाना पेट होता है। ऐसे ही आहारक शरीर प्राणों को शुद्ध करता है मगर प्राणों को गति देने के लिए ये तेजस् शरीर ताप (heat) देता है। अतः उसे 'पेट शरीर' मान लिया जाए तो समझने में आसानी रहेगी। भौतिक शरीर में इसका स्थान नाभि होता है और यह अग्नि का केन्द्र होता है। यहीं से हमारे प्राण ऊँचे उठते हैं। मगर साधक अगर मिथ्यादृष्टि है तो प्राणों का प्रवाह हृदय और ब्रह्मरंध्र की तरफ न होकर गुप्तांगों की तरफ बहता है, जो साधना में हानिकारक है। यह शरीर दूध में पानी की तरह हमारे अस्तित्व में घुला रहता है। साधक जब अपना वैक्रिय अथवा आहारक शरीर बाहर निकालता है तो यह शरीर दोनों अवस्थाओं में व्याप्त रहता है, जिसका आभास सोने और चांदी के तारों की तरह एक-दूसरे से जुड़ा हुआ रहता है। इसे ऐसे समझ लो जैसे टेलीफोन के तार टेलीफोन एक्सचेंज से जुड़े रहते हैं। इसके अंदर जो अग्नि होती है वह प्रवाहित होते हुए तो भासित नहीं होती मगर ताप रूप आभास होती है, संवेदना बनी रहती है। साधक का संबंध रति अथवा अरतिमय तो रहता है मगर उसका संबंध अक्सर नाभिकीय (genetic) होता है अर्थात् वह भावनात्मक मित्रों से संबंध नहीं रख पाता। मगर जन्म-जन्मांतर के संबंध भी अगर उन मित्रों से हैं तो वह स्मृति बनी रहती है और उनके सुख-दुःख का आभास भी इस शरीर से होता है। कई बार गुरु शिष्य के पुराने जन्मों के संबंध तेज की उत्कृष्टता के कारण औदारिक अर्थात् भौतिक शरीर पर भी असर दिखाते हैं। अक्सर ऐसा प्रियजन के कष्ट, मृत्यु अथवा अत्यंत खुशी के क्षणों में होता है। पेट में गज़ब की शांति अथवा गजब का कष्ट अनुभव होता है। यह साधारण मनुष्य के भी हो सकता है मगर वह समझ नहीं पाता।

तेजस् शरीर को हम एक अन्य अपेक्षा से भी समझते हैं। हमारे औदारिक शरीर में मौजूद D.N.A. (Deoxyribo Nucleic acid) की science से इसे समझ सकते हैं। हमारे भीतर जो आनुवांशिक विशेषताएँ (hereditory) होती है, वह भी तेजस् शरीर का प्रमाण ही है। हमारे शरीर में जो अम्ल (acid) है, वह भी तेजस् शरीर का ही प्रमाण है। अम्ल, भोजन पचाने में उपयोगी तो होता ही है, साथ ही शरीर के ताप को भी maintain करता है। यदि बुखार आ जाता है तो जो ताप पैदा होता है, वह भी तेजस् शरीर का ही प्रमाण है। हमारे शरीर में अगर कोई फोड़ा-फुंसी होता है, तो वहाँ का ताप बढ़ जाता है, वह ताप उस फोड़े-फुंसी को ठीक (cure) करने के लिए होता है, इस प्रकार हमारे शरीर में मौजूद curing power भी तेजस् शरीर का ही परिणाम है। जब एक व्यक्ति मर जाता है तब उसका शरीर ठण्डा पड़ जाता है, क्योंकि तेजस् शरीर उसमें से निकल जाता है। ताप बनाए रखने की विलक्षणता तेजस् शरीर में ही थी। इस तेजस् शरीर को समझने के लिए एक साधक को अपनी भूख को समझना होगा। जब तक एक साधक अपने तेजस् शरीर को नहीं समझ लेता तब तक उसकी आध्यात्मिक यात्रा की शुरूआत नहीं होती। इसीलिए चार संज्ञाओं में आहार संज्ञा को प्रथम स्थान दिया गया है। आहार संज्ञा को समझने व साधने के अनेकों उपाय है। चीन के शाओलिन (Shaolin monestary) में जो छात्र कुंग-फू (kung-fu) का

अभ्यास करने जाते हैं उन्हें दो सूत्र दिए जाते हैं-पहला यह कि जब भूख लगे तब खाना और भूख तृप्त होते ही रूक जाना। दूसरा सूत्र है कि जब प्यास लगे तब पीना और प्यास तृप्त होते ही रूक जाना।

यह सूत्र कितना आसान-सा लग रहा होगा किंतु जब कोई प्रेक्टिस करता है तब पता लगता है कि सूत्र का पूर्वार्द्ध यानि पहले का आधा हिस्सा बहुत आसान है कि जब भूख लगे तब खाना.....किंतु भूख शांत होते ही ठहर जाना, रूक जाना आसान नहीं है। हम तन की भूख शांत हो जाए तब भी स्वाद के वशीभूत होकर खाए ही चले जाते हैं। इसी प्रकार आदतन खाना-पीना जब तक चालू रहता है हम अपने भीतर मौजूद तेजस् शरीर को (heat body) को नहीं समझ सकेंगे।

जब तक तेजस् शरीर को साधा न जाए तब तक कार्मण शरीर को समझना संभव नहीं है। अतः साधक को सबसे पहले खुद के भीतर मौजूद तेजस् को समझना ज़रूरी है। कब खाना, क्या खाना, कितना खाना, कब रूक जाना, खाने के बाद शरीर में क्या-क्या घटित हो रहा है-इन सबको जानना साधना का हिस्सा ही है। समण प्रभु महावीर ने 12½ वर्ष के छद्मस्थ काल में अपने तेजस् शरीर को साध लिया था, यही कारण था कि वे कई-कई माह तक भूख से मुक्त रहे। यहाँ एक बात और समझने की है कि प्रत्येक व्यक्ति का तेजस् शरीर भिन्न-भिन्न होता है। अतः सबके लिए खाने के और नहीं खाने के नियम एक सरीखे कभी भी नहीं हो सकते हैं। हमें दूसरों की नकल नहीं करनी है, न ही समण भगवान महावीर की ही। सबका पेट जुदा-जुदा है, भूख भी और भूख की शांति का स्तर भी। अतः खुद से ही खुद को जानना होगा।

5. कार्मण शरीर (Causal body) -कर्मों के संचयन को कार्मण शरीर कहते हैं। संसार का कारण यह कार्मण शरीर है। समस्त संसारी जीवों द्वारा विभावों में रमण करने के कारण जो कार्मण वर्गणा के पुद्गलों का बंध होता रहता है, वह बंधन कार्मण शरीर बनता जाता है। जब जीव कोई भाव प्रसारित करता है तो सृष्टि के अंदर तद्नुरूप घटनाओं का सृजन होता है। इन घटनाओं की प्रतिच्छाया रूप बीज हमारे शरीर के अंदर अवस्थित हो जाते हैं। इसे उत्तरी ध्रुव-दक्षिणी ध्रुव रूप समझना चाहिए। भविष्य में घटने वाली घटनाएँ संभव है, बहुत बड़ा रूप लिए हुए हो। मगर कार्मण शरीर में ये बिंदु रूप होती है, micro sized होती है। इस प्रकार अनंत बिंदुओं का समूह हमारा यह कार्मण शरीर होता है। जब भविष्य की कोई घटना निमित्त रूप में जीव को प्राप्त होती है तो प्रत्यक्षीकरण अथवा भोग के कारण नष्ट हो जाती है। तो कार्मण शरीर में स्थित बिंदु रूप दूसरा ध्रुव भी नष्ट हो जाता है। इस प्रकार हमारा यह जो शरीर है अथवा हमारे सामने जो भी वातावरण है, सब हमारे कार्मण शरीर के प्रतिरूप बाहर दिखने वाले दृश्य मात्र है। इसीलिए आचारांग सूत्र में स्पष्ट कहा गया है कि 'जो अंदर है वही बाहर है और जो बाहर है वही अंदर है।' बाहर की घटना और अंदर का स्रोत बिंदु-दोनों स्थान एक समजातीय आकर्षण से बंधे रहते हैं। जब कार्मण शरीर अथवा कर्म शरीर अथवा कारण शरीर का वह बिंदु जागृत होकर बाहर की तरफ दौड़ता है तो वे निमित्त भी जीव की तरफ दौड़ते हैं। इसे शास्त्रीय भाषा में 'उदय' और 'उदीरणा' कहते हैं। अन्य भारतीय धर्मावलंबी इसे 'प्रारब्ध' कहते हैं। प्रारब्ध अर्थात् भाव कर्म द्वारा किया गया मूल संचय। जानने योग्य बात यह है कि हम अपने भावों को धर्म-ध्यानपूर्वक बदल कर या परिशुद्ध करके उन घटनाओं को जो समयोचित नहीं है, रोक सकते हैं, उपशम कर सकते हैं, अंदर ही अंदर विसर्जित कर सकते हैं, क्षय कर सकते हैं अथवा रस-परिवर्तन कर सकते हैं। तीव्रता को कम-ज़्यादा कर सकते हैं। इसी अपेक्षा से इस शरीर का विज्ञान जानने योग्य है।

इस प्रकार हमारे चारों शरीर और हमसे संबंधित बाहर का वातावरण जब-जब जैसा भी होता है, उसका

मूल स्रोत यह कार्मण (कारण) शरीर ही होता है। बाहर की घटनाएँ और अंदर के बीज को समझने के लिए दर्पण के उदाहरण से समझा जा सकता है। जैसे कि एक भीमकाय शैतान एक दर्पण से एक कि. मी. दूर है तो वह दर्पण में भी बिंदु रूप एक कि.मी दूर दिख रहा है। जब वह शैतान सौ कि.मी. प्रति घण्टा की रफ्तार से दर्पण की तरफ दौड़ता है तो अंदर का बीज रूप बिंदु भी सौ कि. मी. प्रति घण्टे की रफ्तार से नज़दीक आता है।

अब हम इसको उल्टे क्रम से भी मान सकते हैं कि हमारे कर्म शरीर रूपी दर्पण में मूल कारण बीज रूप कर्म बिंदु जब बाहर की तरफ दौड़ते हैं अर्थात् हमारे औदारिक शरीर की तरफ दौड़ते हैं तो बाहर की घटनाएँ भी हमारी तरफ खिंची चली आती है।

इस प्रकार यह शरीर पाँचों शरीरों में मूल है। जब तक जीव संसार में है तब तक तेजस् और कार्मण शरीर सदैव उसके साथ रहते हैं। मिथ्यात्व, अव्रत, प्रमाद, कषाय और योग-जब तक ये पाँचों आस्रव है, तब तक कार्मण शरीर की विद्यमानता रहती ही है। कर्मों से बने इस प्रकार के शरीर के भीतर निरंतर कर्म store होते रहते हैं, निरंतर कर्मों की delivery भी होती रहती है। निरंतर कर्मों का उपशमन, क्षमन, उदय, उदीरणा, निर्जरा चलती रहती है। इसी शरीर की विविधता के कारण संसार के समस्त देहधारी जीवों में विविधता पाई जाती है। जब ये शरीर नहीं रहते, तब समस्त जीवात्माएँ एक सरीखी 'एगे आया' हो जाती है। जीव का निर्वाण हो जाता है। जीवात्मा 'सिद्ध' रूप हो जाता है। इसी अवस्था को 'शिव' होना भी कहते हैं।

सूत्र-38-40

सूक्ष्मत्व-स्थूलत्व

'जीवतत्त्व' नामक द्वितीय अध्याय के 37 वें सूत्र में हम पाँच प्रकार के शरीर के संबंध में जान चुके हैं। संसारी जीवात्मा शरीर से जुदा कभी होती ही नहीं है। उसके पास हर समय कम से कम दो शरीर (तेजस् व कार्मण) होते ही हैं। औदारिक, वैक्रिय व आहारक शरीर किसी समय कदाचित् हो सकते हैं, किसी समय नहीं। ये तीनों शरीर बार-बार बदले जाते हैं किंतु अंतिम दो शरीर (तेजस् व कार्मण) कभी भी पूर्णरूपेण बदले नहीं जाते। इन पाँचों शरीरों की संरचना भिन्न-भिन्न तरीके की होती है। चूँकि पाँचों शरीरों के कार्यक्षेत्र भी भिन्न-भिन्न है, अतः संरचना में भिन्नता होना स्वाभाविक है। औदारिक आदि पाँचों शरीरों की भिन्न-भिन्न संरचना एवं भिन्न-भिन्न विशेषताओं को वाचक उमास्वाति जी अब आगे के सूत्रों में प्रकट करते हैं।

सूत्र- परं परं सूक्ष्मम् ॥38॥

अर्थ- इन पाँच भेदों वाले शरीरों में पर-पर अर्थात् आगे-आगे का शरीर पूर्व-पूर्व से सूक्ष्म है ॥38॥

विवेचन- कहने का तात्पर्य यह है कि औदारिक शरीर सर्वाधिक स्थूल शरीर है। एक तो वह उदार पुद्गलों से बना है, दूसरा उसकी रचना में प्रयुक्त हुए परमाणुओं का बंध तरल है, शिथिल है, वे सघन रूप से बंधीभूत नहीं हुए हैं। इस कारण औदारिक शरीर सबसे अधिक स्थूल है, दिखलाई भी पड़ता है। किंतु औदारिक से वैक्रिय शरीर सूक्ष्म संरचना वाला है, वैक्रिय से आहारक शरीर सूक्ष्म है, आहारक से तेजस् व तेजस् से कार्मण-उत्तरोत्तर एक दूसरे से अधिकाधिक सूक्ष्म संरचना लिए हैं। औदारिक शरीर की अपेक्षा वैक्रिय शरीर में प्रयुक्त परमाणु कई गुना ज्यादा होने पर भी औदारिक को स्थूल व वैक्रिय को उससे सूक्ष्म कहा गया है। यहाँ सूक्ष्म कहने का कारण रचना की शिथिलता और सघनता से है। उदाहरण के लिए हम समझ सकते हैं कि सोने व हीरे में तुलना किए जाने पर सोना स्थूल व हीरा उससे सूक्ष्म है क्योंकि सोने में व्याप्त परमाणु शिथिल रूप से संबंधित हो पाए हैं बजाय हीरे के। जबकि हीरा कठोर है, उसमें परमाणु सघन रूप से संबंधित हुए हैं। तात्पर्य यह है कि जिस शरीर की रचना जिस दूसरे शरीर की रचना से शिथिल हो, वह उससे स्थूल है, और दूसरा उससे सूक्ष्म है। रचना की शिथिलता और सघनता पौद्गलिक परिणति पर निर्भर है। पुद्गलों में अनेक प्रकार के परिणमन (formation) की शक्ति होती है, अतः परिमाण (quantity) में अल्प होने पर भी जब वे शिथिल रूप में परिणत होते हैं, तब स्थूल कहलाते हैं और परिमाण (quantity) में बहुत होने पर भी जैसे-जैसे सघन होते जाते हैं वैसे-वैसे वे सूक्ष्म-सूक्ष्मतर कहलाते हैं।

उदाहरण के लिए Mercury light व लेज़र किरणों को लें। मर्करी लाइट स्थूल है व लेज़र किरणें सूक्ष्म है। जबकि लेज़र किरणों में व्याप्त परमाणु अधिक सघन रूप से संरचित हुए हैं। ऐसे अनेक उदाहरणों से इस बात को समझा जा सकता है। रूई से वस्त्र, वस्त्र से काष्ठ अधिक स्थूल है क्योंकि इनमें प्रदेशों का अधिक घना बंधन है। इसे आज की वैज्ञानिक भाषा में घनत्व (density) कहते हैं। इनमें एक-दूसरे से प्रदेशों की अधिकाधिक सघनता है, इसी कारण एक-दूसरे से क्रमशः भार भी अधिक होता जाता है। इसी बात को अगले दो सूत्रों में इस प्रकार कहा गया है-

सूत्र- प्रदेशतोऽसंख्येगुणं प्राक्तैजसात् ॥39॥
अनन्तगुणे परे ॥40॥

अर्थ- प्रदेशों की अपेक्षा तेजस् शरीर से पहले के तीनों शरीर एक दूसरे से असंख्यात गुणा अधिक है ॥39॥
परे अर्थात् बाद के दोनों शरीर (तेजस् और कार्मण) प्रदेशों से अनंत गुणा होते हैं ॥40॥

विवेचन- सूत्र संख्या 39 में कहा गया है कि औदारिक शरीर की अपेक्षा वैक्रिय शरीर में असंख्यात गुणा प्रदेश है, वैक्रिय शरीर की अपेक्षा आहारक शरीर में असंख्यात गुणा अधिक प्रदेश है। सूत्र संख्या 40 में कहा गया है कि तेजस् में अनंतगुणा प्रदेश है और कार्मण शरीर में उससे भी अनंतगुणा अधिक प्रदेश है।

इस अखिल जगत में दिखलाई पड़ने वाला समस्त रूपी पदार्थ परमाणु पुद्गलों का समूह है। परमाणु पुद्गलों के (atoms) समूह को शास्त्र की भाषा में 'स्कंध' (molecule) कहा जाता है। प्रत्येक शरीर के बनने में अनंत परमाणुओं के संयोग से बने स्कंध प्रयुक्त होते हैं। यद्यपि प्रत्येक शरीर अनंत परमाणुओं के संघटन से ही बना है तथापि औदारिक शरीर के बनने में जितने परमाणु संयोगित होते हैं, उससे असंख्य गुणा अधिक परमाणुओं के संयोगित होने पर वैक्रिय शरीर निष्पन्न हो पाता है। वैक्रिय शरीर की संरचना में जितने परमाणु प्रयुक्त होते हैं, उससे असंख्यगुणा अधिक परमाणु आहारक शरीर की संरचना में प्रयुक्त होते हैं।

संख्यातीत को 'असंख्य' (innumerable) कहते हैं। जिसका गुणाकार असंख्यात है, वह असंख्येय गुणा कहलाता है।

इसे उदाहरण से समझा जा सकता है-जिस प्रकार रूई के ढेर में परमाणुओं की संख्या जितनी है, उससे अनेक गुणा अधिक लोहे के गोले में हो सकती है जबकि रूई का ढेर ज्यादा स्थान घेरता है व लोहे का गोला कम। ठीक इसी प्रकार औदारिक व वैक्रिय शरीर को समझा जा सकता है। औदारिक शरीर के निर्माण में लगे स्कंधों की रचना से वैक्रिय शरीर के निर्माण में लगे स्कंधों की रचना भिन्न तरह की होती है। आहारक शरीर के निर्माण में लगे परमाणु समूह जुदा प्रकृति के होते हैं।

तेजस् व कार्मण-अंतिम इन दोनों शरीरों में प्रयुक्त परमाणु प्रदेश पूर्वोक्त तीनों शरीरों में लगे परमाणुओं से अनंत गुणा अधिक होते हैं। आहारक शरीर से तेजस् शरीर के प्रदेश अनंत गुणा है ।

यहाँ यह शंका उपस्थित हो सकती है कि प्रत्येक शरीर के परमाणु अनंत हैं तो फिर वे न्यूनाधिक कैसे हैं ?

तो इसका उत्तर है कि जिस प्रकार दो को भी संख्यात कहते हैं, चार को भी संख्यात कहते हैं, इस प्रकार संख्यात के संख्यात विकल्प हैं। ठीक इसी प्रकार असंख्यात व अनंत के भी क्रमशः असंख्यात व अनंत विकल्प है। अतः प्रत्येक शरीर के परमाणु अनंत होते हुए भी उनके न्यूनाधिक होने में कोई आपत्ति नहीं है।

वैसे तो अनंत अनंत ही होता है मगर मानवीय मस्तिष्क की एक कमज़ोरी है, कि वह गणित को आत्मीय भाषा में नहीं समझ पाता। अतः समझाने के दृष्टिकोण से इस अनंत को छोटे-बड़े विकल्पों में उद्धृत किया गया है। उदाहरण के लिए गति की अपेक्षा से हर वृत्त अनंत ही होता है तथा अनादि भी होता है। वह कहाँ से शुरू होता है, यह नहीं बताया जा सकता है और इस पर गोलाकर घूमती गति की कोई मंज़िल नहीं होती। अतः वह अनंत ही होता है। इसके बावजूद भी एक वृत्त छोटा-बड़ा तो हो ही सकता है तो इस छोटे-बड़े होने की अपेक्षा को ही यहाँ समझाया गया है ।

दूसरी बात परमाणु के स्थूल अथवा सूक्ष्म संरचना की है। यह विषय भी हमें ध्यानपूर्वक समझ लेना चाहिए। इस सृष्टि में वैसे तो मूल रूप से सारे पुद्गल परमाणु ही है, जिसे हम ऊर्जा भी कह सकते हैं। ऊर्जा के ये परम कण (photons) जब जीव के भाव प्रमाण से आपस में संयोग, वियोग करते हैं तो स्कंध, प्रदेश आदि रूप से दृष्टिगोचर होते हैं। उस समय भी परमाणुओं का एक स्तोम (निषेक समूह) अनेक परम पुद्गल कणों को लिए रहता है। हर कण दूसरे कण को स्पृष्ट करता है मगर यह स्पर्श मात्र ऊर्जाकीय स्पर्श होता है vibration के ज़रिये ही होता है। अन्यथा परस्पर कणों में दूरी तो बनी ही रहती है। यह बनावट कुछ ऐसी ही होती है जैसे हमारा सौरमंडल। पृथ्वी, सूर्य, चंद्रमा आदि अपने magnetic Field के द्वारा एक दूसरे को स्पर्श करते हैं मगर फिर भी दूरी बनी रहती है। इस संरचना को हम भौतिक परमाणु (atom) की संरचना के माध्यम से समझ सकते हैं। इलेक्ट्रॉन, प्रोटोन और न्यट्रॉन्स में स्पर्श होते हुए भी दूरी बनी रहती है।

पृथ्वी पर व्याप्त वे सारी भौतिक बनावटें, जो हम इन्द्रियों से अनुभव कर पाते हैं-स्यात् स्थूल है। सूक्ष्म शरीर की बनावट में भी मूल पुद्गल परमाणु तो वैसे ही होते हैं मगर बनावट में अंतर होता है। अतः हम उसे इन्द्रियों से अनुभव नहीं कर पाते, इसीलिए उसे तुलना में सूक्ष्म कहा गया है। बनावट की विचित्रता यह है कि एक स्थूल शरीर (औदारिक) में से सूक्ष्म (वैक्रिय) आर-पार हो जाता है मगर हम अनुभव नहीं कर पाते। इसे ठीक ऐसे ही समझना चाहिए जैसे शीशे में पत्थर का कण तो आर-पार नहीं जा सकता है मगर प्रकाश की किरण आर-पार हो सकती है। उससे भी बड़ा रहस्य यह है कि बनावट जितनी सूक्ष्म होती है, बनावट का घनत्व कम होता है, मगर परमाणुओं की संख्या कई गुना ज्यादा होती है। पाँचों शरीरों को क्रम से उत्तरोत्तर सूक्ष्मातिसूक्ष्म जानना चाहिए।

पाँचों शरीरों की संरचना में पाई जाने वाली विशेषताओं को तीन सूत्रों के माध्यम से (सूत्र संख्या 38,39,40) हमने संक्षेप में समझा। अब आगामी सूत्रों में तेजस् व कार्मण शरीर की कुछ विशेषताओं को संकेतित किया जा रहा है।

सूत्र-41-43

शरीर संबंध कब से कब तक

पिछले तीन सूत्रों में हमने औदारिक, वैक्रिय, आहारक, तेजस् व कार्मण-इन पाँचों शरीरों की संरचना में पाई जाने वाली विशेषताओं को समझा था। अब तत्त्वार्थ सूत्र के रचनाकार प्रज्ञापुरूष वाचक उमास्वाति जी तेजस् व कार्मण शरीर की विशेषताओं को मात्र एक-एक पद में प्रकट कर रहे हैं। आईये, हम जानें कि मात्र एक पद कहते हुए दो सूक्ष्म शरीरों का स्वभाव, कालमर्यादा और स्वामित्व को सूत्रकार किस प्रकार कहते हैं-

सूत्र- अप्रतिघाते ॥41॥
अनादि संबंधे च ॥42॥
सर्वस्य ॥43॥

अर्थ- तेजस् व कार्मण दोनों शरीर प्रतिघात रहित हैं ॥41॥
आत्मा के साथ अनादि संबंध वाले हैं ॥42॥
सब संसारी भूत मात्र में होते हैं ॥43॥

विवेचन- पिछले सूत्रों में वर्णित पाँचों शरीर एक दूसरे में समाए हुए, बाल में खाल की तरह होते हैं। जैसे कि आलू बुखारे के ऊपर छिलका होता है। उसके नीचे गूदा होता है। उसके नीचे बीज का ऊपरी खोल होता है। उसके नीचे गिरी का छिलका होता है। उसके नीचे गिरी होती है और इन सबसे परे सूक्ष्म परम सूक्ष्म बिंदु में सिंधु की तरह आत्माराम जी होते हैं। जो एक अपेक्षा से शून्य ही है तो दूसरी अपेक्षा से संपूर्ण सृष्टि में व्याप्त हो सकते हैं। ठीक इसी तरह हमारी आत्मा पंच आयतनधारी होती है। सबसे ऊपरी सिरा औदारिक अथवा स्थूल शरीर होता है। यह पृथ्वी गुण शरीर होता है। इसकी परमाणु संरचना ही कुछ ऐसी होती है कि इसका घात-प्रतिघात किया जा सकता है। इसको दबाया जा सकता है, छेदा जा सकता है, भेदा जा सकता है, फुलाया जा सकता है जैसा कि संसार में सारी वस्तुओं के साथ हम देखते हैं।

स्थूल औदारिक शरीर के अंदर एक कमरे में दूसरे कमरे की तरह वैक्रिय शरीर होता है जो अक्सर देवता और नारकी के जीवों में होता है। यहाँ, बाहर के कमरे को नष्ट कर दिया गया हो तब अंदर का कमरा प्रकट हुआ, ऐसा समझना चाहिए। मनुष्यों में लब्धिधारी गुरूओं और उच्च कोटि के साधकों में यह शरीर होता है मगर आम तौर पर सभी मनुष्यों के यह वैक्रिय शरीर नहीं होता । इसे ऐसे समझ सकते हैं कि कमरे में रहने वाले किसी व्यक्ति ने अपने बाहर के कमरे को और ज्यादा चौड़ा करने के लिए अंदर के कमरे को तोड़ कर साफ कर दिया हो। मगर

जहाँ पर अंदर का कमरा अर्थात् वैक्रिय शरीर की दीवारें थी, वह निशान तो रहते ही है। अतः वैक्रिय लब्धि प्राप्त होने की संभावना हर मनुष्य में बनी रहती है।

वैक्रिय शरीर जल गुण प्रधान है। अतः इसका भी प्रतिघात होता है। यह स्वाद प्रधान होने से स्थूल शरीर से ज्यादा प्रभावी होता है। इसलिए देवता लोग हमेशा स्वाद और गंध के भूखे होते हैं। पृथ्वी गुण वाले औदारिक/स्थूल शरीर की तरह यह शरीर कर्म प्रधान नहीं होता है, भाव प्रधान होता है। फिर भी कर्म क्रियाओं से अथवा भाव क्रियाओं से व्यवधानित तो होता ही है, अतः उसका भी घात-प्रतिघात किया जा सकता है, ऐसा सूत्रों का कहना है। जिस प्रकार समुद्र अथवा तालाब में एक कंकर फेंकने से भी व्यवधान उपस्थित हो जाता है, समुद्र का घात होता है। ऐसे ही वैक्रिय शरीर स्थूल नहीं होते हुए भी स्थूल उपकरणों से अथवा सूक्ष्म उपकरणों से प्रतिघातित किया जा सकता है। जैसे, समुद्र पर पड़ रहा सूर्य का ताप उसके पानी को भाप में परिवर्तित कर देता है अथवा वायु उनमें लहरें उत्पन्न कर देती है, ऐसे ही वैक्रिय शरीर को जानना चाहिए। वैक्रिय शरीरधारी देवता स्वयं कर्मकर्त्ता तो नहीं होता मात्र पूर्व जन्मकृत कर्मों का भोक्ता होता है, मगर पूजा के उपकरणों से, दुर्गंध से, स्थूल परिस्थितियों से अथवा भावयुक्त मंत्रों से उनका घात-प्रतिघात किया जा सकता है, उन्हें बींधा जा सकता है, बांधा जा सकता है, मारा-काटा जा सकता है और यह आपस में लड़कर भी एक-दूसरे को मार-काट सकते हैं। देवासुर संग्राम का उल्लेख शास्त्रों में भरा पड़ा है। विशेष बात यह है कि यह देवता लोग आपस में बुरी तरह से लड़ते हैं, एक दूसरे को मारते हैं, काटते हैं, एक-दूसरे की देवियों की चोरियाँ कर लेते हैं और मंत्रों से बिंधकर तांत्रिकों से बड़ा दुःख प्राप्त करते हैं। अतः यह शरीर भी घात-उपघात को प्राप्त करने वाला है।

तीसरा शरीर आहारक शरीर भी स्थूल अथवा वैक्रिय शरीर का ही एक सूक्ष्म प्रतिरूप होता है, अतः वह भी घात-उपघात को प्राप्त करने वाला होता है। तंत्र में मंत्रों द्वारा जब 'मूठ' मारी जाती है तो वह इसी आहारक शरीर पर घात होता है।

इसके बाद के दो शरीर के बारे में आख्यान किया गया है कि यह दोनों शरीर घात-उपघात की घटनाओं से सर्वथा रहित होते हैं। इसका यह अर्थ नहीं समझना चाहिए कि यह शाश्वत हो गए हैं। कार्मण शरीर तो प्रतिक्षण बदलता रहता है। यह आकाश गुण प्रधान होने से इसमें सूक्ष्म से सूक्ष्मतम घटनाएँ प्रतिपल सृजित होती रहती है और नष्ट भी होती रहती है अर्थात् बंध और निर्जरा दोनों इसमें सतत् होते रहते हैं। ह्रास और विकास अथवा हानि-लाभ इसमें निरंतर जारी रहता है। फिर भी इसे घात-प्रतिघात से सर्वथा रहित बताया गया है। इसका कारण यह है कि तेजस् और कार्मण शरीर में जो भी क्रिया-प्रतिक्रिया-विक्रिया आदि होती है, वह सब (उसके) निज के द्वारा ही होती है। कोई दूसरी शक्ति वहाँ आघात-प्रतिघात नहीं कर सकती। वह अपने भावों द्वारा लोक में कई परमाणुओं को प्रभावित तो कर सकता है मगर वे परमाणु इसे ताड़ित-प्रताड़ित नहीं करते। जीव की अपनी इच्छा और भाव से ही बँधते हैं या छूटते हैं। अतः इन दोनों शरीरों को सर्वथा घात रहित कहा गया है। आध्यात्मिक दृष्टिकोण से यही वह स्थान है, जहाँ से आत्मा सर्वथा अन्यों से अप्रभावित और आत्मनाथ होता है, स्वयं कर्त्ता और स्वयं भोक्ता होता है। औदारिक अथवा स्थूल शरीर में हम लोग दूसरों से प्रभावित, प्रकाशित, प्रताड़ित, प्रतिबंधित होते ही हैं। सूक्ष्म शरीर के अन्तर्गत देवता लोग भी वैक्रिय परिस्थितियों से प्रभावित उत्थानित, पतित, प्रताड़ित आदि होते ही हैं। आहारक शरीर के अंतर्गत साधक भी अपनी सहज गति में मंत्र, तंत्र अथवा अन्य कई आहारक परिस्थितियों से बाधित होते ही हैं। कई बार साधक आहारक शरीर द्वारा अपने औदारिक शरीर/स्थूल शरीर से बाहर निकला हुआ होता है, लोक में भ्रमण कर रहा होता है और रास्ते में उसके साथ हिंसक प्रयोग हो जाता है अथवा उसका स्थूल

शरीर जला दिया जाता है, इस प्रकार वह बाधा को प्राप्त करता है मगर कार्मण और तेजस् शरीर में ऐसा नहीं होता।

दूसरी प्रमुख बात यह है कि औदारिक और वैक्रिय शरीर तो जन्म-जन्मांतर में बदलता रहता है। जन्म तो हम बदलते फैशन की तरह लेते रहते हैं। कभी कपड़े पहनते हैं, कभी नंगे ही रहते हैं। ऐसे ही कभी तिर्यंच लोक में स्थूल शरीरधारी बनते हैं तो कभी देव या नारकी में वैक्रिय शरीरधारी गोया नग्न ही उत्पन्न होते हैं। मगर तेजस् और कार्मण यह दो शरीर बदले नहीं जाते। यह तो एक जीव के साथ अनादि है। इसका कोई प्रारंभ नहीं है। जैसे, एक व्यक्ति का शरीर चय-उपचय को प्राप्त होता रहता है वैसे ही इनमें परिवर्तन तो लगातार होते रहते हैं मगर शरीर बदलते नहीं। इसे एक मकान के दृष्टिकोण से समझा जा सकता है कि एक मकान में रहने वाला व्यक्ति अपने मकान का नवीनीकरण (alteration) तो हर साल करवाता है मगर कभी अपने मकान को बदलता नहीं, हमेशा उसी मकान में रहता है। इसी प्रकार एक जीव अपना तेजस् और कार्मण शरीर छोड़कर दूसरा धारण नहीं कर सकता।

अगला सूत्र कहता है कि जिस तरह से यह शरीर जीवात्मा के साथ स्थायी होते हैं; ठीक उसी तरह से यह जीव सब जगह होते हैं, सर्वस्य होते हैं। सर्वस्य से तात्पर्य यह है कि समय के आयाम में यह शरीर बड़ा विचित्र और व्ययनित होता है, लंबोतर होता है अर्थात् भूत-भविष्य में सब जगह उसके साथ रहता है। अगर कोई वैज्ञानिक कदाचित् उन्नत विज्ञान के उपकरणों के माध्यम से हज़ार साल पहले की दुनिया में पहुँच जाए तो उस समय भी उसे वहाँ घटित सारी घटनाएँ और संबंधित सारे जीवों के तेजस् व कार्मण शरीर वहीं मिलेंगे। अतः यह दोनों शरीर सर्वस्य होते हैं। जब भावी कोई घटना भोग द्वारा निर्जरित हो जाती है तो यह शरीर प्रकाश में प्रकाश की तरह वर्तमान के केन्द्र-बिंदु में व्याप्त हो जाता है मगर जब तक घटना वर्तन में निरस्त नहीं होती, वह भविष्य में भी रहता ही है। इसे ऐसे समझो, सूर्य तो पृथ्वी के ठेठ प्राचीर में है मगर जहाँ तक उसकी किरणें जाती है, वहाँ भी उसका तेजस् और कार्मण रूप रहता ही है। इस प्रकार सूर्य भौतिक रूप से एक जगह स्थित होते हुए भी कार्मण और तेजस् रूप में सर्वस्य होता है, ऐसे ही जीवधारी में तेजस् और कार्मण सर्वस्य होता है।

सूत्र-44

एक साथ में शरीर कितने ?

सूत्र- तदादीनि भाज्यानि युगपदेकस्या चतुर्भ्यः ॥ 44॥

अर्थ- एक साथ एक जीव के तेजस् और कार्मण से लेकर चार तक शरीर विकल्प से होते हैं ॥44॥

विवेचन- प्रस्तुत सूत्र का अभिप्राय यह है कि एक शरीर किसी भी संसारी जीव को नहीं हो सकता, कम से कम दो होंगे और साधारणतया अधिक से अधिक चार हो सकते हैं।

जीव के दो शरीर हो तो तेजस् व कार्मण होते हैं। ये दोनों भवांतर गमन के समय होते हैं। जीव के यदि तीन शरीर हो तो तेजस्, कार्मण, औदारिक अथवा तेजस्, कार्मण व वैक्रिय होता है। ध्यान में लाने योग्य बात यह है कि आहारक और वैक्रिय शरीर एक जीव में एक साथ नहीं हो सकते। (लब्धि प्रयोगरूप) इसका कारण यह है कि वैक्रिय शरीर देवों और नारकियों में होता है। उनके तो आहारक शरीर संभव ही नहीं है क्योंकि पूर्वाचार्यों की ऐसी मान्यता है कि आहारक शरीर केवल चौदह पूर्वधारी संयति अप्रमत्त मुनियों के पास आहारक लब्धि पाए जाने पर होता है। इसी नियम से तिर्यंच जीवों और सामान्य मनुष्यों के भी आहारक शरीर संभव नहीं है।

विशिष्ट लब्धिधारी चौदह पूर्वधारी मुनिराजों को वैक्रिय शरीर बनाने की लब्धि व आहारक शरीर बनाने की लब्धि -दोनों ही लब्धियाँ प्राप्त तो हो सकती है किंतु किसी भी एक समय में दोनों लब्धियों का इकट्ठा प्रयोग नहीं किया जा सकता। एक समय में वे एक ही शरीर बना सकते हैं-चाहे वैक्रिय, चाहे आहारक। अतः एक जीव के एक साथ (एक समय में) कम से कम दो और अधिक से अधिक चार शरीर ही संभव है। पाँचों शरीर किसी के नहीं हो सकते। ये बात किसी एक जीव विशेष के हिसाब से कही गई है किंतु सर्वजीवों में पाई जाने वाली शरीर लब्धि की अपेक्षा से नहीं। सर्वजीवों की अपेक्षा से नरक व देव गति के सभी जीवों में तीन शरीर पाए जाते हैं-वैक्रिय, तेजस् व कार्मण। तिर्यंच गति के जीवों में चार शरीर पाए जा सकते हैं-औदारिक, वैक्रिय, तेजस् व कार्मण। मनुष्य गति में पाँचों शरीर पाए जा सकते हैं।

भगवती सूत्र में ऐसा प्रसंग मिलता है, जहाँ गौतम स्वामी भगवान महावीर से प्रश्न करते हैं कि भंते ! जीव सशरीर जन्म लेता है या अशरीर ? तब प्रभु उनके प्रश्न का समाधान करते हुए कहते हैं कि-

गोयमा ! ओरालिय-वेउव्विय-आहारियाइं
पडुच्च असरीरी वक्कमइ।
तेयाकम्माइं पडुच्च ससरीरी वक्कमइ। (भगवती शतक 1 उद्देशक)

अर्थात् हे गौतम ! औदारिक, वैक्रिय व आहारक शरीर की अपेक्षा से जीव अशरीरी गमन करता है और तेजस् व कार्मण की अपेक्षा से जीव सशरीरी जन्म लेता है।

यद्यपि तेजस् और कार्मण-ये दो शरीर कभी अलग नहीं होते हैं तथापि किसी-किसी आचार्य की ऐसी मान्यता भी है कि तेजस् शरीर कार्मण शरीर की तरह यावत् संसार भावी नहीं है, वह आहारक की तरह लब्धि जन्य ही है। इस मत के अनुसार अंतराल गति में केवल कार्मण शरीर होता है, अतएव उस समय में एक शरीर का होना संभव है।

जिज्ञासु द्वारा प्रश्न पूछे जाने पर कि क्या सब मनुष्यों में पाँचों शरीर होते हैं ? एक बार गुरूजी ने कहा कि 'शास्त्रकारों का कथन है कि आहारक और वैक्रिय शरीर लब्धि प्राप्त होता है एवं औदारिक, तेजस्, कार्मण तो होते ही हैं। मगर गूढ़ रहस्य की बात यह है कि बीज रूप में पर्याप्ति जिन मनुष्यों को हो जाती है, उनमें जन्म से ही ये दोनों शरीर बीजरूप में विद्यमान होते हैं। बाद में परिस्थितिजन्य नियति-संयोग से अंतराय कर्म का क्षयोपशम होता है, तब ये पर्याप्ति प्रकट रूप में विद्यमान हो जाती है। मगर यह आवश्यक नहीं है कि वैक्रिय शरीर हर एक जीव में पर्याप्ति के रूप में हो ही। मगर जिन भी व्यक्तियों में वैक्रिय पदार्थों को देखने की शक्ति है, उनमें वैक्रिय शक्ति बीज रूप में विद्यमान है ही।

आहारक शरीर हर शरीर के साथ में, तेजस् शरीर के साथ में किसी न किसी रूप में जुड़ा रहता ही है मगर अलग से स्वतंत्र अस्तित्व सिर्फ लब्धिधारियों को ही होता है। इसलिए पर्याप्ति भी दो तरह की कही गई है-लब्धि एवं करण पर्याप्ति।

गूढ़ बात यह है कि जिस तरह औदारिक शरीर अर्थात् भौतिक शरीर में हृदय होता है, ठीक उसी तरह आहारक शरीर भी एक अपेक्षा से वैक्रिय शरीर का हृदय रूप होता है, जिससे वैक्रिय शरीर के प्राण संयत व सुव्यवस्थित रहते हैं। उसे अलग मानने का कारण यह है कि कई बार वैक्रिय शरीर गुप्त रहता है मगर आहारक शरीर को अलग करके उस शरीर से मनुष्य समय में अथवा आकाश में यात्रा कर सकता है। जब यह शास्त्र लिखे गए, उस ज़माने में शल्य चिकित्सा के चमत्कार नहीं हुए थे। अतः आहारक शरीर को अलग मान लिया गया। वैसे यह आहारक शरीर ही होता है जो तेजस्, कार्मण शरीर अथवा गुप्त रूप से औदारिक शरीर का संबंध सेतु होता है। आजकल चिकित्सा विज्ञान में open heart surgery की जाती है जिसमें हृदय को बिल्कुल बाहर निकाल दिया जाता है। ठीक इसी तरह आहारक शरीर को भी वैक्रिय शरीर से पृथक् किया जा सकता है। यह आहारक शरीर लगभग हमारे हृदय के आकार का अथवा यूँ कह दो कि हमारे हृदय का विपरीत छोर होता है, हृदय की negative film होती है जो हृदय की उल्टी दिशा यानि शरीर के दाहिने भाग में छाती के बीच में होती है।

सारांश-निश्चय में शरीर तीन ही होते हैं-औदारिक (gross physical body), वैक्रिय अथवा सूक्ष्म (astral body) तथा कार्मण अथवा कारण शरीर (causal body)। जिस प्रकार भौतिक शरीर का संचालन हृदय से होता है और उसमें रक्त का संचार होता है, ठीक इसी प्रकार वैक्रिय शरीर में प्राणों का संचार होता है और उसका केन्द्र बिंदु आहारक शरीर होता है। कार्मण शरीर में मात्र भावों का संचरण होता है, उसका केन्द्र बिंदु अथवा हृदय रूप तेजस् शरीर होता है। देवता और नारकी में वैक्रिय शरीर जिसे सूक्ष्म शरीर भी कहते हैं, (astral body) होता है। उनके पास भौतिक शरीर नहीं हो सकता मगर हमारा अनुभव है कि कुछ देवी-देवता अपने इच्छाबल से कुछ समय के लिए भौतिक परमाणुओं का आह्वान करके भौतिक शरीर को प्राप्त कर सकते हैं। ऐसी स्थिति में कोई भौतिक

शरीरधारी मनुष्य देवता के उस रूप को अर्थात् भौतिक रूप को स्पर्श कर सकता है, संभोग कर सकता है, मगर यह अपवाद ही है। इसी प्रकार देवता और नारकी को छोड़कर अन्य स्थावर और तिर्यंच जीवयोनि में औदारिक भौतिक शरीर पाया जाता है। इनके पास देवताओं जैसा वैक्रिय शरीर नहीं होता। यह सब होते हुए भी कुछ साधक साधना द्वारा वैक्रिय लब्धि को प्राप्त करके वैक्रिय शरीरधारी हो सकते हैं। कुछ लोगों में पूर्वजन्म के कारणों से ऐसी योग्यता सहज ही होती है । इस सृष्टि में सिद्धात्मा को छोड़कर शेष देहधारी जीवों में स्यात् औदारिक या वैक्रिय में से कोई एक शरीर होता है मगर कार्मण शरीर तो होता ही है क्योंकि बाकी के शरीरों का मूल कारण यह कार्मण शरीर (causal body) ही है। यह शरीर भावमात्र से बनता-बिगड़ता रहता है। भावमात्र ही हमारे कर्म होते हैं। वे ही इस संसार के सृजन-विसर्जन का कारण होते हैं। इस भाव शरीर अर्थात् कारण का केन्द्र तेजस् शरीर होता है। तेजस् का अर्थ होता है भावों का प्रकाश। इस प्रकार यह शरीर विज्ञान की व्याख्या हुई । आत्मज्ञानी श्री विराट गुरूजी प्ररूपित यह व्याख्या अनूठी व अनुपम है, इसे अन्य किसी ग्रंथों में नहीं पाया जा सकता। ये स्वयं उनकी अनुभूतिगम्य विवेचना है जिसे स्वयं अनुभव करके ही जाना जा सकता है।

सूत्र-45

निरूपभोगी है कार्मण

इस संसार में मौजूद प्रत्येक पदार्थ का कोई न कोई प्रयोजन होता है, उपयोग भी होता है। जीव के साथ पाए जाने वाले शरीर भी सप्रयोजन हैं, निष्प्रयोजन नहीं। हम सभी देहधारी प्राणी शरीर के माध्यम से ही संसार से संपर्क स्थापित करते हैं। शरीर के होने पर ही कर्मों का भोग एवं कर्म निर्जरा सक्षम है। जब तक हम सशरीर हैं, तब तक ही इन्द्रियाँ है, संवेदनाएँ है, सुख-दुःख है। तत्त्वार्थ सूत्रकार वाचक उमास्वाति बताते हैं कि शरीर के माध्यम से उपभोग होता है किंतु वह उपभोग चार शरीरों द्वारा तो संभव है, अंतिम शरीर द्वारा नहीं। अतः पाँच शरीरों में पाई जाने वाली विशेषताओं व विलक्षणताओं का कथन करते हुए द्वितीय अध्याय के 45 वें सूत्र में वे कहते हैं कि-

सूत्र- निरूपभोगमन्त्यम् ॥45॥

अर्थ- अंतिम अर्थात् कार्मण शरीर उपभोग से रहित है ॥45॥

विवेचन- कार्मण शरीर के पास न तो कोई इन्द्रियाँ है, न ही वह सावयवी है। यह अत्यन्त सूक्ष्म शरीर है, जिसे छद्मस्थों के द्वारा देखा जाना अशक्य है। ऐसे में यह शरीर भोगोपभोग में ज़रा भी प्रवृत्त नहीं हो सकता है। हाँ, यही वह शरीर है, जिसके कारण शेष शरीरों द्वारा भोगोपभोग हो पाता है किंतु यह स्वयं कुछ भी भोगने में असमर्थ है। औदारिक, वैक्रिय व आहारक - ये तीनों शरीर अंगोपांगों सहित होते हैं, अतः ये उपभोग में समर्थ है किंतु तेजस् व कार्मण - ये दोनों शरीर इंद्रियरहित हैं। वे मीडिया हैं, जिसके द्वारा जीवात्मा बाहर के संसार से संपर्क स्थापित करता है। शब्द, रूप, गंध, रस व स्पर्श को ग्रहण कर पाता है, उन पर अपनी अनुकूल व प्रतिकूल संवेदनाएँ भी व्यक्त कर पाता है। यदि इन्द्रियाँ विकसित न हो तो जीव भोगोपभोग में समर्थ नहीं हो पाता है और चूंकि तेजस् व कार्मण इन्द्रियों वाले शरीर नहीं है, अतः ये 'निरूपभोगी' कहलाते हैं। मूल में शरीर के सारे चयोपचय का केन्द्र तेजस् शरीर होता है, भले वह भौतिक शरीर को चलावे या वैक्रिय शरीर को।

इन दोनों में भी तेजस् शरीर निरूपभोगी नहीं है क्योंकि वह तो तेजस् लब्धि प्रयोग के कारण कभी शाप देने में तो कभी अनुग्रह करने में प्रवृत्त हो सकता है। तेजस् शरीर औदारिक शरीर द्वारा ग्रहण किए गए भोजन को पचाने का कार्य भी करता है, अतः वह निरूपभोगी नहीं है।

कार्मण शरीर समस्त प्रवृत्तियों का कारण है किंतु स्वयं कर्त्ता नहीं है, यह बात भी इस सूत्र द्वारा स्पष्ट सूचित हो रही है। कार्मण शरीर कार्मण वर्गणा के पुद्गल परमाणुओं का stock मात्र है। यह जड़ है, संसार में जीव की हो रही समस्त घटनाओं का कारण है। अतः एक अपेक्षा से देखा जाए तो समस्त उपभोग कार्मण शरीर के ही उपभोग है किंतु वह स्वतंत्र रूप से कुछ भी उपभोग नहीं कर सकता जब तक कि औदारिक आदि अन्य चार शरीरों

का संयोग ना हो; सहयोग न हो ! इसीलिए प्रत्यक्ष सहयोगी चार शरीरों को सोपभोग (उपभोग सहित) कहा गया है व परंपर साधन होने से कार्मण शरीर को निरूपभोग कहा गया है।

इस सूत्र को समझने के लिए कर्म प्रकृति को ध्यान में ले लेना चाहिए। इस सृष्टि में दो तत्त्व प्रमुख हैं- एक जीव (शिव), दूसरा परमाणु पुद्गल। जीव जब भाव करता है तो उसके भाव कुछ नग्न परमाणुओं को अथवा अनग्न परमाणु समूहों को आकर्षित-विकर्षित करते हैं, आंदोलित करते हैं, प्रकंपित करते हैं, संयोगित-वियोगित करते हैं। तब वे परमाणु उस जीव की आत्मा पर आवरित हो जाते हैं। इन परमाणु निषेकों को जीव के 'कर्म' कहा गया है और कर्मों के कुल समूहों को 'कार्मण शरीर' या 'कारण शरीर' कहा गया है। जैसा जीव का कार्मण शरीर होता है, वैसी ही विस्तृत घटना छाया रूप में सृष्टि में बाहर होती है जिसका प्राथमिक प्रकट-दृष्टा रूप मनुष्य का औदारिक या वैक्रिय शरीर होता है और उत्तर रूप उस शरीर के आजू-बाजू का वातावरण, वैश्विक परिवेश। यह सारा वैश्विक परिदृश्य जीव के भौतिक या वैक्रिय शरीर द्वारा भोगा जाता है और भोग के साथ में कार्मण शरीर से संबंधित कर्म निषेक निर्जरित हो जाते हैं। अतः भोगोपभोग का कारण तो कार्मण शरीर होता है मगर वह स्वयं भोग नहीं करता। अतः उसे निरूपभोग कहा गया है। इसी बात को अन्य अपेक्षा से कहें तो कार्मण शरीर 'काम' रूप होता है। शेष पाँचों शरीर 'भोग' रूप होते हैं। जहाँ तक तेजस् शरीर की बात है वह कार्मण शरीर का सत्ता केन्द्र होता है, अतः निर्जरा और बंधन की क्रियाएँ तो वहाँ होती है। इस अपेक्षा से उसे भले भोगयुक्त मान लिया जाय अन्यथा तेजस् शरीर भी उपभोगमय नहीं होता। देवता और नारकी वैक्रिय शरीर द्वारा सृष्टि को भोगते हैं और शेष भौतिक शरीरधारी जीव औदारिक अथवा भौतिक शरीर द्वारा इस सृष्टि को भोगते हैं। कर्मवाद के सिद्धांत को समझने के लिए हमें यह नहीं भूलना चाहिए कि हर जीव बाहर जो सृष्टि लोकित करता है, locate करता है, नियत समझता है, अनुभव करता है, वह उसका भोग ही कर रहा है। वह जिसका भोग कर रहा है, वह बाहर कुछ नहीं, उसके अंदर विद्यमान चित्तों का प्रतिबिंब मात्र ही है। बाहर वह अंदर के कर्मकणों की छाया अथवा प्रकाश को अनुभव करता है, भोगता है और निर्जरित कर देता है। यह सब शेष पाँचों शरीरों द्वारा होता है। अगर कोई इन भोग के क्षणों में नया भाव नहीं करे तो उसके कर्मकण निर्जरित होते जाते हैं, उसका काम शरीर अर्थात् कारण शरीर या कार्मण शरीर धीरे-धीरे मुक्त बनता जाता है। जब सारे कर्म-कण नहीं रहते तो कोई शरीर नहीं बचता, कार्मण शरीर भी नहीं बचता। आत्मा की उस परमात्म अवस्था अथवा ईश्वरीय अवस्था को 'मोक्ष' कहा गया है। इन पाँचों शरीरों में से कौन से शरीर के स्वामी कौन से जीव होते हैं, इसका वर्णन आगामी सूत्रों में किया जाएगा।

सूत्र-46-48

किसको मिली कौनसी देह

सभी जीवात्माएँ स्वभावतः और स्वरूपतः एक समान होने पर भी इस संसार में वे विविध विचित्रताओं को धारण किए रहती है। इस संसार की विविधताओं का कारण जीवात्मा के अपने-अपने काम-कल्प होते हैं। हर जीव अपना जीवन निर्माण स्वयं ही करता है। अपनी देह का चुनाव भी स्वयं ही करता है। पुद्गल- परमाणुओं को अपने भावों-अध्यवसायों के अनुरूप कंपित व आवेशित करके उसे विविध रूपों में प्ररूपित करता है। इस संपूर्ण प्रकृति में व्याप्त सारी व्यवस्थाओं का कारण समस्त जीवास्तिकाय का अद्भुत उपादान (ग्राह्य बल या योग्यता) ही है। किंतु वही जीव जो इस समष्टि का नियंता है, अपने ही भावों से विभाव कल्प कर इस प्रकृति का गुलाम हो जाता है। स्वयं ही बंधता है, स्वयं ही स्वयं को बांधता है। जीव स्वयं ही अपने लिए शरीर का चुनाव करता है और फिर उस शरीर में बंध कर जीने के लिए वह बाध्य हो जाता है। अज्ञान के कारण इस संसार में भटक रही जीवात्माएँ संसार के कारणभूत -'काम-कल्प' को समझ नहीं पाती और परिणामों को भोगते समय परेशान होती हैं।

जीव का अपना विभाव कल्प ही उसे चारों गति का परिभ्रमण कराता है। जब जीव औदारिक देह में होता है तो मनुष्य व तिर्यंच गति का अतिथि होता है। इसी तथ्य को वाचक उमास्वाति इस प्रकार कहते हैं कि-

सूत्र- गर्भसम्मूर्च्छन जमाद्यम् ॥46॥

अर्थ- गर्भ और सम्मूर्च्छिम रूप से उत्पन्न होने वाले जीवों के औदारिक शरीर होता है ॥46॥

विवेचन- गर्भ और सम्मूर्च्छिम रूप से जन्म सिर्फ मनुष्यों और तिर्यंचों का ही होता है, अतः औदारिक शरीर भी इन्हीं दो गति के जीवों के पास होता है।

जो जीव माँ के गर्भ से उत्पन्न होते हैं, उन्हें गर्भज कहा जाता है। जैसे- मनुष्य व अनेक तिर्यंच प्राणी (संज्ञी पंचेन्द्रिय)। जो जीव वातावरण के संयोग से बिना किसी नर-मादा के योग के यूँ ही उत्पन्न हो जाते हैं, ऐसे असंज्ञी जीव 'सम्मूर्च्छिम' कहलाते हैं। एकेन्द्रिय से चतुरिन्द्रिय अवस्था वाले सभी जीव एवं असंज्ञी मनुष्य व असंज्ञी तिर्यंच पंचेन्द्रिय भी सम्मूर्च्छिम होते हैं। जो शरीर गर्भ जन्म से और सम्मूर्च्छन जन्म से उत्पन्न होता है, वह सब औदारिक शरीर है, यह इस सूत्र का तात्पर्य है।

इसके अनंतर जिस शरीर का निर्देश किया गया है, उसकी उत्पत्ति किस जन्म से होती है, इस बात का ज्ञान कराने के लिए आगे का सूत्र कहते हैं-

सूत्र - वैक्रियमौपपातिकम् ॥47॥
लब्धि प्रत्ययं च ॥48॥

अर्थ- वैक्रिय शरीर उपपात जन्म से होता है ॥47॥
यह लब्धि से भी होता है ॥48॥

विवेचन- यहाँ सूत्रकार कह रहे हैं कि वैक्रिय शरीर उपपात जन्म से हुआ करता है। चूँकि यह उपपात जन्म नारकी व देवों का हुआ करता है, अन्य जीवों का नहीं, अतः उपपातजन्य वैक्रिय शरीर भी इन दो गतियों में ही पाया जाता है। इसे भवधारणीय वैक्रिय शरीर भी कहते हैं। यह वैक्रिय भव-सापेक्ष होने से भवधारणीय कहलाता है किंतु सूत्र संख्या 48 में कहा गया है कि वैक्रिय शरीर लब्धि अर्थात् ऋद्धि विशेष से भी प्राप्त होता है।

लब्धि एक तपोजन्य शक्ति है। यह शक्ति संज्ञी तिर्यंच व संज्ञी मनुष्य में विशिष्ट साधना, तपस्या आदि द्वारा प्रकट हो सकती है। इस प्रकार की लब्धि से जो शरीर उत्पन्न होता है, वह 'लब्धि प्रत्यय' कहलाता है। कई मनुष्य ध्यान साधना, विशिष्ट तप आराधना द्वारा ऐसी शक्ति प्रकट कर लेते हैं कि वे विकुर्वणा कर सके।

हमारे शास्त्रों में ऐसे अनेक मुनियों का वर्णन मिलता है जिन्होंने वैक्रिय लब्धि का प्रयोग कर संघ की रक्षा की व धर्म की प्रभावना की। विष्णुकुमार मुनि ने वैक्रिय लब्धि का प्रयोग कर एक लाख योजन की अपनी अवगाहना बना कर नमुचि प्रधान की गलत योजना को असिद्ध कर दिया। जगत सम्राट विजयशांति सूरीश्वर जी गुरूदेव ने केसरिया तीर्थ की रक्षा के लिए अपनी वैक्रिय लब्धि का प्रयोग किया।

ऐसी अनेकानेक घटनाएँ अनेकों महापुरूषों के जीवन में मिलती है। कई एक तिर्यंच प्राणी भी पूर्वभव में की गई तपस्या एवं साधना के प्रभाव से वैक्रिय लब्धि प्राप्त कर पाते हैं। पाँच स्थावरों में से बादर वायुकाय में भी वैक्रिय शरीर की उपलब्धि पाई जाती है। गोम्मटसार जीवकांड, गाथा 232 में तैजस्कायिक जीवों में भी वैक्रिय लब्धि स्वीकार की गई है किंतु यह तपोजन्य नहीं, स्वाभाविक है। तीर्थंकर, चक्रवर्ती एवं वासुदेवों में भी वैक्रिय लब्धि होती है और वह भी गृहस्थाश्रम में यह लब्धि उनको नैसर्गिक ही प्राप्त होती है।

सार यह है कि देव और नारकों को तो वैक्रिय शरीर जन्म से ही प्राप्त होता है किंतु मनुष्यों और तिर्यंचों को लब्धि विशेष से अपनी सुप्त वैक्रिय क्षमता को जगा कर इसे प्रकट करना होता है। कई मनुष्यों में यह सहज अकाम निर्जरा द्वारा भी प्राप्त हो जाता है, चाहे वे इसे समझ पाएँ अथवा नहीं।

दिगंबर परंपरा के तत्त्वार्थ सूत्र में इस सूत्र के बाद 'तैजसमपि' सूत्र दिया गया है जिसका अर्थ है कि तेजस् शरीर भी लब्धि से प्राप्त होता है किंतु यह सूत्र श्वेतांबर परंपरा के उपलब्ध तत्त्वार्थ सूत्र में नहीं मिलता है किंतु द्वादशांगी के तीसरे अंग आगम ठाणांग सूत्र में तीसरे ठाणे में उल्लेख मिलता है कि -

तिहिं ठाणेहिं समणे णिग्गंथे संखित्त विउल तेउलेस्से भवति, तं जहा-

1. आयावणताते
2. खंतिखमाते
3. अपाणगेणं तवोकम्मेणं।

अर्थात् तीन स्थानों से समण निर्ग्रंथ संक्षेप की हुई विपुल तेजोलेश्या वाले होते हैं

1. आतापना लेने से
2. शांति और क्षमा से
3. बिना जल पिये तपस्या करने से

इसका अभिप्राय यह है कि प्रत्येक मनुष्य को जो तेजस् शरीर प्राप्त होता है, उसे तपस्या की विशिष्ट साधना से 'विपुल' किया जा सकता है, यही तेजोलेश्या है। यह तेजोलेश्या 'संक्षिप्त विपुल' होने पर इतनी क्षमता रखती है कि एक मनुष्य यदि कोपवश इसका प्रयोग करे तो वह साढ़े सोलह देशों को जलाकर भस्म कर दे। भगवती सूत्र में गोशालक द्वारा प्रभु महावीर पर किए गए तेजोलेश्या के प्रहार का वर्णन मिलता है। प्रभु महावीर ने भी अपने छद्मस्थ काल में शीत तेजोलेश्या के प्रयोग से गोशालक की प्राण रक्षा की थी, ऐसा उल्लेख भी शास्त्रों में वर्णित है। यह तेजोलेश्या शुभ व अशुभ दोनों प्रकार से प्रयोगित हो सकती है।

समझने की बात यह है कि शीतोलेश्या भी तेजोलेश्या का ही दूसरा रूप है, जिसका वर्णन और प्राप्त करने के तरीके उपलब्ध साहित्य में नहीं मिलते हैं अथवा हटा दिए गए हैं। बौद्ध मान्यता में और जापान आदि देशों में इन शक्तियों का कमोबेशी प्रयोग खुलकर हुआ है। वहाँ तेजोलेश्या के लिए उष्ण सूर्य विद्या और शीतोलेश्या के लिए शीतल चंद्र विद्या नाम प्रयुक्त हुए हैं। यह शीतोलेश्या हिमालय के भयंकर बर्फीले स्थानों में शीतातप लेने से, क्षमा करने से और मौन रहने से प्राप्त होती है अथवा नदी के किनारे त्राटक करने से भी प्राप्त होती है। यह सारी शक्तियाँ आत्मिक होती है अर्थात् शरीर और मन के स्तर से ऊपर अथवा दूसरी अपेक्षा से यह शक्तियाँ वैक्रिय और आहारक शक्तियों से ऊपर तेजस् शरीर द्वारा मात्र भाव प्रसारण से ही प्रसारित होती है।

संदर्भवश लिखते हैं कि साधारणतया आदमी जब जीता है तो उस पर मन का प्रभाव तो ज़रूर होता है मगर वह शारीरिक स्तर पर ही जीता है। देवी-देवता शारीरिक स्थिति से ऊपर उठे हुए वैक्रिय मानसिक जीवन ही जीते हैं। अतः वे शारीरिक कर्म करने में असमर्थ मानसिक भोग ही करते हैं। अगर कभी किसी को देवी-देवताओं की सहायता भी मिलती है तो वह देवताओं का नया कर्म न होकर पूर्व संचित कर्मों का मानसिक भोग ही होता है। तेजस् आदि लब्धियों में भी आरंभ का माध्यम तो मन ही होता है। मगर यह तेजस् शरीर द्वारा मन के संकल्प मात्र से प्रयोगित होती है। यह लब्धि प्रयोग पूर्व कृत कल्प का भोग भी हो सकता है और नया कर्म भी हो सकता है। साधारणतया मनोभाव नया कर्म ही होता है, भले क्षमा, प्रतिक्रमण द्वारा उसे तुरंत प्रयोग के साथ भोग कर निरस्त कर दिया जाय।

अतः इतना निश्चित है कि वैक्रिय शरीर की भाँति तेजस् शरीर की लब्धि को भी मनुष्य तप साधना द्वारा प्राप्त कर सकता है।

औदारिक, वैक्रिय व तेजस् के अनंतर आहारक शरीर के स्वामी के बारे में हम अगले सूत्र में जानेंगे।

सूत्र-49
आहारक शरीर का स्वामी कौन ?

पिछले सूत्रों में हम औदारिक, वैक्रिय, तेजस् व कार्मण शरीर के स्वामी कौन-कौन से जीव होते हैं, यह समझ चुके हैं। औदारिक शरीर मनुष्य व तिर्यंच में ही पाया जाता है। वैक्रिय शरीर भवधारणीय शरीर की अपेक्षा देव गति व नरक गति के जीवों में ही पाया जाता है किंतु लब्धि से प्रकट किया जाए तो मनुष्य व तिर्यंच गति में भी पाया जा सकता है। तेजस् व कार्मण शरीर सभी संसारस्थ जीवों के होते हैं। इन सभी शरीरों की बजाय आहारक शरीर के स्वामी बहुत थोड़े जीव होते हैं। आहारक शरीर की प्रकृति कैसी है और उसके स्वामी किस तरह के जीव होते हैं, इसका निरूपण करते हुए वाचक उमास्वाति कहते हैं कि -

सूत्र- शुभं विशुद्धमव्याघाति चाहारकं चतुर्दशपूर्वधारस्यैव ॥49॥

अर्थ- आहारक शरीर शुभ, विशुद्ध और व्याघात रहित होता है तथा वह 14 पूर्वधारी मुनि के ही होता है ॥49॥

विवेचन- आहारक शरीर शुभ है, विशुद्ध है और व्याघात (बाधा) रहित है क्योंकि यह शरीर लब्धिधारी मुनि को तपस्या विशेष द्वारा ही प्रकट होता है। इस शरीर की रचना शुभ वर्ण, गंध, रस व स्पर्शयुक्त पुद्गलों से शुभ उद्देश्य के लिए होती है। इस शरीर की अवगाहना (height) एक हाथ प्रमाण होती है व इसकी आकृति समचतुरस्त्र (समान है चारों कोण जिसके) संस्थान वाली होती है। जिन पुद्गल परमाणुओं के द्वारा यह शरीर बनता है, वे स्फटिक के समान स्वच्छ व पारदर्शी होते हैं। इस शरीर के द्वारा हिंसा आदि कोई भी पापरूप प्रवृत्ति नहीं हो सकती और न ही यह शरीर किसी पापमय प्रवृत्ति से पैदा होता है। अतएव इस शरीर को असावद्य कहते हैं। इस शरीर का अपना एक विशेष वद्य अर्थात् संगीत होता है, जो हृदय की धड़कन की तरह किसी बाहरी प्रभाव में वि-क्रम व बे-ताल नहीं होता। इसके सिवाय यह शरीर 'अव्याघाती' भी होता है, इससे किसी भी पदार्थ को उसकी गति में बाधा नहीं पहुँचती और न ही किसी अन्य पदार्थ के द्वारा इसकी गति बाधित होती है।

यह शरीर चौदह पूर्व को धारण करने वाले मुनियों के ही हुआ करता है। 'पूर्व' वह श्रुत साहित्य है जो भगवान महावीर के पूर्ववर्ती तेवीसवें तीर्थंकर भगवान पार्श्वनाथ के समय उनकी वाणी से रचा गया था। उत्पादपूर्व आदि चौदह भेदों वाले इस पूर्व साहित्य में जगत के समस्त ज्ञान-विज्ञान का वर्णन मिलता है। समस्त विद्याओं का उल्लेख इन पूर्वों में किया गया है। जो इन 14 पूर्वों का ज्ञाता है, वह पूर्वधर कहलाता है। ऐसे पूर्वधर को यदि कभी किसी विषय में संदेह उत्पन्न हो किंतु वे अपने संशय का निवारण करने में स्वयं सक्षम न हो तब वे

अपनी आहारक लब्धि के प्रयोग द्वारा एक हाथ प्रमाण आहारक शरीर निकालते हैं, जो तीर्थंकर भगवंतों के समीप जाकर उनकी परिक्रमा-प्रदक्षिणा करके अपने प्रश्न का समाधान लेकर पुनः पूर्वधारी मुनि के शरीर में प्रविष्ट हो जाता है। वे पूर्वधारी मुनि शंका-समाधान पाकर अपनी लब्धि प्रयोग का प्रायश्चित्त कर शुद्ध हो जाते हैं। चौदह पूर्वधारी मुनि को आहारक लब्धि की प्राप्ति विशुद्ध परिणामों में विशिष्ट तपस्या द्वारा 'अप्रमत्त अवस्था' (सातवें अथवा आठवें गुणस्थान) में होती है किंतु वे लब्धि प्रयोग प्रमत्तदशा में ही करते हैं। यदि वे प्रमत्तदशा में हुए लब्धि प्रयोग का पुनः प्रतिक्रमण प्रायश्चित्त न करें तो वे विराधक हो जाते हैं किंतु यदि कर लेवे तो आराधक होते हैं। न केवल आहारक लब्धि वरन् हर लब्धि के संबंध में यह बात निश्चित है कि पहले तो साधु को अपनी लब्धि का प्रयोग कभी करना ही नहीं चाहिए, लब्धियों की गुप्ति करनी चाहिए। कदाचित् आवश्यकता आ पड़े तब भी दण्ड, गौरव व शल्यरहित होकर लब्धि प्रयोग किया जाना चाहिए। प्रयोग के तुरंत बाद प्रतिक्रमण, आलोचना व प्रायश्चित्त करके अपने मूल स्वभाव में लौट आना चाहिए अन्यथा विराधक होने की संभावना है। अपने आत्मभावों की विराधना हो जाए तो समझो सब किए-कराए पर पानी फिर गया, संयम व तप को नष्ट कर दिया। ऐसा न हो। अतः आगममनीषी कहते हैं कि कदाचित् लब्धि प्रयोग करना पड़े तो तुरंत प्रतिक्रमण-प्रायश्चित्त करके आराधक हो लो। 14 पूर्व से तात्पर्य है कि 14 रज्जु लोक का पूरा विज्ञान। भगवान महावीर ने द्वादशांगी उत्तर ज्ञान प्ररूपित किया। इससे कोई फर्क नहीं पड़ता बल्कि आज अर्वाचीन युग में 14 पूर्व के स्थान पर द्वादशांगी ज़्यादा सटीक रहती है।

आहारक शरीर की लब्धि का प्रयोग मुनिराज क्यों व कब करते हैं ? इस संबंध में प्रज्ञापना सूत्र में उल्लेख आता है कि आहारक लब्धि का प्रयोग चार कारणों के उपस्थित होने पर किया जाता है-

1. मुनि के मन में किसी जिज्ञासा के उठने पर समाधान के लिए।
2. मुनिराज के समीप कोई प्रश्नकर्त्ता प्रश्न पूछे किंतु ज्ञानी मुनि का उपयोग उस प्रश्न का उत्तर देने में न लगे तो वे संशय निवारण के लिए अरहंत प्रभु के समीप अपने आहारक शरीर को भेजते हैं।
3. अरहंत तीर्थंकर के समोशरण की ऋद्धि दर्शन के लिए।
4. लोक में मौजूद हिंसामय वातावरण को परिवर्तित करने के लिए।

निकलने से लेकर औदारिक शरीर में पुनः प्रवेश करने तक आहारक शरीर को अन्तर्मुहूर्त्त प्रमाण काल लगता है। यह कार्य इतना शीघ्र होता है कि इधर प्रश्नकर्त्ता ने प्रश्न पूछा व मुनिराज ने उसका उत्तर अरहंत परमात्मा के समीप जाकर (लब्धि प्रयोग द्वारा) प्रश्नकर्त्ता को तुरंत दे दिया। प्रश्नकर्त्ता को यह आभास नहीं हो पाता कि इस प्रश्न के पूछने व उत्तर देने के मध्य समय में कोई अंतर पड़ा हो या इतनी बड़ी घटना भी हुई हो। दिगंबर परंपरा में ऐसी अवधारणा है कि आचार्य कुंदकुंद स्वामी को यह लब्धि प्राप्त थी और उन्होंने सीमंधर परमात्मा के समीप जाकर 'समयसार' का ज्ञान प्राप्त किया।

आहारक शरीर चूँकि प्रकृति से शुभ पुद्गलों का आहरण करके बनता है, अतः इसे आहारक कहते हैं। आहारक अर्थात् आहरण करके बनाई गई विशिष्ट रचना। इसे 'आहार्य' भी कहते हैं। जिस प्रकार कोई मनुष्य किसी अन्य के पास से कोई वस्तु माँगकर लावे और काम निकलते ही वह वस्तु तुरंत लौटा देवे, उसी प्रकार इस शरीर के विषय में भी समझना चाहिए। आहारक शरीर के प्रकट होने के समय से लेकर अन्तर्मुहूर्त्त के भीतर ही कार्य समाप्त हो जाता है और उसके पूर्ण होते ही वह शरीर पुनः औदारिक शरीर में प्रवेश कर विघटित हो जाता है।

जो कार्य इस शरीर का है , वह अन्य किसी भी शरीर के द्वारा सिद्ध नहीं हो सकता। अतएव यह शरीर एक विशिष्ट उपलब्धि मानी जाती है।

आत्मज्ञानी श्री विराट गुरूजी इस शरीर के गुणधर्म पर प्रकाश डालते हुए कहते हैं कि आहारक शरीर के प्रयोग के कारणों को बताते हुए जैन वाङ्मय मात्र एक बात की ही चर्चा करता है कि चिंतन-मनन के लिए इस शरीर का प्रयोग होता है। चूँकि आध्यात्मिक चिंतन-मनन जिज्ञासा वहीं संभव है, जहाँ साधक का मन पूर्ण विकसित हो और उसे उपलब्ध समस्त विद्या का ज्ञान हो। अतः ऐसा भी उल्लेख कर दिया गया कि यह चौदह पूर्वधारी को ही होता है। पूर्व और उत्तर तो विद्याओं के संकलन व अध्ययन हो सकते हैं। हमें यह बात समझ में ले लेनी चाहिए कि आध्यात्मिक जिज्ञासा और चिंतन-मनन का केन्द्रबिंदु आहारक शरीर होता है। इस विषय में आयुर्वेद स्पष्ट ईशारा करता है और हम अपने अनुभव से जानते हैं। आयुर्वेद के अनुसार मन हृदय में स्थित होता है जबकि साधारण व्यक्ति की समझ के अनुसार मन मस्तिष्क में होता है। जहाँ तक मस्तिष्क में मन की बात है, विज्ञान इस संबंध में बहुत कुछ जान भी सका है। हृदय में जब हूक और हिलोर उठती है तो आदमी ज़रूर हृदय में मन को अनुभव करता है मगर विज्ञान की दृष्टि से सिद्ध नहीं किया जा सकता। तथ्य यह है कि औदारिक शरीर के हृदय का विपरीत छोर वैक्रिय शरीर का हृदय आहारक शरीर होता है। आत्म साधक ज्ञानियों का चिंतन-मनन इसी मस्तिष्क से होता है। इसकी क्षमता निर्बाध होती है । जो विषय हो, वही प्रकाशित होता है। साधारण मन की तरह आदमी विषय से भटकता नहीं है, फिर भी यह मन भोग शक्ति ही होती है। निश्चय में मानसिक भोग के अन्तर्गत जन्मों के रहे हुए अन्तर्प्रश्न और कुंठाएँ इस शरीर के द्वारा ही भोगकर निःसृत की जाती है। शायद केवली से साक्षात्कार कर प्रश्न पूछने का दबा हुआ भाव इस शरीर के माध्यम से निर्जरित होना संभावित होता है। इसलिए ऐसा कह दिया गया कि अरहंत भगवान के पास प्रश्न पूछने के लिए इस शरीर का उपयोग किया जाता है। शास्त्र लेखाकारों और व्याख्याकारों की एक विशेष धार्मिक दृष्टि रही है, अतः इस शरीर के अन्य प्रयोगों और कारणों का उल्लेख नहीं किया गया है अन्यथा मन की गहराईयों से संबंधित हर मानसिक विधा का भोग इस शरीर के माध्यम से किया जाता है।

हम पुनः अपने अनुभव का उल्लेख करते हैं कि यह शरीर हमारे प्रकट शरीर में दाहिनी तरफ हृदय की सीध में लगभग एक बिलात का होता है और प्रयोग करते समय यह कंधों से बाहर निकलता है। अत्यन्त सूक्ष्म आवाज़ें और पुकार जो वैक्रिय शरीर ग्रहण नहीं कर सकता, यह शरीर जान जाता है। यह शरीर आशुप्रज्ञा है। कई बार ईशारों और भाव-भंगिमा से ही गहन अर्थों तथा तथ्यों को ग्रहण कर लेता है। इस शरीर के परमाणु वैक्रिय शरीर से भी सूक्ष्मतर होते हैं। अतः इस शरीर की सृष्टि यात्रा में अक्सर कोई देवी-देवता, मंत्रशक्ति बाधा नहीं डालती। अतः यह शरीर बिना किसी से टकराए, वापस अपने स्थान को उपलब्ध हो जाता है। यह कुछ निमिष मात्र में हो जाता है। विशेष बात यह है कि यह कतई आवश्यक नहीं कि यह शरीर बाहर की यात्रा करे और ज्ञानियों से समाधान प्राप्त करके, वापिस आवे। जिज्ञासा उत्पन्न होते ही इस शरीर के अंदर अन्तर्यात्रा होती है। अपने-अपने भाव के प्रमाण से गुरू दर्शन होते हैं और समाधान हो जाते हैं। अथवा प्रश्न उठते ही यह मस्तिष्क अपने आप कम्प्यूटर की तरह उत्तर प्रस्तुत कर देता है। इस प्रकार यह शरीर बहुत ही उपयोगी मगर लब्धिजन्य है। इस लब्धि को प्राप्त करने की कुछ साधना है, जो भगवान पार्श्वनाथ के समय उपलब्ध पूर्वों में (पूर्व साहित्य) में लिखी हुई थी मगर मात्र जनसाधारण के दृष्टिकोण से वे पूर्व लुप्त माने जाते हैं।

सूत्र-50-51

लिंग और वेद

तत्त्वार्थ सूत्र के द्वितीय अध्ययन के अब तक के सूत्रों में हमने जीवात्मा के पाँच भावों को, उपयोग लक्षण को व संसारी जीवों की विविध अवस्थाओं को, उनकी इंद्रियों, जन्म एवं शरीर संबंधी सूत्रों को समझा था। अब इस अध्याय के अंत में हम संसारी जीवों के लिंग (gender) के बारे में तथा उनके आयुष्य के संबंध में जानेंगे।

समस्त शरीरों के बारे में समझने के पश्चात् अगला प्रकरण यह आता है कि दिखलाई पड़ने वाले शरीरों में लिंग की विविधता पाई जाती है। यह लिंग (चिह्न) तीन प्रकार का होता है- स्त्रीलिंग (feminine), पुर्ल्लिंग (masculine) व नपुंसकलिंग (neutral)। लिंग शरीर के ऊपर उभर आए चिह्न विशेष को कहते हैं जबकि 'वेद' भीतर की अभिलाषा विशेष को कहते हैं। वेद तीन प्रकार के होते हैं- स्त्रीवेद, पुरूषवेद एवं नपुंसक वेद। ये तीनों वेद द्रव्य और भाव रूप से दो-दो प्रकार के हैं। द्रव्यवेद अर्थात् ऊपर का चिह्न और भाव-वेद अर्थात् अभिलाषा विशेष। जिस चिह्न से पुरूष की पहचान होती है, वह द्रव्यपुरूष वेद या पुर्ल्लिंग है तथा स्त्री के संसर्ग सुख की अभिलाषा भाव पुरूष वेद है। स्त्री की पहचान का साधन द्रव्य स्त्री वेद (लिंग) है और पुरूष के संसर्ग सुख की अभिलाषा भाव स्त्री वेद है। जिसमें कुछ स्त्री के चिह्न और कुछ पुरूष चिह्न हों वह द्रव्य नपुंसक वेद और स्त्री पुरूष दोनों के संसर्ग सुख की अभिलाषा भाव नपुंसक वेद है। यह एक मिश्र अवस्था है।

हमारे अनुसार वेद चार होते हैं जिसमें पुरूष चिह्न और वैसी ही ज्ञान-तंतुओं की संवेदना है, आदतें है, सोच है, शैली है, वह पुरूष। इसके विपरीत स्त्रैण संवेदनाओं की पहचान वाला स्त्री। जिसमें स्त्री और पुरूष दोनों के गुण नहीं है, मानसिक रूप से तो वह स्त्री या पुरूष हो सकता है, मगर शारीरिक क्षमता की दृष्टि से वह नपुंसक होता है क्योंकि वह न तो स्त्री अथवा पुरूष की प्राकृत क्रियाएँ कर सकता है, न उन संवेदनाओं से गुज़र सकता है। मगर एक चौथा प्रकार भी होता है, वह अपवादस्वरूप कभी-कभी मनुष्य की जानकारी में आ पाता है। ऐसे जीवों में स्त्री और पुरूष दोनों की क्षमताएँ होती है और वह दोनों तरह की प्रक्रियाओं से उचित संवेदनाओं के साथ गुज़र सकते हैं। आजकल कभी-कभार समाचार पत्रों में ऐसे वर्णन भी मिलते हैं। अपवाद रूप से कुछ लोगों में ऐसी शारीरिक बनावट हो जाती है।

द्रव्य वेद शरीरों की भिन्न-भिन्न पहचान का निमित्त है। यह नाम कर्म के उदय का फल है। भाववेद एक मनोविकार है, जो मोहनीय कर्म के उदय का फल है। अब तत्त्वार्थ सूत्र के रचयिता निम्न दो सूत्रों द्वारा स्पष्ट करते हैं कि किसमें कौनसा वेद पाया जाता है-

सूत्र- नारक सम्मूर्च्छिनो नपुंसकानि।।50।।
न देवाः ।।51।।

अर्थ- नारक और सम्मूर्च्छिम जीव नपुंसक ही होते हैं ॥50॥
देव नपुंसक नहीं होते ॥51॥

विवेचन- नरक गति वाले संपूर्ण जीव और सभी सम्मूर्च्छन जन्म धारण करने वाले जीव नपुंसक ही हुआ करते हैं। वे न तो स्त्री ही होते हैं और न पुरूष ही होते हैं। उनके चरित्र मोहनीय के भेद नोकषाय मोहनीय संबंधी तीन वेदों में से एक नपुंसक वेदनीय कर्म का ही उदय हुआ करता है जो कि अपने आप में अशुभ गति नाम, अशुभ गोत्र, अशुभ आयु के उदय की भी अपेक्षा रखता है और जिसका पूर्वजन्म में ही निकाचित् बंध हो जाता है।

सम्मूर्च्छिम जीव, वे होते हैं जो माता-पिता के रज-वीर्य के बिना ही पैदा होते हैं किन्तु सम्मूर्च्छिम का अर्थ यह नहीं है कि वे बिना बीज और योनि के उत्पन्न हो जाते हैं। यह बात अलग है कि इनकी सेचन क्रिया (fertilisation) का ढंग दूसरे प्रकार का है। जैसे बारिश के पानी से कोमल उपजाऊ भूमि में वनस्पति का उग जाना अथवा बालों में लीख व जूँ का उत्पन्न होना- सम्मूर्च्छन जन्म है। द्वीन्द्रिय जीव लट (कृमि) आदि भी बीज और योनि यानि जल सहित सचित्त मिट्टी में उत्पन्न होते हैं। तब प्रश्न हो सकता है कि यदि ये सम्मूर्च्छिम जीव भी संयोग प्रक्रिया का ही परिणाम है तब इन्हें सम्मूर्च्छिम क्यों कहा जाता है ?

इस शंका का समाधान यह है कि सम्मूर्च्छिम जीव भी बीज और योनि के संयोग से उत्पन्न होते हैं किन्तु इनकी उत्पत्ति प्रक्रिया गर्भज जीवों के समान नहीं है। ये गर्भ में रहकर फिर बाहर आते हो, ऐसा नहीं है। ये तो वातावरण के परस्पर संयोग के विशिष्ट परिणामस्वरूप मूर्च्छित रूप से ही पैदा हो जाते हैं, इसी कारण इन्हें सम्मूर्च्छिम जीव कहा जाता है।

हकीकत यह है कि उत्पत्ति के क्षणों तक तो जीव लगभग मूर्च्छित ही होता है। जिन जीवों को माँ का गर्भ प्राप्त नहीं होता, (भले परागकणों का स्त्री-पुरूष स्पर्श हुआ हो) वे लगभग मूर्च्छित अवस्था में ही पैदा होते हैं और जीवन गुज़ार देते हैं। जो जीव उत्पत्ति के बाद भी माँ के गर्भ में आश्रित रहकर माँ की सहायता से अपने शुद्ध स्वरूप को प्राप्त करते हैं, वे दैहिक अपेक्षाओं से जागृत हो जाते हैं। वे जीव माँ के चिन्तन, मनन, विचारों को हर क्षण अनुभव करते हैं। अतः उनमें प्रश्न, जिज्ञासाएँ, उत्तेजना, सन्तुष्टि आदि संवेदनाएँ उठती रहती है। जिसके कारण अपनी-अपनी संवेदनाओं के अनुरूप मस्तिष्क का विकास होता रहता है। अतः गर्भज जीवों को इस अपेक्षा से जागृत अथवा अमूर्च्छित बताया गया है।

सूत्र संख्या 51 में कहा गया है कि 'न देवाः' अर्थात् देवताओं के नपुंसक वेद नहीं होता है। चारों ही प्रकार के देव कभी भी नपुंसक नहीं हुआ करते हैं। वे स्त्रीवेदी या पुरूषवेदी ही हुआ करते हैं क्योंकि उनके शुभ गति नाम कर्म, शुभ गोत्र, शुभ आयु और शुभ वेदनीय कर्म की अपेक्षा से स्त्रीवेद व पुरूषवेद का निकाचित् बंध हो चुका होता है।

'न देवाः' सूत्र अपने पूर्व सूत्र के संदर्भ से अपना अर्थ स्पष्ट कर पाता है किंतु यदि कोई इसे स्वतंत्र सूत्र के रूप में पढ़े व अर्थ ग्रहण करे तो इसका अर्थ होगा कि देवता नहीं होते हैं। लोकमान्य तिलक ने इस सूत्र का हवाला देते हुए एक बार कह दिया था कि जैनी लोग देवताओं को नहीं मानते हैं। उनके तत्त्वार्थ सूत्र में लिखा है 'न देवाः'। संदर्भरहित ज्ञान कितना नुकसान करता है। ठीक इसी प्रकार प्रसंगवश हम कहना चाहेंगे कि कोई भी बात यदि संदर्भरहित सुनी व पढ़ी जाए तो वह कलह-क्लेश का कारण बनती है। आधा-अधूरा ज्ञान सदैव खतरनाक होता है। कहा भी गया है कि Little knowledge is a dangerous thing अर्थात् 'नीम हकीम खतरा जान'। अतः सूत्र

ज्ञान को सदैव पूर्वापर संबंधों के साथ ही ग्रहण करना चाहिए।

जहाँ तक देवलोक में स्त्रीवेद और पुरूषवेद की बात है तो जैन वाङ्मय में स्पष्ट उल्लेख है कि देव अथवा देवियाँ (पुरूष एवं नारी) दूसरे देवलोक तक ही होते हैं। तीसरे देवलोक से देवियों का जन्म नहीं है। अतः पुरूष का अस्तित्त्व कैसे हुआ, यह तो सूत्रकारों की प्रासंगिक तर्कबुद्धि के अलावा और क्या हो सकता है क्योंकि लिंग की विशेषता ही विपरीतता होने से होती है। अन्यथा जब शिवलिंग है और शिवलिंग के स्वरूप को निर्धारण करते समय हमारे पूर्व मनीषियों ने सत्य पक्ष पर विशेष गौर किया था। अतः शिवलिंग को अर्द्धनारीश्वर रूप में ही चिन्हित किया अर्थात् शिवलिंग के साथ में पार्वती भग अर्थात् प्रकृति को भी जोड़ा गया।

ऐसा ही तीसरे देवलोक से ऊपर के सारे देवों को समझना चाहिए। वे भोग कर्मों के उदयग्रस्त होने के कारण चौथे गुणस्थान से ऊपर नहीं उठ पाते मगर ये उच्च कोटि की आत्माएँ होती है, अतः उन्हें शिवलिंग रूप माना गया है। उनमें पुरूष-स्त्री दोनों की योग्यताएँ होती है मगर वे कर्म भूमि में होते ही नहीं, अतः उन्हें किसी लिंग की आवश्यकता ही नहीं होती। वे पुरूष अथवा स्त्री का मानसिक भोग स्वयमेव भोगते रहते हैं। मात्र पुरूष का अथवा मात्र स्त्री का अथवा दोनों ही तरह के भोग भोगने में सक्षम होते हैं। मगर इस गुप्त ज्ञान में नहीं उलझने की अपेक्षा से सूत्रकारों ने उन्हें पुरूषलिंग मान लिया। इसी प्रकार दूसरी अपेक्षा से भी लिंग चार ही होते हैं। इसमें चौथा लिंग सिद्धलिंग होता है। यह आत्मा का शुद्ध स्वरूप होता है जो न पुरूष होता है, न स्त्री होती है, न नपुंसक होता है।

प्रस्तुत दोनों सूत्रों में नरकगति, सम्मूर्च्छन जन्म वाले तथा देव गति के जीवों का वेद बतला दिया गया तो अब जो जीव शेष बचे, वे तीनों वेद वाले होते हैं। ऐसा स्वयं ही प्रकट हो जाता है। स्वयं भाष्यकार उमास्वाति के शब्दों में-

'पारिशेष्याच्च गम्यन्ते जरायवण्डजपोतजास्त्रिविधाः भवन्ति-
स्त्रियः पुमांसे नपुंसकानीति।'

परिशेष न्याय से शेष जीव जरायुज, अण्डज व पोतज अर्थात् गर्भजन्म वाले सभी जीव स्त्री, पुरूष और नपुंसक तीनों वेद वाले होते हैं। इसका अभिप्राय यह है कि सभी मनुष्यों व संज्ञी तिर्यन्च पंचेन्द्रियों में तीनों वेद पाए जाते हैं। दिगम्बर परम्परा में यही बात 'शेषास्त्रिवेदाः 'कह कर, एक स्वतन्त्र सूत्र रच कर कही गई है।

वेद विकार की तरतमताः- पुरूष वेद का विकार सबसे कम स्थायी होता है। स्त्री वेद का विकार उससे अधिक स्थायी और नपुंसक वेद का विकार स्त्री वेद के विकार से भी अधिक स्थायी होता है। यह बात दृष्टांत द्वारा भी कही जाती रही है, यथा- पुरूषवेद का विकार घास की अग्नि के समान है जो प्रकट भी शीघ्र होता है और शांत भी शीघ्र। स्त्री वेद का विकार अंगारे के समान है जो जल्दी शांत भी नहीं होता, प्रकट भी जल्दी नहीं होता। नपुंसक वेद का विकार संतप्त ईंट के समान है जो बहुत देर में शांत होता है।

सूत्र-52

आयुष्य विज्ञान

तत्त्वार्थ सूत्र के द्वितीय अध्याय के अंतिम सूत्र में अब वाचक उमास्वाति समस्त संसारी जीवों के आयुष्य विज्ञान को कहते हैं। अनेकों बार ज्ञानियों के सम्मुख जिज्ञासुओं द्वारा यह प्रश्न उठाया जाता रहा है कि क्या किसी मनुष्य की उम्र बढ़ाई अथवा घटाई जा सकती है ? क्या अकाल मृत्यु हुआ करती है ? चतुर्गति रूप संसार में आयु के विषय में क्या नियम है ? इस विषय में अनेकों प्रकार के वाद सुनने में आते हैं। कोई कहता है कि आयुकर्म की जितनी स्थिति पूर्वजन्म में बाँधी है, उतनी पूरी भोग ली जाने पर ही मरण हुआ करता है और कोई कहता है कि अस्त्र-शस्त्र के घात आदि द्वारा अथवा अचानक आई प्राकृतिक विपदाओं में अनेकों लोग जब मर जाते हैं तो वे अपनी आयु पूरी किए बिना ही अकाल मौत से मर जाते हैं। इस प्रकार अकाल मृत्यु का होना भी संभव है, यह बताने के लिए सूत्रकार कहते हैं कि आयु बंध दो प्रकार का होता है-एक अपवर्तनीय, दूसरा अनपवर्तनीय। जो आयु बंधकालीन स्थिति के पूर्ण होने से पहले ही शीघ्र भोगी जा सके, वह अपवर्तनीय आयु है। जिसमें अपवर्तना यानि घटाई संभव है जैसे किसी घाटी में आदमी लुढ़क जाए, मरणकाल से पूर्व ही आघात आदि द्वारा मर जाए तो वह अपवर्तनीय आयुष्य है। किंतु जो आयु बंधकालीन स्थिति के पूर्ण होने से पहले न भोगी जा सके, वह अनपवर्तनीय है अर्थात् जितना आयुकर्म बांधा गया है उतना पूरा भोगा जाए, जिसमें कोई घटती न हो उसे अनपवर्तनीय आयुष्य कहते हैं। द्वितीय अध्याय का अंतिम सूत्र कहता है कि-

सूत्र- औपपातिक चरमदेहोत्तम पुरूष ऽ संख्येयवर्षायुषोऽ नपवर्त्यायुष: ॥ 52॥

अर्थ- औपपातिक (नारक व देव), चरम शरीरी, उत्तमपुरूष और असंख्यातवर्षजीवी ये अनपवर्तनीय आयु वाले ही होते हैं ॥52॥

विवेचन- यहाँ सूत्र में अनपवर्तनीय आयु वाले जीवों का उल्लेख किया गया है। जिनकी आयु गाढ़ परिणामों से दृढ़ीभूत होती है, वे अनपवर्तनीय आयु वाले होते हैं। औपपातिक जन्म लेने वाले देव व नारक जीव गाढ़ अध्यवसायों से अपना आयु बांधते हैं, अत: वे अपनी भुज्यमान आयु के संपूर्ण भोग से पूर्व कभी नहीं मरते हैं। कोई नारक वहाँ के दु:खों से संतप्त होकर शीघ्र वहाँ से मर जाना चाहे तो यह संभव नहीं है। वह मर कर अन्य गति में तब तक नहीं जा सकता है, जब तक उसका आयुकाल पूरा न हो गया हो। इसी प्रकार कोई देवता भी शीघ्र मनुष्य लोक में जन्म लेने की इच्छा वाला होने से वहाँ से शीघ्र च्युत होना चाहे तब भी संभव नहीं कि वह च्यवन को प्राप्त कर ले। वह तब तक नहीं मरेगा, जब तक वहाँ से संबंधित आयुकाल उसका पूर्ण न हो जाए।

चरमदेह के धारक जीव मनुष्य ही हुआ करते हैं। मनुष्यों में भी वे मनुष्य जिन्हें उसी भव में सिद्ध, बुद्ध, मुक्त हो जाना है, जिनको अन्य कोई शरीर धारण करना बाकी न रहा हो, उस अंतिम शरीर को धारण करने वाले को चरमदेह कहते हैं। चरम अर्थात् अंतिम। जिनका यह शरीर अंतिम शरीर है, वे फिर किसी अन्य शरीर को धारण नहीं करेंगे, वे चरम शरीरी जीव कहलाते हैं। ये भी अनपवर्तनीय आयु वाले होते हैं। तीर्थंकर, चक्रवर्ती और अर्धचक्री (वासुदेव, प्रतिवासुदेव आदि) को उत्तम पुरूष कहा जाता है। असंख्यात वर्ष की आयु के धारक मनुष्य व तिर्यंच दोनों ही हुआ करते हैं। सभी युगलिक मनुष्य (तीस अकर्मभूमिज, छप्पन अंतर्द्वीपज एवं 15 कर्मभूमि के युगलिक मनुष्य) असंख्यात् वर्षजीवी होते हैं। असंख्यात् वर्ष की आयु के धारक तिर्यंच इन क्षेत्रों में भी हुआ करते हैं और इनके बाहर-मनुष्य क्षेत्र के बाहर जितने द्वीप-समुद्र हैं, उनमें भी हुआ करते हैं। अनपवर्तनीय आयु सोपक्रम व निरूपक्रम दोनों प्रकार की हुआ करती है। इनमें से औपपातिक और असंख्यात वर्ष की आयु वाले जीवों की आयु निरूपक्रम ही हुआ करती है। निरूपक्रम अर्थात् जिनकी आयु को कोई उपक्रम (accident आदि घात) न लगे। जिन वेदना रूप कारण-कलापों से आयु का भेदन हो जाता है, उनसे इन जीवों की आयु रहित हुआ करती है। चरम देह के धारक एवं उत्तमपुरूषों की आयु सोपक्रम व निरूपक्रम दोनों प्रकार की हुआ करती है। अनपवर्तनीय आयु में उपक्रम लगने पर भी वह अपनी नियम काल मर्यादा के पहले कभी पूर्ण नहीं होती। अनपवर्तनीय आयु वाले अकाल मृत्यु कभी नहीं मरते, चाहे उन्हें घात का कैसा भी प्रबल निमित्त क्यों न मिले। किन्तु अपवर्तनीय आयु सोपक्रम-उपक्रम सहित ही होती है। तीव्र शस्त्र, विष, अग्नि, आत्महत्या, दुर्घटना, हार्टफेल हो जाना, ब्रेनहेमरेज हो जाना आदि सब उपक्रम है। यह अपवर्तनीय आयु के अवश्य होता है क्योंकि वह आयु नियम से कालमर्यादा समाप्त होने के पहले ही भोगने योग्य होती है।

अपवर्तनीय और अनपवर्तनीय आयु का बंध स्वाभाविक नहीं है किंतु जीव की प्रबल भावशक्ति अथवा शिथिल भावशक्ति पर अवलंबित है। भावी जन्म की आयु का बंध वर्तमान जन्म में होता है। आयु बांधते समय यदि परिणाम मंद हो तो आयु का बंध शिथिल हो जाता है, जिससे निमित्त मिलने पर बंधकालीन काल मर्यादा घट जाती है। इसके विपरीत यदि परिणाम तीव्र हो तो आयु का बंध गाढ़ हो जाता है, जिससे निमित्त मिलने पर भी बंधकालीन काल मर्यादा नहीं घटती और न आयु एक साथ भोगी जा सकती है। इसे एक उदाहरण द्वारा भी समझ सकते हैं-जैसे एक किसान अपने खेत में बीजों को दूर-दूर बोता है तो उससे पैदा हुई वनस्पतियाँ, पौधे आदि बीच में gap होने की वजह से सुभेद होते हैं। कोई भी प्राणी जानवर आदि उसमें आसानी से प्रविष्ट हो सकता है। किंतु यदि कोई किसान सघन रूप से बीजों को बोए तो उससे प्राप्त फसल सुप्रवेश्य नहीं हो पाएगी। उसमें आसानी से किसी का गमनागमन संभव नहीं हो सकेगा। ठीक इसी प्रकार से जो मनुष्य मन्द परिणामों से शिथिल रूप से आयु का बंध बांधता है तो वह आयु अपवर्तनीय आयु होती है। इसके विपरीत यदि कोई मनुष्य प्रगाढ़ परिणामों से आयु का दृढ़ बंधन बाँधता है तो वह अनपवर्तनीय आयु होती है। अपवर्तनीय आयु नियम से सोपक्रमी ही होती है किंतु अनपवर्तनीय आयु में सोपक्रम व निरूपक्रम दोनों ही भेद पाए जाते हैं।

ठाणांग सूत्र में आयु भेद के निम्न सात कारण बताए गए हैं-

1.अध्यवसाय-तीव्र राग-दोष अथवा भय से भयभीत प्राणी अकाल ही मरण को प्राप्त हो जाता है।

2.निमित्त-दण्ड, शस्त्र आदि प्रयोग द्वारा किसी की देह का घात होना।

3.आहार-अत्यधिक आहार, असंगत आहार अथवा आहार के अभाव से, भूखमरी के कारण अथवा जल आदि न मिलने के कारण तृषाकुल होकर भी कई जीव अकाल मृत्यु को प्राप्त करते हैं।

4. वेदना-शरीर में अनेक प्रकार की व्याधियाँ उत्पन्न होने के कारण जैसे ब्रेन ट्यूमर, कैंसर, हृदयघात, लकवा, पेट, किडनी आदि किसी भी अंग की तीव्र पीड़ा के कारण कई लोग अकाल मरण पाते हैं।

5.पराघात- कुएँ आदि में गिरना, तालाब-नदी-समुद्र आदि में डूब जाने से, पर्वत आदि किसी ऊँचे स्थान से गिर जाने से अथवा किसी के द्वारा तंत्र-मूठ आदि के मारण प्रयोग के कारण भी आयुभेद संभव है।

6.स्पर्श- बिच्छु, सर्प आदि किसी विषैले कीड़े के दंश से अथवा विषपान करने से, नींद की गोलियाँ अधिक खा लेने से, अत्यंत दाहक तीव्र आग में झुलसने से, विषैले रसायनों के प्रभाव से आदि अनेक कारणों से आयुभेद संभव है।

7.श्वासोच्छ्वास रूकने से-जैसे गला दबा कर, फाँसी पर लटक कर इत्यादि कारणों से भी आयुभेद संभव है।

आधुनिक युग में दया मृत्यु (mercy killing) के रूप में अकाल मृत्यु का एक नया कारण पनपने लगा है। आजकल डॉक्टर्स जब यह देखते हैं कि यह आदमी तीव्र वेदना पा रहा है किंतु इसका उपचार अब संभव नहीं बचा तो वे विष का इंजेक्शन देकर अपने मरीज़ को पीड़ा मुक्त कर देते हैं। यह सरकारी तौर पर तो अनेक देशों में मान्य किया जा चुका है।

अब यहाँ प्रायः यह प्रश्न उठाया जाता है कि जब इस तरह के कारणों से अथवा प्राकृतिक विप्लवों में अनेक जानें चली जाती है तो क्या उन सबकी मृत्यु उसी दिन घटित होनी थी, उनकी आयु समाप्त हो चुकी थी और यदि नहीं हुई थी तो वे अपनी शेष आयु को क्या अगले जन्मों में भोगेंगे अथवा उस अभुक्त आयु का क्या होगा ?

सिद्धांत यह कहता है कि आयु कर्म के जितने दलिक एक जीव को अपने नियत जीवन काल में भोगने हैं, उतने तो वह भोगेगा ही। वे कर्मदलिक कम समय में ही इकट्ठे भी भोगे जा सकते हैं। जैसे दस अथवा 15 वर्ष में भोगे जाने वाले आयु कर्म के दलिक कोई प्राणी तीव्र अध्यवसायों से अन्तर्मुहूर्त्त में भी भोगकर पूरा कर सकता है क्योंकि कोई भी जीव आयु पूरी किए बिना दूसरी गति में उत्पन्न नहीं हो सकता।

कर्मग्रंथ आदि शास्त्रों में इस बात को अनेक दृष्टान्तों से समझाया गया है। जैसे-मान लीजिए एक मिट्टी का घड़ा है, जिससे एक-एक बूंद पानी टपक रहा है, घड़ा धीरे-धीरे खाली हो रहा है। किसी बच्चे के द्वारा खेल-खेल में गेंद के प्रहार से वह घड़ा एकदम ही फूट जाए और सारा पानी एक साथ बह जाए। ठीक इसी प्रकार आयु का शीघ्र समाप्त होना समझा जाना चाहिए।

एक घास के ढेर में यदि एक चिंगारी छोड़ दी जाय तो वह चिंगारी धीरे-धीरे एक-एक तिनके को जलाती है। उस पूरे ढेर को जलने में अभी कई घंटे लगने वाले हैं किन्तु कोई मनुष्य आग की बड़ी लपट लेकर आए और उस ढेर को चारों तरफ से आग लगा दे तो वह घास का ढेर कुछ ही मिनटों में जलकर समाप्त हो जाएगा। ठीक इसी प्रकार आयु का शीघ्र समाप्त होना समझा जा सकता है।

मूल बात यह है कि आयु, चाहे अपवर्तनीय ही क्यों न हो, अवश्य ही पूरी होती है। सिर्फ मारक निमित्त के प्रभाव से उसका भोग जल्दी पूरा हो जाता है, इतना ही भेद है यानि सिर्फ शीघ्रता और सामान्यता का अंतर पड़ता है। तथ्य यह है कि निश्चय में आयु का समय से कोई संबंध नहीं होता। वह तो जीव का, सृष्टि को एक सम्बोधन मात्र होता है, जो घनिष्ट है। आ + य + उ अर्थात् सुख-दुःख अथवा अन्य कोई अनुभूति जो जीव को वेदन करनी हो, बस समझ लो वही उसकी आयु है। अगर आप तप द्वारा सकाम निर्जरा करते हो तो जो संवेदना आपको कई सालों में होनी है, वह सुख-दुःख आप कुछ क्षणों में ही भोग लेते हो, जितने-जितने आप पूर्व निकाचित कर्म भोगते हो, समझ लो आपकी उतनी ही आयु क्षीण हो चुकी है। सारांशतः साधारणतया यह समझा जा सकता है कि आदमी को जितना भोग भोगना निश्चित है, वह उसकी आयु है। निसर्ग रूप से भोगने पर निश्चित क्रम में भोगा

जाता है मगर सकाम तप या accident आदि की स्थिति में दर्द को कम समय में भोग कर निरस्त किया जा सकता है। जैसे गजसुकुमाल मुनि ने किया था अथवा accident में हज़ारों लोग मरते हैं। मगर तारीफ यह है कि बंधी हुई आयु कभी कम-ज्यादा नहीं होती। अनुपक्रम में संभावनाएँ कुछ अलग होती है। उसमें बाहरी आघात कुछ इस तरह से घटित होते हैं कि जो भोग इस उम्र में घटित होने थे, उन्हें उदय में आने का समय ही नहीं मिलता और वे अन्दर ही अन्दर उपशम हो जाते हैं तथा व्यक्ति मृत्यु को प्राप्त हो जाता है। यह अकाल मृत्यु है। बची हुई घटनाएँ जो उदय में नहीं आई, वे समाप्त नहीं होती, मात्र निलम्बित (suspended) होती है जो उसे अगले जन्म में भोगनी पड़ेगी।

कुछ विद्वान इस तरह से कहते हैं कि निश्चय नय के अनुसार तो आयु नहीं टूटती किंतु व्यवहारनय के अनुसार टूट सकती है। फिर भी यह आवश्यक नहीं कि अपवर्तनीय आयु अवश्य ही बीच में टूटेगी, कम होगी या शीघ्र भोगी ही जाएगी। यह सब तो निमित्तों पर निर्भर है। आधुनिक चिकित्सा विज्ञान के प्रभाव से अनेकों मनुष्य व पशु अपनी पूरी आयु भोग कर स्वाभाविक मृत्यु को प्राप्त करते भी देखे गए हैं। मृत्यु दर में कमी भी हुई है। अब एक प्रश्न यह भी है कि- क्या जिस तरह अपवर्तनीय आयु निमित्तों के कारण शीघ्र भोग ली जाती है, इसी प्रकार अनुकूल निमित्त मिला कर बढ़ाई भी जा सकती है ?

यद्यपि आयुर्वेद, योगशास्त्र, योगीजन, साधु, तपस्वी आदि एवं आधुनिक युग के चिकित्सा वैज्ञानिकों द्वारा ऐसा दावा किया जाता है कि आयु बढ़ाई जा सकती है किंतु मौत तो अवश्यंभावी है। मृत्यु को तो आज तक कोई भी नहीं रोक पाया है। सिद्धान्त भी यही कहता है कि बंधी हुई आयु में एक क्षण भी नहीं बढ़ाया जा सकता। जिस प्रकार किसी वस्त्र को तह करके छोटा बनाया जा सकता है किंतु उसे उसके प्रमाण से बड़ा किसी भी तरह से नहीं बनाया जा सकता।

अतएव किसी रसायन के सेवन से आयु बढ़ जाती है, यह बात मिथ्या है। भोगी जा रही आयु का बंध पूर्वजन्म में ही होता है, उसी समय उसकी स्थिति का बंध भी होता है। अतएव उदयकाल आने पर उसकी वृद्धि की संभावना कैसे हो सकती है ? हाँ, यह हो सकता है कि बंधे हुए कर्म निमित्त पाकर आत्मा से जल्दी संबंध छोड़ दे। अत: ऐसे प्रवाद कि अमुक व्यक्ति अनंतकाल के लिए सशरीर अमर हो गया है, यथार्थ नहीं है।

संक्षेप में हम पुन: कहेंगे कि अनपवर्तित और अपवर्तित आयु कर्म में अंतर इतना ही है कि पहले में तो पूर्ण स्थिति तक आयु का क्रम से परिभोग होता है, अतएव उसका काल अधिक है किंतु दूसरे में संकुचित होकर चारों तरफ से एक साथ भोगने में आ जाता है, इसलिए उसका काल थोड़ा है। जिस तरह समान रूप से भीगे हुए दो कपड़ों में से एक को समेटकर व दूसरे को फैलाकर सुखाने पर पहला देरी से सूखता है और दूसरा जल्दी। कपड़े में संकोच और विस्तार के कारण सूखने में देरी और जल्दी का अंतर पड़ता है। इसी प्रकार दोनों प्रकार के आयुबंध को समझना चाहिए।

यहाँ हमें पुन: गौर करना चाहिए कि आयु समय श्रृंखला का गणित नहीं है। इसीलिए योगी लोग आयुष्य को श्वासों का गणित मानते हैं। इनका मानना है कि श्वास को रोककर आयु को बढ़ाया जा सकता है। एक अपेक्षा से यह बात भी सत्य है क्योंकि साँस कर्म नहीं भोग है और इस दृष्टिकोण से अगर सोचा जाय, अनुभव किया जाय तो हम कहेंगे कि आयुष्य घट तो सकता है मगर बढ़ कदापि नहीं सकता। हाँ, कदाचित् समयावधि को बढ़ाया जा सकता है और वह भी तब तक ही संभव है जब तक अगले जन्म की कोई निकाचित् घटना जो आप को निश्चित समय में भोगनी ही है, आपको मरने के लिए बाध्य न करे। जो लोग संलेखना संथारापूर्वक अंतिम मारणांतिकी आराधना करते हैं, वे लोग अपवर्तनीय और अनपवर्तनीय दोनों प्रकार की आयु वाले लोग हो सकते हैं।

अध्याय-3

अधोलोक-मध्यलोक

अनुक्रमणिका

		मूल सूत्र एवं अर्थ	:	208
सूत्र - 1-6	:	अधोलोक	:	211
सूत्र - 7-18	:	मध्यलोक	:	216

।। अथ तृतीयोऽध्याय:।।
अधोलोक-मध्यलोक

मूल सूत्र एवं अर्थ

सूत्र-रत्नशर्कराबालुकापङ्क्धूमतमोमहातम: प्रभा भूमयो
घनाम्बुवाताकाशप्रतिष्ठा:सप्ताधोऽध:पृथुतरा: ।।1।।
अर्थ- रत्नप्रभा, शर्कराप्रभा, वालुकाप्रभा, पङ्कप्रभा, धूमप्रभा, तम:प्रभा और महातम:प्रभा ये सात भूमियाँ है। ये भूमियाँ घनाम्बु, वात आकाश पर स्थित है, एक दूसरे के नीचे हैं और नीचे की ओर अधिक-अधिक विस्तीर्ण है ।।1।।

सूत्र- तासुनरका: ।।2।।
अर्थ- उन भूमियों में नरक है ।।2।।

सूत्र- नित्याशुभतरलेश्यापरिणामदेहवेदनाविक्रिया: ।।3।।
अर्थ- वे नरक नित्य अशुभतर लेश्या, परिणाम, देह, वेदना और विक्रिया वाले हैं ।।3।।

सूत्र- परस्परोदीरितदु:खा:।।4।।
अर्थ- परस्पर उत्पन्न किए गए दु:खवाले हैं ।।4।।

सूत्र- संक्लिष्टा सुरोदीरितदु:खाश्च प्राक् चतुर्थ्या: ।।5।।
अर्थ- चौथी भूमि से पहले अर्थात् तीन भूमियों तक संक्लिष्ट असुरों के द्वारा किए गए दु:खवाले भी हैं ।।5।।

सूत्र- तेष्वेकत्रिसप्तदशसप्तदशद्वाविंशतित्रयस्त्रिंशत्सागरोपमा: सत्त्वानां परास्थिति: ।।6।।
अर्थ- उन नरकों में स्थित प्राणियों की उत्कृष्ट स्थिति क्रमश: एक, तीन, सात, दस, सत्रह, बाईस और तैंतीस सागरोपम है ।।6।।

सूत्र- जम्बूद्वीपलवणादय: शुभनामानो द्वीपसमुद्रा: ॥ 7॥
अर्थ- जम्बूद्वीप आदि शुभ नाम वाले द्वीप तथा लवण आदि शुभ नाम वाले समुद्र है ॥7॥

सूत्र- द्विर्द्विर्विष्कम्भा: पूर्वपूर्वपरिक्षेपिणो वलयाकृतय: ॥ 8॥
अर्थ- वे सभी द्वीप और समुद्र वलय (चूड़ी) की आकृति वाले, पूर्व-पूर्व को वेष्टित करने वाले और दुगुने-दुगुने विष्कंभ (व्यास या विस्तार) वाले हैं ॥8॥

सूत्र- तन्मध्ये मेरूनाभिर्वृत्तो योजनशतसहस्र विष्कम्भो जम्बूद्वीप: ॥9॥
अर्थ- उन सबके मध्य में जम्बूद्वीप है जो गोल है, एक लाख योजन विष्कंभवाला है और जिसके मध्य में मेरूपर्वत है ॥9॥

सूत्र- तत्र भरतहैमवतहरिविदेहरम्यकहैरण्यवतैरावतवर्षा: क्षेत्राणि ॥ 10॥
अर्थ- जम्बूद्वीप में भरतवर्ष, हैमवतवर्ष, हरिवर्ष, विदेहवर्ष, रम्यक्वर्ष, हैरण्यवतवर्ष और ऐरावतवर्ष-ये सात क्षेत्र हैं ॥10॥

सूत्र- तद्विभाजिन: पूर्वापरायता हिमवन्महाहिमवन्निषधनीलरूक्मिशिखरिणो वर्षधरपर्वता: ॥ 11॥
अर्थ- उन क्षेत्रों को पृथक् करने वाले और पूर्व पश्चिम लंबे हिमवान्, महाहिमवान्, निषध, नील, रूक्मी और शिखरी-ये छ: वर्षधर पर्वत हैं ॥11॥

सूत्र- द्विर्धातकीखण्डे ॥12॥
अर्थ- धातकीखण्ड में पर्वत तथा क्षेत्र जम्बूद्वीप से दुगुने हैं ॥12॥

सूत्र- पुष्करार्धे च ॥ 13॥
अर्थ- पुष्करार्धद्वीप में भी उतने (धातकीखण्ड जितने) ही हैं ॥13॥

सूत्र- प्राङ्मानुषोत्तरान्मनुष्या: ॥14॥
अर्थ- मानुषोत्तर नामक पर्वत के पहले तक ही मनुष्य हैं ॥14॥

सूत्र- आर्याम्लेच्छाश्च ॥ 15॥
अर्थ- वे आर्य और म्लेच्छ हैं ॥15॥

सूत्र- भरतैरावतविदेहाःकर्मभूमयोऽन्यत्र देवकुरूत्तरकुरूभ्यः ॥ 16॥
अर्थ- देवकुरू और उत्तरकुरू को छोड़ भरत, ऐरावत तथा विदेह-ये सभी कर्म भूमियाँ है ॥16॥

सूत्र- नृस्थिति परापरे त्रिपल्योपमान्तर्मुहूर्त्ते ॥ 17॥
अर्थ- मनुष्यों की स्थिति (आयु) उत्कृष्ट तीन पल्योपम और जघन्य अन्तर्मुहूर्त की है ॥17॥

सूत्र- तिर्यग्योनी नां च ॥18॥
अर्थ- तिर्यन्चों की स्थिति भी इतनी ही है अर्थात् जघन्य अन्तर्मुहूर्त और उत्कृष्ट तीन पल्योपम जितनी ही है ।।18।।

॥ इति मूल सूत्र तृतीयोऽध्यायः सम्पूर्णम् ॥

सूत्र-1-6

अधोलोक

यह जो हमारा लोक है वो एक शक्ति पिण्ड है, इसमें अनंत चीज़ें हैं। सबका अपना-अपना एक चुंबकीय क्षेत्र होता है। उसी तारतम्यता में सब चीज़ें अपना स्थान ग्रहण करती है, जो जिसके योग्य है वह उस स्थान में जाती है, इस प्रकार लोक का स्वरूप बना रहता है। जिस प्रकार कोई चीज़ नीचे की तरफ ज्यादा भारी होती है, ऊपर की तरफ कम भारी होती है। ठीक वैसे ही हमारे लोक का भार नीचे ज्यादा है, ऊपर कम है। लोक व्यवहार में हम उसे पाप का भार कहते हैं। पाप-पुण्य से ज्यादा होशियार होता है, पाप का चतुर्दिमाग होता है। उसमें complication ज्यादा होते हैं। वह दक्ष होता है, इसलिए दक्षिण की तरफ बहता है। दक्षिण अर्थात् लोक के नीचे का भाग। अब यह बड़ी विचित्र बात है कि अंधेरे का भार बहुत ज्यादा होता है। जैसे एक अंधेरा गोदाम पूरा भरा होता है मगर दिखता कुछ नहीं है। प्रकाश हल्का होता है इसलिए यह देवलोक का स्थान बन जाता है। इसीलिए वास्तु शास्त्र का नियम है कि गृहमालिक का शयनकक्ष (बेडरूम) ऊपर होना चाहिए। साफ-सुथरा होना चाहिए। नरक के जीवों का शरीर बड़ा होता है। मगर देवलोक के जीव बहुत छोटे होते हैं, उच्च कोटि के देवता तो एक बिलात् के ही होते हैं। उनकी संख्या बहुत ज्यादा होती है, नारकी जीवों की संख्या कम होती है। इसीलिए देवलोक स्थान कम घेरता है, नरक ज्यादा घेरता है। भार की दृष्टि से बैलेंस बन जाता है और लोक में अनंत काल से ऐसा ही व्यवस्थित है। जीव आते हैं, जाते हैं, क्रियाएँ होती रहती है मगर बैलेंस बना रहता है। विज्ञान की दृष्टि से तो ये लोक एक हवाई जहाज जैसा है। लोक ही क्यों, देवलोक को हमारे शास्त्रों ने विमान शब्द ही दिया है। ये हमारा लोक अनंत आकाश में उड़ रहा है। जिस तरह हम विमान में चलते-फिरते हैं फिर भी विमान का बैलेंस नहीं बिगड़ता, ठीक उसी तरह लोक विमान को समझना चाहिए।

पापकर्म भारी होते हैं। एक जीव का मस्तिष्क जब भारी कर्मों से ठसाठस भर जाता है तो वह नरक में चला जाता है, ठीक वैसे ही जैसे भारी चीज़ें पृथ्वी की ओर जाती है। दूसरा व्यक्ति जो सद्भाव कर्मों से लबालब होता है, उसमें कर्मकण तो ज्यादा होते हैं मगर वह फिर भी हल्का होता है। वह उर्ध्वगति करता है, उत्तर अर्थात् देवलोक की तरफ जाता है। जो जीव कर्मकणों से न हल्के, न भारी होते हैं अर्थात् न ठोस होते हैं, न गैस होते हैं, पानी की तरह तरल होते हैं वे मध्यलोक में आ जाते हैं। पानी की तरह बहते हैं और कर्मदलिकों के साथ घुलते-मिलते रहते हैं। परिपक्व होने पर या तो ऊपर चले जाते हैं या नीचे चले जाते हैं। बहुत ही कम जीव संयम, तप, सद्भावना और आत्मिक प्रवृत्ति द्वारा अपने आपको परिशुद्ध करते हैं। वे संसार में रहते हुए भी संसार में लिप्त नहीं होते। वे हल्के होकर भाप की तरह ऊँचे उठकर मुक्त हो जाते हैं। ध्यान रहे, पानी या बर्फ में बहुत से तत्त्वों का सम्मिश्रण होता है, मगर भाप परिशुद्ध होती है इसलिए हल्की होकर ऊपर उठती है। सर्वथा परिशुद्ध होने पर सर्वार्थसिद्ध स्थान से भी ऊपर 'प्राग्भा' को प्राप्त होती है। फिर वो कभी बरसात के रूप में नीचे नहीं बरसती मगर देवलोक के जीव समय आने पर नीचे बरस कर अर्थात् च्युत होकर, च्यवन को प्राप्त कर पुनः पृथ्वी पर आते हैं।

नरक के जीव भी जब ठण्ड की सीमा को पार कर जाते हैं तो गर्म होना शुरू करते हैं और पृथ्वी पर आते हैं मगर लोक का बैलेंस हमेशा बना रहता है। पर्यावरण अशुद्ध नहीं होता। यह सब बात अलग अपेक्षा से समझने योग्य है।

इस प्रकार इस सृष्टि में हर चीज़ यथागुण, यथाभार, यथासमय, यथास्थान ग्रहण करती रहती है। मगर सृष्टि सदा संयमित रहती है। इसे न कोई बनाने वाला है, न कोई बिगाड़ने वाला। हर जीव अपने-अपने लोक का सृजन खुद करता है और भोग भी खुद करता है। सारी गतिविधियाँ अपने आप ही एक क्रमबद्ध विज्ञान का रूप ले लेती है। यह सृष्टि सारे ही जीवों का भावफल है। जो हर पल नए रूप में व्यवहृत (व्यवहार) है। यथासमय यथास्थान है। स्वर्ग-नरक सब अपने-अपने स्थान पर है। न केवल सृष्टि, हर चीज़ में ये नियम लागू होता है। मनुष्य का शरीर भी अपने आप में एक लोक है। यत्पिण्डे तद् ब्रह्माण्डे। अधो भाग नरक व मध्यभाग मनुष्य लोक है। जननेन्द्रिय भवनपति देवों का स्थान है, शक्ति का केन्द्र है। नरक को छूता हुआ पेट मनुष्य लोक है। हृदय तक वाणव्यंतर देव होते हैं। गले तक ज्योतिष देव होते हैं। मुख वैमानिक देवलोक है और कपाल मोक्ष है।

वाचक उमास्वाति द्वारा रचित मोक्षमार्ग अपर नामक तत्त्वार्थ सूत्र के द्वितीय अध्याय में हमने जीव के भावों के विज्ञान को, गति, जन्म, उत्पत्ति, संज्ञी-असंज्ञी, पांच शरीर, विग्रह गति आदि के बारे में जाना। अब इस तीसरे अध्याय में अधोलोक तथा मध्यलोक का वर्णन किया जा रहा है।

प्रस्तुत तीसरे अध्याय में कुल 18 सूत्र है। इन 18 सूत्रों में से प्रारंभिक छः सूत्रों में नरक लोक (Hell) का वर्णन किया गया है। नरक लोक सात भूमि वाला है। अधोलोक में सात पृथ्वियाँ है। उनके नाम उनमें रहने वाले नारकी जीवों की अवस्था, दुःख व उनकी उम्र का उल्लेख करते हुए सूत्रकार कहते हैं कि

सूत्र-रत्नशर्कराबालुकापङ्क धूमतमोमहातमः प्रभा भूमयो
धनाम्बुवाताकाश प्रतिष्ठाः सप्ताधोऽधः पृथुतराः ॥1॥
तासु नरकाः ॥2॥
नित्याशुभतरलेश्यापरिणामदेहवेदना विक्रियाः ॥3॥
परस्परोदीरिति दुःखाः॥4॥
संक्लिष्टा सुरोदीरित दुःखाश्च प्राक् चतुर्थ्याः ॥5॥
तेष्वेकत्रिसप्त दश सप्तदश द्वाविंशति त्रयस्त्रिंशत्
सागरोपमाः सत्वानां परा स्थितिः ॥6॥

अर्थ- रत्नप्रभा, शर्कराप्रभा, वालुकाप्रभा, पङ्कप्रभा, धूमप्रभा, तमःप्रभा और महातमःप्रभा- ये सात भूमियाँ है। ये भूमियाँ घनाम्बु, वात, आकाश पर स्थित है, एक दूसरे के नीचे हैं और नीचे की ओर अधिक-अधिक विस्तीर्ण है ॥1॥

उन भूमियों में नरक है ॥2॥

वे नरक नित्य अशुभतर लेश्या, परिणाम, देह, वेदना और विक्रिया वाले हैं ॥3॥

परस्पर उत्पन्न किए गए दुःख वाले हैं ॥4॥

चौथी भूमि से पहले अर्थात् तीन भूमियों तक संक्लिष्ट असुरों के द्वारा किए गए दुःख वाले भी हैं ॥5॥

उन नरकों में स्थित प्राणियों की उत्कृष्ट स्थिति क्रमशः एक, तीन, सात, दस, सत्रह, बाईस और तैंतीस सागरोपम है ॥6॥

विवेचन- इन सातों नारकियों के जो नाम दिए गए हैं, वे समझने योग्य है। यहाँ सातों नारकियों के नाम के साथ में एक शब्द जुड़ा है-'प्रभा'। जैसे रत्नप्रभा, शर्कराप्रभा, बालुकाप्रभा इत्यादि।

'प्रभा' शब्द का अर्थ होता है-विशेष प्रकार की ज्योति, चमक, उजाला। साधारण आदमी समझता है कि देवलोक में तो प्रकाश है, उजाला है किंतु नरक में अधंकार। तो फिर प्रश्न यह उठता है कि भगवान पार्श्वनाथ के दिए हुए ये शब्द जिन्हें भगवान महावीर के शासन में भी ज्यों का त्यों रखा गया, ये उजाले के द्योतक क्यों है? जबकि देवलोकों के नाम के लिए ऐसे शब्दों का प्रयोग हुआ ही नहीं है। जैसे कि भवनपति देव, वाणव्यन्तर देव, ज्योतिष्क देव, वैमानिक देव आदि।

उजाले और अँधेरे की अपेक्षा से तो देवलोक ज्यादा प्रकाशित है मगर शास्त्रकारों ने उनके नाम में 'प्रभा' शब्द दिया ही नहीं। इसके कई कारणों में से एक कारण है-जैन धर्म अँधेरा, उजाला, छाया सबको 'पुद्गल' मानता है। जिसे हम प्रकाश कहते हैं, वह उद्योत ऊर्जा के बहाव का उत्तरी ध्रुव है, उर्ध्व ध्रुव है और जिसे हम अँधेरा कहते हैं वह भी प्रकाश ही है, उस ऊर्जा का अधो ध्रुव है। शास्त्रकारों की स्पष्ट दृष्टि रही है कि नरक के वर्णन से कोई साधक नरक के प्रति घृणा से नहीं भरे, डरे नहीं, उकताए नहीं, अलगाव भाव नहीं रखे बल्कि इस अध्याय का अध्ययन भी वैसे ही प्रेम से करे जैसे एक Pathologist व्यक्ति के मल-मूत्र का परीक्षण भी प्रेम से करता है।

दूसरी बात यह है कि व्यक्ति को प्रकाश या अंधेरे का अनुभव, उसके मस्तिष्क के विकास के अनुरूप होता है और उसकी मिथ्या या सम्यक्दृष्टि भी यहाँ महत्वपूर्ण होती है। सूर्य की रोशनी में सात रंग होते हैं। सातों ही रंगों का समानुपात हमारे जीवन के विकास का कारक होता है। इसीलिए उसे अरहंत भगवान का प्रतीक रंग माना गया है। अगर उसमें किसी रंग की कमीबेशी हो जावे तो फलों में परिवर्तन आ जाएगा। जैसे, लाल रंग ज्यादा आ जावे तो व्यक्ति क्रोधी होगा, अति उत्साही होगा, साहसी होगा। पीले रंग की अधिकता में व्यक्ति डेढ़ होशियार बन जाएगा और ज्ञान का विकृत विकिरण होगा। हरे रंग की अधिकता व्यक्ति को कामी, भोगी बनाती है तथा वनस्पति की तरह उसके अंग में अंग पैदा होने शुरू हो जाएँगे। नीले रंग की अधिकता व्यक्ति को आलसी व मूढ़ बनाती है। देवलोक के प्रकाशमान होते हुए भी तथा वहाँ का प्रकाश जीवनोपयोगी होने पर भी उनके नामों में 'प्रभा' शब्द देने की ज़रूरत महसूस नहीं की गई।

नरक लोक में किसी एक रंग का विशेष सद्भाव, विशेष प्रभुत्व होने के कारणों से वही रंग उस नरक के जीवों के दुःख का कारण बन रहा है।

रंगों की प्रभा होती ही मस्तिष्क की संरचना के अनुकूल है, जिसका मस्तिष्क जिस विषय में जितना अधिक विकसित होता है उसका लेश्यावलय वैसा ही होगा। वह मृत्यु उपरांत उसी लोक में जाएगा, जिस लोक में उसके मस्तिष्क के अनुरूप ही आभामंडल का घेरा हो। उत्तराध्ययन सूत्र में वर्णित लेश्या-विज्ञान बताता है कि जिस लेश्या में जीव मरता है, उसी लेश्यावलय वाले स्थान में वह पुनः जन्म लेता है।

पहला नरक रत्नप्रभा धरती है। इस नरक में जाने वाले जीव लौकिक दृष्टि से बड़े ज्ञानी व चरित्रवान होते

हैं मगर वो अत्यधिक कट्टर, रूढ़िवादी व द्वेषी होते हैं। वे अपनी मान्यता के अलावा दूसरी बात को अंगीकार ही नहीं करते बल्कि बल्लेबाज़ी करके बाउंस करते हैं, ठीक ऐसे ही जैसे हीरा। हीरा रत्न समवेत सफेद रंग की किरण को तोड़ कर सात रंगों में परावर्तित करके बाहर फैंक देता है। कुछ चरित्रवान लोग मणि की तरह बाकी बातों को तो एडजस्ट कर लेते हैं मगर लाल रंग को, जो उत्साह और क्रान्ति का रंग है, सिद्ध भगवान का भी प्रतीक रंग है, परावर्तित (reflect) करके बाहर फैंक देते हैं।

दूसरी नरक शर्कराप्रभा के जीव करीब सफेद और हल्के पीले रंग का आभावलय लिए होते हैं, मगर इनमें मिठास नहीं होती, बड़े कड़वे होते हैं। संगीत उन्हें प्रिय नहीं होता। मुस्कुराना वे अच्छा नहीं समझते। गंभीर बने रहते हैं। इस प्रकार जीवन की मिठास को वे परावर्तित करके बाहर फैंक देते हैं।

बालुकाप्रभा यानि तीसरे नरक की धरती का लेश्यावलय और वहाँ के रहने वाले जीवों का लेश्यावलय (magnetic field) खण्ड-खण्ड दिखता है। जैसे, आकाश गंगा में बिखरे-बिखरे तारे। ये बड़े लोभी और मायावी होते हैं। हर चीज़ को ग्रहण करते हैं, अंदर रखते हैं, बाहर नहीं निकालने देते, मगर एकता व समाजवाद नाम की कोई चीज़ वहाँ नहीं होती। यहाँ विशेषता यह है कि अंदर दबे हुए भाव ही धीरे-धीरे फूट कर परावर्तित होते हैं। पृथ्वीलोक में तो ऐसे लोगों की संगत करने वाले जीव भी लोभी बन जाते हैं।

पंकप्रभा के जीव भी मायावी और कीचड़ की तरह धँसे हुए होते हैं। ये जिस विषय में फँसते हैं, उस विषय को ही कीचड़ बना देते हैं। तिर्यक् लोक से ये इसी मानसिकता को लेकर आते हैं और इसी मानसिकता को लाखों साल जीते हैं।

धूम प्रभा के जीव बड़े उत्तेजक और शीघ्रता से आपे से बाहर होने वाले होते हैं। ये बिना प्रकट अग्नि के अंदर ही अंदर जलते रहते हैं और अगरबत्ती की तरह धुआँ छोड़ते रहते हैं।

छठी और सातवीं पृथ्वी तमःप्रभा और महातमःप्रभा घोर मूढ़ जीवों का लोक है। वह अभावों की धरती है। ये लोग स्वयं एक नंबर के बेईमान किंतु प्रेम के प्यासे होते हैं। ये स्वयं धन-माल, इज्जत-शोहरत, प्रेम-प्यार चाहते हैं मगर देना कुछ नहीं चाहते हैं। ये घोर हिंसक होते हैं। तेंदुलमच्छ की तरह ये सबको मार के खाना चाहते हैं। सबका धन हड़पना चाहते हैं, सबका पद हड़पना चाहते हैं। मनुष्य योनि में ये पद पाने के लिए, धन पाने के लिए, स्त्री/पुरूष पाने के लिए, वोट पाने के लिए कुछ भी कर सकते हैं, कोर्ट-कचहरी, पार्टीबाजी व युद्ध योजना में उलझे रहते हैं और मरकर छठी व सातवीं नरक में आते हैं तथा 33 सागरोपम की समयावधि तक उसी दुःख को भोगते रहते हैं।

नरक और देवलोकों में मानसिकता के अलावा कोई भेद नहीं है। नरक के जीव दुष्ट मानसिकता होने की वजह से तीन अधोलेश्या वाले होते हैं यथा कापोत, नील और कृष्ण। इनके परिणाम भी उलट गति वाले होते हैं। इनकी देह भी देवताओं के अनुपात में बड़ी होती है। इनका कष्ट भी बड़ा होता है क्योंकि कोई भी वस्तु जितनी ज्यादा जटिल है वह उतनी ही ज्यादा दुःख का कारण है। इनकी वेदना चूंकि मानसिक होती है, अतः भयंकर होती है। ये वेदना से बचने के लिए अपने वैक्रिय शरीर को अलग-अलग रूपों में विकीर्ण भी करते रहते हैं मगर हर उपाय में इन्हें वेदना ही मिलती है। ये जीव अपनी मानसिक तरंगों से और वैक्रिय लब्धियों से परस्पर एक-दूसरे को दुःख देते हैं। इन लोगों के दुःख के सारे प्रकार दृष्टांत के रूप में मनुष्य लोक में किसी न किसी रूप में व्याप्त होते ही हैं, देखे जा सकते हैं। जैसे एक बेटा बाप का दुश्मन होता है। हमें सबसे ज्यादा दुःख हमारे निकट संबंधी ही देते हैं।

अगर कोई मनुष्य अथवा विकसित मस्तिष्क वाला पशु एक-दूसरे का घोर विरोधी हो और हिंसक

स्वभाव वाला हो तो वे मरकर नरक में जा सकते हैं। चूंकि इस प्रकार के दो या उससे अधिक व्यक्ति पक्के विश्वास से यह मानते हैं कि 'मै सही हूँ। ये दूसरा मुझे दु:ख दे रहा है।' अत: इस द्वेष भावना से भरकर ये सारे ही जीव नरक में चले जाते हैं। फिर एक दूसरे से गिन-गिन कर बदला लेते हुए दु:ख देते हैं। दूसरा भी ऐसा ही करता है, वो भी गिन-गिन कर बदला लेता है। इतना है कि पहले, दूसरे व तीसरे नरक में दण्ड देने की प्रक्रिया में कुछ दुष्ट परमाधामी देवों का भी हाथ होता है। वे कुछ अच्छे कर्मों के कारण हठी और दंभी होते हुए भी देव बन जाते हैं। वे पिछले जन्म में स्वयं को श्रेष्ठ और दूसरे को हीन मानते रहे हैं। मगर कमज़ोर होने के कारण दबे रहते हैं। यहाँ वे अपने स्थान से नरक लोक में आकर उन जीवों को बोल-बोल कर कष्ट देते हैं, बदला लेते हैं। हालांकि नरक और देवलोकों में रहने वाले जीव अपने कर्मों को भोग-भोग कर उन दु:खों को क्षीण ही करते हैं मगर परमाधामी और किल्विषी देव वहाँ भी कर्मों का बंधन बाँधते हैं। यह एक विचित्र बात है क्योंकि उन्होंने पिछले जन्मों में जो धर्मक्रिया और त्याग-तपस्या की, वह द्वेषपूरित होने के कारण पापनुबंधी पुण्य बनी। अत: वह पुण्य भी अगले पाप का कारण बनता है, ऐसा पुण्य भी नहीं करना चाहिए। जैसे कमठ ने घोर तपस्या की और नियाणा बाँधा व अरहंत भगवान पार्श्वनाथ को घोर कष्ट देने का निमित्त बना।

ये नरक की भूमियाँ आकाश और समय की गहराई में एक दूसरे से गूढ़ गहरी होती है। व्यवहार भाषा में कह सकते हैं कि ये एक दूसरे से नीचे होती है।

पहली दूसरी नरक बहुत ही घने पानी जैसे वैक्रिय द्रव्य पर स्थित होती है। ठीक वैसे ही जैसे हमारी पृथ्वी का तीन-चौथाई भाग पानी है। इस अपेक्षा से पृथ्वी पानी पर स्थित हुई। हर नरक उत्तरोत्तर लंबाई, चौड़ाई और फैलाव की अपेक्षा से बड़ा होता है। तीसरा नरक घनीभूत वायु पर आधारित होता है। नीचे के नरक (4 से 7) में क्रमश: ये तत्त्व कम होते जाते हैं व आकाश तत्त्व (शून्य तत्त्व) बढ़ता जाता है। ये सब शून्य पर ही आधारित होते हैं। ये सारा वर्णन प्रमाण रूप में वैक्रिय दृष्टि से देखा जा सकता है । अत: इसकी भौतिक व्याख्या जो हम कर रहे हैं, उसे संकेत मात्र समझना चाहिए। अन्य विस्तार ज्ञान अनुभवगम्य तो है, शब्दगम्य नहीं।

चौथी, पाँचवी, छठी और सातवीं नरक भूमि में कोई देवता या मनुष्य उन्हें कष्ट नहीं देता। वे अपनी ही मानसिकता के कारण से परस्पर साहचर्य वैमनस्य के कारण से स्वयं को ही कष्ट देते हैं। ये जीव आत्मद्रोही व चेतनाद्रोही होते हैं।

नारकों की स्थिति बताते हुए सूत्रकार कहते हैं कि पहली नरकभूमि में रहने वाले जीव की स्थिति एक सागरोपम की, दूसरी की तीन सागरोपम की, तीसरी सात सागरोपम की, चौथी की दस, पाँचवी की सत्रह सागर, छठी की बाईस सागर व सातवीं की तैंतीस सागरोपम की उत्कृष्ट आयु स्थिति कही गई है।

(सागरोपम समयावधि को नापने की एक इकाई है। जिस तरीके से हमारे वैज्ञानिकों ने दूरी को मापने के लिए प्रकाशवर्ष आदि को माना है। ऐसे ही असंख्य वर्षों की अवधि को मापने के लिए सूत्रकार ने सागरोपम की एक उपमा दी है।)

सूत्र-7-18

मध्यलोक

तत्त्वार्थ सूत्र के तीसरे अध्याय में पिछले छः सूत्रों में हमने अधोलोक के बारे में विस्तृत जानकारी प्राप्त की। अधोलोक के बाद मध्यलोक जिसे कि तिर्यक् लोक भी कहा जाता है, उसके बारे में आगामी सूत्रों में वर्णन किया जा रहा है। संपूर्ण 14 रज्जु लोक को यदि तीन हिस्सों में बाँटे तो 7 रज्जु से कुछ कम उर्ध्वलोक है, 7 रज्जु से कुछ अधिक अधोलोक है व इन दोनों के मध्य का कुछ हिस्सा (लगभग 1800 योजन) मध्यलोक कहलाता है। जिस प्रकार मनुष्य के शरीर में नाभि का स्थान, जो ठीक मध्य में है, संपूर्ण शरीर का केन्द्र है। यहाँ से शरीर के ऊपरी व नीचे के दोनों हिस्सों में शक्ति का संचार होता है, ठीक वैसे ही मध्यलोक का स्थान समझना चाहिए।

मध्यलोक में असंख्य द्वीप समुद्र है, जो द्वीप के बाद समुद्र और समुद्र के बाद द्वीप इस क्रम में अवस्थित है; उन सबके व्यास, उनकी रचना और आकृति संबंधित बातें निम्न सूत्रों में कही जा रही है।

सूत्र- जम्बूद्वीप लवणादयः शुभनामानो द्वीपसमुद्राः ॥7॥
द्विर्द्विर्विष्कम्भाः पूर्वपूर्व परिक्षेपिणो वलयाकृतयः ॥8॥
तन्मध्ये मेरूनाभिर्वृत्तो योजनशत सहस्र विष्कम्भो जम्बूद्वीपः ॥9॥
तत्र भरतहैमवत हरिविदेह रम्यक हैरण्यवतैरावत वर्षाः क्षेत्राणि ॥10॥
तद्विभाजिनः पूर्वापरायता हिमवन्महाहिमवन्निषधनील
रूक्मिशिखरिणो वर्षधरपर्वताः ॥11॥
द्विर्धातकीखण्डे ॥12॥
पुष्करार्धे च ॥13॥
प्राङ्मानुषोत्तरान् मनुष्याः ॥14॥
आर्या म्लेच्छाश्च ॥15॥
भरतैरावतविदेहाः कर्मभूमयोऽन्यत्र देवकुरूत्तरकुरूभ्यः ॥16॥
नृ स्थिति परापरे त्रिपल्योपमान्तर्मुहूर्ते ॥17॥
तिर्यग्योनीनां च ॥18॥

अर्थ- जम्बूद्वीप आदि शुभ नाम वाले द्वीप तथा लवण आदि शुभ नाम वाले समुद्र है ॥7॥
वे सभी द्वीप और समुद्र वलय (चूड़ी) की आकृति वाले, पूर्व-पूर्व को वेष्टित करने वाले और

दुगुने-दुगुने विष्कंभ (व्यास या विस्तार) वाले हैं ॥8॥
उन सबके मध्य में जम्बूद्वीप है जो गोल है, एक लाख योजन विष्कंभवाला है और जिसके मध्य में मेरूपर्वत है ॥9॥
जम्बूद्वीप में भरतवर्ष, हैमवतवर्ष, हरिवर्ष, विदेहवर्ष, रम्यकवर्ष, हैरण्यवतवर्ष और ऐरावतवर्ष-ये सात क्षेत्र है ॥10॥
उन क्षेत्रों को पृथक् करने वाले और पूर्व पश्चिम लंबे हिमवान्, महाहिमवान्, निषध, नील, रूक्मी और शिखरी-ये छः वर्षधर पर्वत हैं ॥11॥
धातकीखण्ड में पर्वत तथा क्षेत्र जम्बूद्धीप से दुगुने हैं ॥12॥
पुष्करार्धद्धीप में भी उतने (धातकीखण्ड जितने) ही है ॥13॥
मानुषोत्तर नामक पर्वत के पहले तक ही मनुष्य हैं ॥14॥
वे आर्य और म्लेच्छ हैं ॥15॥
देवकुरू और उत्तरकुरू को छोड़ भरत, ऐरावत तथा विदेह-ये सभी कर्म भूमियाँ है ॥16॥
मनुष्यों की स्थिति (आयु) उत्कृष्ट तीन पल्योपम और जघन्य अन्तर्मुहूर्त्त की है ॥17॥
तिर्यन्चों की स्थिति (आयु) भी इतनी ही है अर्थात् उत्कृष्ट तीन पल्योपम और जघन्य अन्तर्मुहर्त्त जितनी ही है।।18।।

विवेचन- मध्यलोक का वर्णन प्रस्तुत सूत्र में अवधि ज्ञान और उस समय तक के विकसित विज्ञान के अनुसार किया गया है। कुछ कारणों से उपलब्ध साहित्य पर हम पुस्तक में विवेचन करना उचित नहीं समझते। संकेत रूप में आज की स्थिति की तुलना करते हैं तो ये संपूर्ण पृथ्वी जो गोल है और मेरू नामक नाभिकीय धुरी पर घूम रही है, इसमें भारतवर्ष एशिया द्वीप का एक भाग है। शास्त्रकार कहते हैं कि ये सात क्षेत्र हैं। आज की परिस्थितियों में उत्तरी अमेरिका, दक्षिणी अमेरिका, अफ्रीका, एशिया, यूरोप, अंटार्टिका और आस्ट्रेलिया-ये सात महाद्वीप बनते हैं। सूत्रों के अनुसार जंबूद्वीप में भरतवर्ष, हैमवतवर्ष अर्थात् बर्फ की तरह ठंडा, हरिवर्ष, विदेहवर्ष, रम्यक्वर्ष, हैरण्यवत् वर्ष (अर्थात् आस्ट्रेलिया) और ऐरावत वर्ष आदि नाम है।

यह मध्यलोक की बात है, जो नरकलोक से ऊँचा, देवलोक से नीचे और संपूर्ण लोक के मध्य में स्थित है। यहाँ रहने वाले मनुष्य तथा तिर्यच सभी औदारिक शरीरधारी होते हैं। सूत्रकार लिखते हैं कि मध्यलोक में जंबूद्वीप आदि शुभ नाम वाले द्वीप है व लवण समुद्र आदि शुभ नाम वाले समुद्र है। यह लेखक की उदारचित्तता है। यह द्वीप आकृति में वलयाकार है। ये द्वीप पूर्व को अर्थात् एक दूसरे को घेरे हुए हैं और एक दूसरे से बड़े-बड़े हैं। यह बात पुराने ज़माने में लिखे गए शास्त्रों के आधार पर लिखी गई है जिसे बहुत पहले अवधिज्ञानियों ने अपने शरीर में देख कर कही थी। जंबूद्वीप अर्थात् पृथ्वी का विस्तार उन्होंने एक लाख योजन का लिखा है। छः पर्वत इस जंबूद्वीप में हैं जो एक क्षेत्र को दूसरे क्षेत्र से पृथक् कर रहे हैं। सूत्रकार लिखते हैं कि जंबूद्वीप की तरह मध्यलोक में धातकीखण्ड भी है, वहां के पर्वत क्षेत्र दुगुने हैं। पुष्करार्धद्वीप को धातकी खण्ड के समान समझें। मानुष्योत्तर नामक पर्वत के पहले तक ही मनुष्य रहते हैं जो आर्य और म्लेच्छ है। भारत में रहने वालों को स्यात् इन्होंने आर्य

माना है और बाकी को म्लेच्छ माना है। सूत्रकार का कहना है कि देवकुरू और उत्तरकुरू को छोड़कर भरत, ऐरावत और विदेह-ये सभी कर्म भूमियाँ है अर्थात् यहाँ के मनुष्य विकसित मस्तिष्क वाले हैं और कर्म द्वारा अधोपतन या मुक्ति तक को प्राप्त कर सकते हैं। शेष जगहों में भी मनुष्य तो रहते हैं। मगर वे भोगभूमि वाले जीव हैं, पशुवत् रहते हैं। वहाँ उन्हें हर आवश्यक वस्तु प्रकृति और वनस्पति से प्राप्त हो जाती है। अतः वहाँ सभ्यता-संस्कृति अभी विकसित नहीं है। इन सब मनुष्यों के आयुष्य के बारे में भी उमास्वाति जी वही बात कह रहे हैं, जो प्राचीन समय में समण संस्कृति में पढ़ाई जाती रही है। अलग-अलग जगहों में मनुष्य की अलग-अलग आयुष्य संभव है, जो कम से कम अन्तर्मुहूर्त्त और ज्यादा से ज्यादा तीन पल्योपम की है अर्थात् मनुष्य की आयु अन्तर्मुहूर्त्त से लगाकर असंख्यात् वर्षों तक की है। मगर यह आयु इस पृथ्वी के लोगों की है, ऐसा वे नहीं कह रहे हैं। ये पूरे मध्यलोक के कई पृथ्वियों की बात कर रहे हैं। वहाँ मनुष्य की तरह तिर्यंचों की आयु भी वैसी ही समझनी चाहिए। इस प्रकार अधोलोक-मध्यलोक को वर्णित करता हुआ यह तृतीय अध्याय संक्षिप्त में पूर्ण हुआ। हकीकत में इस अध्याय को अवधि ज्ञानी या कोई अतीन्द्रिय विज्ञानी ही पूर्णतः समझ सकता है। समण वाङ्मय में जैसा पारंपरिक उल्लेख मिलता है, वैसा ही कथन कर पा रहे हैं, शेष व्यक्तिगत ध्यान का विषय होने के कारण हम क्षमा माँगते हैं।

अध्याय-4

उर्ध्वलोक–देवलोक

अनुक्रमणिका

		मूल सूत्र एवं अर्थ	:	222
सूत्र - 1-3	:	देव निकाय चार	:	229
सूत्र - 4-5	:	देवलोकों की लोकतांत्रिक व्यवस्था	:	231
सूत्र - 6	:	चौसठ इन्द्र	:	234
सूत्र - 7	:	लेश्या	:	236
सूत्र - 8-10	:	प्रवीचार	:	238
सूत्र - 11	:	भवनपति निकाय	:	240
सूत्र - 12	:	व्यन्तर निकाय	:	244
सूत्र - 13-20	:	ज्योतिष्क एवं वैमानिक देव	:	248
सूत्र - 21-22	:	देवलोकों की उत्तरोतर विशिष्टता व हीनता	:	252
सूत्र - 23-27	:	लेश्या व लोकान्तिक	:	255
सूत्र - 28	:	तिर्यंच योनि जीव	:	258
सूत्र - 29-42	:	देव आयु	:	260
सूत्र - 43-44	:	नरक आयु	:	264
सूत्र - 45-53	:	स्थिति	:	266

।। अथ चतुर्थोऽध्याय:।।
उर्ध्वलोक-देवलोक

मूल सूत्र एवं अर्थ

सूत्र- देवाश्चतुर्निकाया: ।।1।।
अर्थ- समूह विशेष या जाति को निकाय कहते हैं। देवों के चार निकाय या प्रकार है- भवनपति, वाणव्यंतर, ज्योतिष्क और वैमानिक।।1।।

सूत्र- तृतीय: पीतलेश्य: ।।2।।
अर्थ- तीसरा निकाय पीली लेश्या वाला है।।2।।

सूत्र- दशाष्टपंचद्वादश विकल्पा: कल्पोपपन्न पर्यन्ता: ।।3।।
अर्थ- कल्पोपपन्न देवों तक चतुर्निकायिक देवों के क्रमश: दस, आठ, पाँच और बारह भेद हैं। भवनपति के दस, व्यंतर निकाय के आठ, ज्योतिष्क निकाय के पाँच और वैमानिक निकाय के बारह भेद हैं।।3।।

सूत्र- इन्द्रसामानिकत्रायस्त्रिंशपारिषद्यात्मरक्षलोकपालानीकप्रकीर्णकाभियोग्य गकिल्विषिकाश्चैकश: ।।4।।
अर्थ- इन्द्र, सामानिक, त्रायस्त्रिंश, पारिषद्य, आत्मरक्षक, लोकपाल, अनीक, प्रकीर्णक, अभियोग्य और किल्विषिक-यह देवों की दस श्रेणियाँ हैं ।।4।।

सूत्र- त्रायस्त्रिंशलोकपालवर्ज्या व्यंतरज्योतिष्का: ।।5।।
अर्थ- व्यंतर तथा ज्योतिषी देवों में त्रायस्त्रिंश तथा लोकपाल नहीं होते।।5।।

सूत्र- पूर्वयोर्द्वीन्द्रा: ।।6।।
अर्थ- पूर्व अर्थात् पहले दो देवनिकायों के दो-दो इन्द्र होते हैं।।6।।

सूत्र- पीतान्तलेश्या: ॥7॥
अर्थ- पहले दो देवनिकायों-भवनवासी और व्यंतर देवों के पीतलेश्या तक लेश्या होती है।।7।।

सूत्र- कायप्रवीचारा आ-ऐशानात् ॥8॥
अर्थ- ऐशान कल्प तक के देव काय प्रवीचारी होते हैं अर्थात् शरीर से विषय सुख भोगते हैं।।8।।

सूत्र- शेषा:स्पर्शरूपशब्दमन:प्रवीचारा द्वयोर्द्वयो: ॥9॥
अर्थ- शेष देव (तीसरे से बारहवें देवलोक तक के) दो-दो कल्पों में क्रमश: स्पर्श, रूप, शब्द और मन (संकल्प) द्वारा विषय सुख भोगते हैं ॥9॥

सूत्र- परेऽ प्रवीचारा: ॥10॥
अर्थ- अन्य सब देव (इन 12वें देवलोकों से आगे के देव) प्रवीचार से रहित अर्थात् वैषयिक सुख भोग से मुक्त होते हैं ॥10॥

सूत्र- भवनवासिनो ऽसुरनाग विद्युत्सुपर्णाग्निवात स्तनितोदधि द्वीप दिक्कुमारा: ॥11॥
अर्थ- असुरकुमार, नागकुमार, विद्युत्कुमार, सुपर्णकुमार, अग्निकुमार, वातकुमार, स्तनितकुमार, उदधिकुमार, द्वीपकुमार और दिक्कुमार- ये दस भवनवासी निकाय है ॥11॥

सूत्र- व्यंतरा: किन्नरकिंपुरूषमहोरगगांधर्वयक्षराक्षसभूत पिशाचा: ॥12॥
अर्थ- किन्नर, किंपुरूष, महोरग, गंधर्व, यक्ष, राक्षस, भूत और पिशाच-ये (आठ) व्यंतर निकाय है ॥12॥

सूत्र- ज्योतिष्का: सूर्याश्चन्द्रमसो ग्रह नक्षत्र प्रकीर्णतारकाश्च ॥13॥
अर्थ- सूर्य, चंद्र, ग्रह, नक्षत्र और प्रकीर्ण तारा-ये पाँच ज्योतिष्क निकाय है ॥13॥

सूत्र- मेरूप्रदक्षिणा नित्यगतयो नृ लोके ॥14॥
अर्थ- वे मनुष्यलोक में मेरू के चारों ओर प्रदक्षिणा करते हैं तथा नित्य गतिशील है ॥14॥

सूत्र- तत्कृत: कालविभाग: ॥15॥
अर्थ- काल का विभाग उनके द्वारा किया हुआ है ॥15॥

सूत्र- बहिरवस्थिता: ॥16॥
अर्थ- ज्योतिष्क मनुष्यलोक के बाहर स्थित होते हैं ॥16॥

सूत्र- वैमानिका: ॥17॥
अर्थ- चतुर्थ निकाय वाले वैमानिक देव हैं ॥17॥

सूत्र- कल्पोपपन्ना: कल्पातीताश्च ॥18॥
अर्थ- वे कल्पोपन्न और कल्पातीत है ॥18॥

सूत्र- उपर्युपरि ॥19॥
अर्थ- ऊपर-ऊपर रहते हैं ॥19॥

सूत्र- सौधर्मैशानसानत्कुमार माहेन्द्र ब्रह्मलोक लान्तक महाशुक्र सहस्त्रारेष्वानतप्राणतयोरारणाच्युतयोर्नवसु ग्रैवेयकेषु विजय वैजयन्त जयन्ताऽ पराजितेषु सर्वार्थसिद्धे च ॥20॥
अर्थ- सौधर्म, ईशान, सानत्कुमार, माहेन्द्र, ब्रह्मलोक, लान्तक, महाशुक्र, सहस्रार, आनत, प्राणत, आरण और अच्युत (इन 12 कल्पों) तथा नौ ग्रैवेयक और विजय, वैजयंत, जयंत, अपराजित एवं सर्वार्थसिद्ध- ये सभी वैमानिक देव है ॥20॥

सूत्र- स्थिति प्रभावसुखद्युति लेश्याविशुद्धिन्द्रियावधिविषयतोऽधिका: ॥21॥
अर्थ- स्थिति, प्रभाव, सुख, द्युति, लेश्याविशुद्धि, इन्द्रियविषय और अवधि विषय की ऊपर-ऊपर के देवों में अधिकता होती है ॥21॥

सूत्र- गति शरीर परिग्रहाभिमानतो हीना: ॥22॥
अर्थ- गति, शरीर, परिग्रह और अभिमान की ऊपर-ऊपर के देवों में हीनता होती है ॥22॥

सूत्र- पीतपद्मशुक्ललेश्या द्वित्रिशेषेषु ॥23॥
अर्थ- दो, तीन और शेष देवलोकों में क्रमशः पीत, पद्म और शुक्ल लेश्या पाई जाती है ॥23॥

सूत्र- प्राग्ग्रैवेयकेभ्यः कल्पाः ॥24॥
अर्थ- ग्रैवयकों से पहले कल्प है ॥24॥

सूत्र- ब्रह्मलोकालया लोकान्तिकाः ॥25॥
अर्थ- ब्रह्मलोक ही लोकान्तिक देवों का आलय है ॥25॥

सूत्र- सारस्वतादित्यहन्य् रूणगर्दतोयतुषिताव्याबाधमरूतोऽरिष्टाश्च ॥26॥
अर्थ- सारस्वत, आदित्य, वह्नि, अरूण, गर्दतोय, तुषित, अव्याबाध, मरूत और अरिष्ट-ये लोकांतिक है ॥26॥

सूत्र- विजयादिषु द्विचरमाः ॥27॥
अर्थ- विजयादि के देव द्विचरम होते हैं अर्थात् दो बार मनुष्य जन्म धारण करके मोक्ष प्राप्त करते हैं ॥27॥

सूत्र- औपपातिकमनुष्येभ्यः शेषास्तिर्यग्योनयः ॥28॥
अर्थ- औपपातिक और मनुष्य से जो शेष हैं, वे तिर्यंच योनि वाले हैं ॥28॥

सूत्र- स्थितिः ॥29॥
अर्थ- आयु का वर्णन किया जाता है ॥29॥

सूत्र- भवनेषु दक्षिणार्धाधिपतीनां पल्योपम मध्यर्धम् ॥30॥
अर्थ- भवनों में दक्षिणार्ध की स्थिति डेढ़ पल्योपम है (1+1/2) ॥30॥

सूत्र- शेषाणां पादोने ॥31॥
अर्थ- शेष इंद्रों की स्थिति पौने दो पल्योपम है ॥31॥

सूत्र- असुरेन्द्रयो: सागरोपममधिकं च ॥32॥
अर्थ- दो असुरेन्द्रों की स्थिति क्रमशः सागरोपम और कुछ अधिक सागरोपम है ॥32॥

सूत्र- सौधर्मादिषु यथाक्रमम् ॥33॥
अर्थ- सौधर्म देवलोकों में क्रमशः निम्नोक्त स्थिति है ॥33॥

सूत्र- सागरोपमे ॥34॥
अर्थ- सौधर्म (प्रथम देवलोक) में दो सागरोपम की आयुस्थिति है ॥34॥

सूत्र- अधिके च ॥35॥
अर्थ- ईशान (दूसरे देवलोक) में दो सागरोपम से कुछ अधिक देवों की आयु स्थिति है ॥35॥

सूत्र- सप्त सानत्कुमारे ॥36॥
अर्थ- सानत्कुमार (तीसरे देवलोक) के देवों की आयु सात सागरोपम है ॥36॥

सूत्र- विशेषत्रि सप्तदशैकादशत्रयोदशपंचदशभिरधिकानि च ॥37॥
अर्थ- माहेन्द्र से आरण-अच्युत तक (4 से 12) क्रमशः कुछ अधिक सात सागरोपम है।
पाँचवे देवलोक की तीन अधिक सात सागरोपम यानि 3+7=10 सागरोपम
छठे देवलोक की सात अधिक सात सागरोपम यानि 7+7=14 सागरोपम।
सातवें देवलोक की दस अधिक सात सागरोपम यानि 10+7=17 सागरोपम।
आठवें देवलोक की ग्यारह अधिक सात सागरोपम यानि 11+7=18 सागरोपम।
नौवें-दसवें देवलोक की तेरह अधिक सात सागरोपम यानि 13+7=20 सागरोपम
ग्यारहवें एवं बारहवें देवलोक की पंद्रह अधिक सात सागरोपम यानि 15+7=22 सागरोपम की आयु है ॥37॥

सूत्र- आरणाच्युता दूर्ध्वमेकैकेन नवसु ग्रैवेयकेषु विजयादिषु सर्वार्थसिद्धे च ॥38॥
अर्थ- आरण-अच्युत देवलोक से ऊपर नौ ग्रैवेयक, चार विजय आदि अनुत्तर विमान और सर्वार्थसिद्ध के देवों की आयु अनुक्रम से एक-एक सागरोपम अधिक कही गई है ॥38॥

सूत्र- अपरा पल्योपममधिकं च ।।39।।
अर्थ- अपरा अर्थात् जघन्य स्थिति पल्योपम और कुछ अधिक पल्योपम है ।।39।।

सूत्र- सागरोपमे ।। 40।।
अर्थ- दो सागरोपम की है ।।40।।

सूत्र- अधिके च ।।41।।
अर्थ- कुछ अधिक दो सागरोपम की है ।।41।।

सूत्र- परतः परतः पूर्वा पूर्वाऽनंतरा ।।42।।
अर्थ- पहले-पहले की उत्कृष्ट स्थिति आगे-आगे की जघन्य स्थिति है ।।42।।

सूत्र- नारकाणां च द्वितीयादिषु ।।43।।
अर्थ- नारकों की दूसरी आदि भूमियों में पूर्व-पूर्व की उत्कृष्ट स्थिति ही अनंतर-अनंतर की जघन्य स्थिति है ।।43।।

सूत्र- दशवर्षसहस्राणि प्रथमायाम् ।।44।।
अर्थ- पहली भूमि में जघन्य स्थिति दस हज़ार वर्ष की है ।।44।।

सूत्र- भवनेषु च ।।45।।
अर्थ- भवनपतियों की जघन्य स्थिति दस हज़ार वर्ष ही है ।।45।।

सूत्र- व्यंतराणां च ।।46।।
अर्थ- व्यंतर देवों की भी जघन्य स्थिति दस हज़ार वर्ष ही है ।।46।।

सूत्र- परा पल्योपमम् ।।47।।
अर्थ- उत्कृष्ट स्थिति एक पल्योपम की है ।।47।।

सूत्र- ज्योतिष्काणामधिकम् ।।48।।
अर्थ- ज्योतिष्क अर्थात् सूर्य व चंद्र की उत्कृष्ट स्थिति कुछ अधिक एक पल्योपम प्रमाण है ।।48।।

सूत्र- ग्रहाणामेकम् ॥49॥
अर्थ- ग्रहों की उत्कृष्ट स्थिति एक पल्योपम है ॥49॥

सूत्र- नक्षत्राणामर्धम् ॥50॥
अर्थ- नक्षत्रों की उत्कृष्ट स्थिति अर्ध पल्योपम है ।।50 ।।

सूत्र- तारकाणां चतुर्भागः ॥51॥
अर्थ- तारों की उत्कृष्ट स्थिति पल्योपम का चतुर्थांश है ॥51॥

सूत्र- जघन्या त्वष्टभागः ॥52॥
अर्थ- जघन्य स्थिति पल्योपम का अष्टमांश है ॥52॥

सूत्र- चतुर्भागः शेषाणाम् ॥53॥
अर्थ- शेष ज्योतिष्कों अर्थात् ग्रहों व नक्षत्रों की, तारों को छोड़कर जघन्य स्थिति पल्योपम का चतुर्थांश है ।।53 ।।

॥ इति मूल सूत्र चतुर्थोऽध्यायः सम्पूर्णम् ॥

सूत्र-1-3
देव निकाय चार

वाचक उमास्वाति द्वारा सृजित तत्त्वार्थ सूत्र के तीसरे अध्याय में हमने अधोलोक व मध्यलोक के बारे में जाना। अब इस चतुर्थ अध्ययन में उर्ध्वलोक देवलोक की चर्चा है।

इस लोक में नरक से ऊपर ही देवलोक प्रारंभ हो जाता है। भाव की अपेक्षा से देवलोक व नरकलोक की उत्तर से दक्षिण तक की एक ही स्थिति है। जिसे हम थर्मामीटर से समझना चाहें तो जहाँ दुःख ही दुःख है, वह नरक। जहाँ सुख-दुःख दोनों है, वह मध्यलोक; जिसमें पृथ्वीलोक व कई तरह के द्वीप, समुद्र आते हैं; जहाँ मनुष्य, पशु-पक्षी, कीड़े-मकोड़े आदि समस्त चर प्राणी होते हैं। भवनपति और वाणव्यंतर देव भी स्थान की अपेक्षा से इसी लोक में आते हैं। अतः ये भी मनुष्यों के जीवन को सबसे ज्यादा प्रभावित करते हैं। जैसे हमारे यहाँ पार्श्वनाथ शासनसूरी (देवी) के रूप में दो पद्मावती देवी की मान्यता प्रचलित है। एक भवनपति नाग महारानी है तो दूसरी यक्षिणी। यक्षिणी का जो पति है, उसे पार्श्वयक्ष कहते हैं। वह भी वाणव्यंतर देवों में इन्द्र है। उसका मुख हाथी की तरह है और दोनों ही शक्तियाँ मनुष्य लोक के बहुत निकट होने के कारण हमें प्रभावित करती हैं। इस लोक में वाणव्यंतर से ऊपर स्पष्ट देवलोक है, जहाँ उत्तरोतर सुख की बढ़ोतरी होती है। ये ज्योतिष्क देव कहलाते हैं। ये एक तरह से अग्नि के गोले के समान होते हैं व प्रकाश की किरणें फैंकते रहते हैं। ये स्वयं तो वैक्रिय शरीरधारी होते हैं मगर इनका लोक एक धधकते सूर्य की तरह होता है, जिसे हम किसी विकसित वैज्ञानिक यंत्र से देखें तो वहाँ हमें धधकती हुई ज्वाला और हीरे-पन्नों की तरह चमकते हुए पदार्थ दिखेंगे। उस तापमान पर हर चीज़ ज्वालामुखी होने के कारण चमकती है। उससे ऊपर वैमानिक देवलोक होते हैं।

इस प्रकार ये देव चार प्रकार के होते हैं-

1. भवनपति 2. व्यंतर, 3. ज्योतिष्क 4. वैमानिक।

सूत्र- देवाश्चतुर्निकायाः ॥1॥
तृतीयः पीतलेश्यः ॥2॥

अर्थ- समूह विशेष या जाति को निकाय कहते हैं। देवों के चार निकाय या प्रकार है- भवनपति, वाणव्यंतर, ज्योतिष्क और वैमानिक ॥1॥
तीसरा निकाय पीली लेश्या वाला है ॥2॥

विवेचन- तीसरे देवनिकाय अर्थात् ज्योतिष्क देवलोक में पीतलेश्या की अधिकता होती है अर्थात् वे उच्च कोटि

के ज्ञानी होते हैं, अतः उनकी चमक विशेष होती है। उनकी लेश्या पीतलेश्या होती है।

सूत्र-दशाष्टपंचद्वादश विकल्पाः कल्पोपन्न पर्यन्ताः ॥3॥

अर्थ- कल्पोपन्न देवों तक चतुर्निकायिक देवों के क्रमशः दस, आठ, पाँच और बारह भेद हैं। भवनपति के दस, व्यंतर निकाय के आठ, ज्योतिष्क निकाय के पाँच और वैमानिक निकाय के बारह भेद हैं ॥3॥

विवेचन- भवनपति देव प्राकृत शक्तियों के स्वामी होते हैं। हर देवता में एक प्राकृत शक्ति विशेष होती है। अतः उस शक्ति के देवताओं की जाति विशेष होती है, इसलिए उस जाति को वैसा ही नाम दिया गया है। ये कुल दस प्रकार की जाति वाले देवता होते हैं, जिनके नाम इस प्रकार हैं-

1. असुरकुमार 2. नागकुमार 3. विद्युत कुमार 4. सुवर्ण कुमार 5. अग्नि कुमार
6. वायु कुमार 7. स्तनित कुमार 8. उदधि कुमार 9. द्वीप कुमार 10. दिक् कुमार

वाणव्यंतर देव पृथ्वीलोक के निकट संबंधी होते हैं। कई पेड़ों पर इनके पूरे-पूरे नगर बसे होते हैं। उनकी आठ जातियाँ होती है। उनके नाम भी गुणों के अनुरूप ही दिए गए हैं। जो इस प्रकार है-

1. किन्नर 2. किंपुरूष 3. महोरग 4. गंधर्व
5. यक्ष 6. राक्षस 7. भूत 8. पिशाच

ज्योतिष्क देव पाँच प्रकार के होते हैं। जो इस प्रकार है-चंद्र, सूर्य, ग्रह, नक्षत्र व तारे। वैमानिक देवों में दूसरे देवलोक तक स्त्री व पुरूष लिंग की व्यवस्था है। तीसरे देवलोक में भी स्त्रियों का आवागमन है मगर उससे ऊपर सभी देवता पुरूष ही होते हैं। मनुष्य लोक में भी उनका आवागमन अथवा संबंध, प्रेरणा आदि से हैं। इन्हें ठीक ऐसे ही समझना चाहिए जैसे पहली कक्षा से बारहवीं कक्षा तक सीनियर सैकण्डरी स्कूल। यहाँ समझ लेना चाहिए कि यहाँ तक देवता संपूर्ण नहीं है। वैमानिक देवों में ही दो उच्च भाग और होते हैं। जैसे एम.ए. स्नातकोत्तर के विद्यार्थी नव ग्रैवेयेक देव हुए और डॉक्टरेट पाने वाले विद्यार्थी अनुत्तर विमान वाले हुए। इन दोनों कक्षाओं में किसी प्रकार की शासन व्यवस्था या अनुशासन नहीं होता। हर देवता अपने आप में संपूर्ण और राजा ही होता है। इसे ऐसे समझ सकते हो कि बारहवीं कक्षा तक स्कूल में अनुशासन में रहना पड़ता है, उपस्थिति दर्ज़ करवानी पड़ती है मगर कॉलेज में जाते ही हर विद्यार्थी स्वतंत्र हो जाता है। जब कोई विद्यार्थी डॉक्टरेट की डिग्री ले लेता है तो वह अपने विषय का मालिक बन जाता है और विद्या के बंधनों से मुक्त हो जाता है। ठीक इसी तरह अनुत्तर विमान से उच्चतम अवस्था में आने वाले जीव चरम अवस्थित कहलाते हैं, सिद्ध परमात्मा हो जाते हैं, मुक्त हो जाते हैं।

सूत्र-4-5

देवलोकों की लोकतांत्रिक व्यवस्था

वैमानिक देवों के मूलतः दो भेद हैं- 1. कल्पोपपन्न व 2. कल्पातीत। जिन स्वर्गों में इन्द्र, सामानिक आदि श्रेणियाँ पाई जाती है, उन्हें कल्प कहा गया है और उनमें उत्पन्न होने वाले देव 'कल्पोपपन्न' कहलाते हैं। जिन विमानों में इन्द्र आदि की श्रेणियाँ नहीं पाई जाती, उनमें उत्पन्न होने वाले देव 'कल्पातीत' कहलाते हैं। तत्त्वार्थ सूत्र के चतुर्थ अध्याय के सूत्र 4 व 5 में कहा जा रहा है कि कल्पोपपन्न देवों की दस श्रेणियाँ होती है किंतु व्यंतर व ज्योतिषी देवों में आठ श्रेणियाँ होती है, त्रायस्त्रिंश तथा लोकपाल- ये दो पदवियाँ नहीं होती। सूत्र इस प्रकार है-

सूत्र- इन्द्र सामानिक त्रायस्त्रिंश पारिषद्यात्मरक्षलोक-
पालानीक-प्रकीर्णकाभियोग्य किल्विषिकाश्चैकशः ॥4॥
त्रायस्त्रिंशलोकपाल वर्ज्या व्यंतर ज्योतिष्काः ॥5॥

अर्थ- इन्द्र, सामानिक, त्रायस्त्रिंश, पारिषद्य, आत्मरक्षक, लोकपाल, अनीक, प्रकीर्णक, अभियोग्य और किल्विषिक-यह देवों की दस श्रेणियाँ है ॥4॥
व्यंतर तथा ज्योतिषी देवों में त्रायस्त्रिंश तथा लोकपाल नहीं होते ॥5॥

विवेचन- देवलोक में भी मनुष्य लोक की तरह अनुशासन व्यवस्था होती है। देवता होने से कोई सर्वथा समकित नहीं होता; सामान्यतया अधिकांश जीव समकित नहीं होते। फिर भी वे सुखी होते हैं, यह इसलिए माना गया है क्योंकि वे वहाँ मानसिक जीवन जीते हैं। कुछ विशेष प्रकार के तपस्वी ज़रूर देव गति में जाते हैं, सकारात्मक भावों में जीने वाले, धैर्य और क्षमा गुण से युक्त लोग अगर मरकर पुनः मनुष्य न बने तो देवलोक में ही जाते हैं। इसमें किसी धर्म-संप्रदाय का भेदभाव नहीं होता। मनुष्य लोक में उनके मन में कुछ कुंठाएँ होती है, वे बहुत कुछ प्राप्त करना चाहते हैं मगर कर नहीं पाते। फिर भी वे वैर-विरोध में खड़े नहीं होते, अपने मन में सुख प्राप्त करने के लिए भाव करते रहते हैं, वे मरकर देवलोक में चले जाते हैं और उस मानसिक संसार में इच्छित सुखों को कई गुना और हज़ारों साल तक पाते रहते हैं। जब तक कि उनके पुण्य बंध समाप्त नहीं हो जाते। फिर भी सबको मन माफ़िक सारी चीज़ें नहीं मिल सकती इसलिए वहाँ भी व्यभिचार की पूरी संभावनाएँ होती है। विचारधारा और मान्यताएँ तो बहुत अलग-अलग होती है। पृथ्वीलोक से मरकर देवलोक में जाने वाला हर नया जीव नई विचारधारा लेकर वहाँ पर पहुँचता है। वहाँ हज़ारों साल पुराने बस रहे देवों को वे विचार मान्य नहीं होते। ठीक ऐसा ही सब कुछ होता

है, जैसा पृथ्वीलोक में नई पीढ़ी और पुरानी पीढ़ी का झगड़ा होता है। फर्क इतना ही है कि भूलोक में वातावरण आदमी को बनाना पड़ता है, देवलोक में हर देव के मस्तिष्क के अनुसार प्राकृत परिस्थितियों में बदलाव अपने आप होता है मगर कलह-क्लेश तो रहता ही है। भूत-प्रेतों में तो खूब झगड़े रहते हैं। पहले और दूसरे देवलोकों में भी खूब झगड़े रहते हैं। कई देवता दूसरे देवों की देवियों को चुरा लेते हैं। देवता होने से कोई सभ्य होता हो, ऐसी बात वहाँ भी नहीं है। इसलिए जैन धर्म, इस्लाम धर्म व ईसाई धर्म में तो देवी-देवताओं की पूजा को भी अमान्य किया गया है।

जैन धर्म में तो देव सिर्फ अरहंत परमात्मा को माना गया है। गुरू भी उसे माना गया है, जिसके मन में कोई गाँठ नहीं है। चाहे वह वेशधारी हो या न हो। व्रतधारी हो या न हो। बस वह निर्ग्रंथ हो, इतना ही काफी है। कई आचार्य स्पष्ट उद्घोषणा करते हैं कि

'देवा वि तं नमंसंति, जस्स धम्मे सया मणो।'

अर्थात् आप देवी-देवता की बंदगी, चापलूसी या भक्ति न करो क्योंकि देवता भी उसको नमन करते हैं, जिसका मन सदा धर्ममय होता है।

देवलोक में भी ऐसी परिस्थितियाँ आती है कि वहाँ अपराध होते हैं और व्यवस्था करने के लिए दण्डनायक भी होते हैं। यहाँ सूत्रकार दस तरह के नाम देकर यह बताते हैं कि इस तरह के अधिकारी वहाँ होते हैं-

1. इन्द्र- इन्द्र अर्थात् स्वामी, अधिपति। यह शेष समस्त अधिकारियों में सबसे बड़ा होता है। सबसे प्रमुख होता है। ठीक वैसे ही, जैसे हमारे यहाँ राजा या राष्ट्रपति होता है।
2. सामानिक-ये इन्द्र के समान होते हैं। अमात्य, पिता, गुरू आदि की तरह पूज्य भी होते हैं किंतु इन्द्र की तरह इनकी आज्ञा नहीं चलती। देवता इनकी आज्ञा को मानने के लिए बाध्य नहीं है।
3. त्रायस्त्रिंश- ये देव इन्द्र के पुरोहित, धर्मगुरू तुल्य होते हैं। ऐसा भी कहा जाता है कि प्रत्येक इन्द्र के साथ तैंतीस होते हैं, इसलिए त्रायस्त्रिंश कहलाते हैं।
4. पारिषद्य- इन्द्र की परिषद के सदस्य जैसे सांसद, केबिनेट के सदस्य।
5. आत्मरक्षक-आत्मरक्षक अर्थात् बॉडीगार्ड। शस्त्र धारण करके इन्द्र की पीठ की ओर खड़े रहने वाले।
6. लोकपाल-सीमाओं की रक्षा के लिए उत्तरदायी देव।
7. अनीक-अनीक अर्थात् सेना। सैनिक और सेनापति देव।
8. प्रकीर्णक-नगरवासी अथवा देशवासी प्रजाजनों के समान इंद्र के अधीन रहने वाले देवी व देवता।
9. आभियोग्य- सेवक या दासतुल्य देव।
10. किल्विषिक- ऐसे देव जिन्हें चांडाल कर्म करने होते हैं। ये अन्त्यज देव होते हैं। इनका निवास स्थान विमान के बाह्य भागों में होता है।

व्यंतर और ज्योतिषी देवों में त्रायस्त्रिंश और लोकपाल श्रेणी के देव नहीं होते हैं। कारण यह है कि व्यंतर और ज्योतिषी-ये दो प्रकार के देव बहुत बड़े समूह में नहीं होते। छोटे-छोटे टुकड़ों में होते हैं। भूत-प्रेत आदि तो हर गाँव, शहर, शमशान, जंगल आदि में किसी पेड़ और लता के सहारे अपना झुण्ड लिए मिल जाएँगे। बशर्ते कि

आपको देखना आवे। ज्योतिषी देव भी ग्रह-नक्षत्र के छोटे-छोटे झुण्डों में बँटे रहते हैं।

अतः इनमें एक विशेष प्रकार की एकरूपता नहीं होती। इन्द्र तो एक ही होता है मगर शेष जनता समुदायों में बिखरी होती है। अधिकारी और इन्द्र देव अपने अवधि ज्ञान से बहुत कुछ जान पाते हैं, बहुत कुछ नहीं भी जान पाते, अतः लोक की पदवी वहाँ नहीं होती। एकवेशिता (Uniformity) का कानून वहाँ लागू नहीं होता। अतः व्यंतर और ज्योतिष्क देवों में लोकपाल और त्रायस्त्रिंश-ये दो पदवियाँ नहीं होती। वहाँ आठ प्रकार के अधिकारी ही होते हैं। धर्मगुरू वहाँ नहीं होते क्योंकि सारे भूत-प्रेतों की मान्यताएँ अलग-अलग होती है। कुछ विद्वान लोकपाल का अर्थ सीमा का रक्षक (सीमान्त प्रहरी) बताते हैं। तो वह भी कानून के अंतर्गत आने वाला विषय ही है। वह अधिकार भी उनके पास में संभवतया होता है। मगर ऐसी अवस्था में उन्हें दिक्पाल कहा जाता है।

इस प्रकार हम देखें कि देवलोकों में लोकतंत्रीय व्यवस्था प्रणाली मौजूद होती है। वहाँ भी शासक देव व शासित देव होते हैं। हकीकत में तो जैसी हमारी मानसिक संरचना होती है, वैसा ही हमारा विश्व भी होता जाता है। चूंकि सभी की मानसिक संरचनाएँ भिन्न-भिन्न होती है, अतः सबकी सृष्टि रचना भी भिन्न-भिन्न होती है। कोई राजा है तो कोई प्रजा। कोई कानून व्यवस्था बनाने वाला है तो कोई उसको तोड़ने वाला। कोई व्यवस्था का पालन करवाता है तो कोई व्यवस्था में दखलंदाजी देने वाले को दण्ड देता है। दण्ड का विधान व पुरस्कार का प्रलोभन यत्र-तत्र-सर्वत्र देखने को मिलता है। जब तक हम सम्यक्दृष्टा नहीं हो जाते तब तक चक्रीय परिवर्तनों के हिस्से बनकर देव-नरक-मनुष्य व तिर्यंच के सुख-दुःख को भोगते रहने को बाध्य होते हैं।

इन सारे वर्णनों को जानकर हमें अपना मनोभाव सुख व दुःख की अवस्था से निरपेक्ष बना लेना चाहिए।

सूत्र-6

चौसठ इन्द्र

अब तक के पाँच सूत्रों में हमने चार निकाय के देवता एवं उनकी शासन व्यवस्था का थोड़ा-बहुत परिचय प्राप्त किया। अब सूत्र संख्या-6 में हम भवनवासी और व्यंतर देवों के इन्द्र के बारे में परिचय प्राप्त कर रहे हैं। यहाँ वाचक उमास्वाति कहते हैं कि-

सूत्र- पूर्वयोर्द्वीन्द्राः ॥6॥

अर्थ- पूर्व अर्थात् पहले दो देवनिकायों के दो-दो इन्द्र होते हैं ॥6॥

विवेचन- भवनवासी और व्यंतर- ये प्रारंभिक दो देवनिकाय है। इनमें प्रत्येक जाति के दो-दो इन्द्र होते हैं। भवनवासी की कुल दस जातियाँ व व्यंतर देवों की कुल आठ जातियाँ बताई जाती है। इस प्रकार 10+8=18 एवं 18x2=36। इन्द्र देव इन दो प्रकार के देव समूह में हैं, जिनका नाम क्रमशः इस प्रकार है। इनमें से एक उत्तर दिशा का तथा एक दक्षिण दिशा का स्वामी होता है-

भवनवासी देवों के इन्द्रों के नाम-

1.	असुरकुमार के दो इन्द्र	चमर और बलि
2.	नागकुमार जाति के दो इन्द्र	धरण और भूतानंद
3.	सुवर्णकुमार जाति के दो इन्द्र	वेणुदेव और वेणुदाली
4.	विद्युतकुमार जाति के दो इन्द्र	हरि और हरिसह
5.	अग्निकुमार जाति के दो इन्द्र	अग्निशिख और अग्निमाणव
6.	द्वीपकुमार जाति के दो इन्द्र	पूर्ण और वशिष्ट
7.	उदधिकुमार जाति के दो इन्द्र	जलकांत और जलप्रभ
8.	दिक्कुमार जाति के दो इन्द्र	अमितगति और अमितवाहन
9.	वायुकुमार जाति के दो इन्द्र	वेलंब और प्रभंजन
10.	स्तनित कुमार जाति के दो इन्द्र	घोष और महाघोष

व्यंतर निकाय के इन्द्रों के नाम-

1.	पिशाच जाति के दो इन्द्र	काल और महाकाल
2.	भूत जाति के दो इन्द्र	सुरूप और प्रतिरूप
3.	यक्ष जाति के दो इन्द्र	पूर्णभद्र और मणिभद्र
4.	राक्षस जाति के दो इन्द्र	भीम और महाभीम
5.	किन्नर जाति के दो इन्द्र	किन्नर और किंपुरूष
6.	किंपुरूष जाति के दो इन्द्र	सत्पुरूष और महापुरूष
7.	महोरग जाति के दो इन्द्र	अतिकाय और महाकाय
8.	गंधर्व जाति के दो इन्द्र	गीतरति और गीतयश ।

इनके अतिरिक्त दो देवनिकाय ज्योतिष्क और वैमानिक है। ज्योतिष्क जाति के दो इन्द्र है-सूर्य और चंद्र। किंतु सूर्य और चंद्र असंख्यात है क्योंकि तिर्यक्लोक में द्वीप-समुद्र भी असंख्यात हैं। अतः ज्योतिष्क इन्द्र भी असंख्यात है। वैमानिक देवों में बारह देवलोक तक, जहाँ तक कल्पमर्यादा है वहाँ तक ही इन्द्र होते हैं। पहले से आठवें देवलोक तक इन्हीं देवलोकों के नाम वाला एक-एक इन्द्र है। किंतु नवें व दसवें देवलोक का (आणत और प्राणत का)एक ही इन्द्र है और इसी प्रकार ग्यारहवें और बारहवें देवलोक का एक ही इन्द्र है। इस प्रकार बारह देवलोकों के कुल दस इन्द्र हुए।

देवों की चारों निकायों के कुल 64 इन्द्र होते हैं, जो इस प्रकार है-

20 इन्द्र भवनवासी देवों के (10 उत्तरदिशा के व 10 दक्षिण दिशा के)
32 इन्द्र व्यंतर जाति के देवों के (16 उत्तरदिशा के व 16 दक्षिण दिशा के)
2 इन्द्र ज्योतिष्क देवों के (चंद्र और सूर्य)
10 इन्द्र वैमानिक देवों के

ये कुल 64 इन्द्र तीर्थंकरों के जन्मकल्याणक आदि अवसरों पर इस तिर्यक्लोक से संबंधित होते हैं, ऐसा कहा जाता है।

सूत्र-7
लेश्या

पिछले सूत्र में हमने चारों निकायों के इन्द्रों के बारे में जाना। अब इस सूत्र में वाचक उमास्वाति पहले दो देवनिकायों की लेश्या के बारे में बतला रहे हैं। सूत्र रूप कथन यह है कि-

सूत्र-पीतान्तलेश्याः ॥7॥

अर्थ - पहले दो देवनिकायों-भवनवासी और व्यंतर देवों के पीतलेश्या तक लेश्या होती है ॥7॥

विवेचन- लेश्या अर्थात् आभावलय (Electro Magnetic Field) जो प्रत्येक जीव के भावों के अनुरूप रंग व आकार बदलता रहता है। जिस जीव के भावों में कालुष्य ज्यादा होता है अर्थात् अशुभ लेश्या की अधिकता होती है तो वह मरकर नरक गति में जाता है। अगर लेश्याओं में लगभग समानुपात अवस्था आ जाती है तो वह मनुष्य लोक में जाता है। कोई व्यक्ति तब तक देवता बन ही नहीं सकता जब तक उसमें पीत लेश्या की अधिकता न हो। पीत लेश्या की विशेष अधिकता से व्यक्ति देवलोक में जाता है मगर यह स्थिति भवनपति, वाणव्यंतर, ज्योतिषी व ज्यादा से ज्यादा दूसरे देवलोक तक की है। ये लोग ज्ञानी होते हैं, यद्यपि साधु होना इनके लिए अनिवार्य नहीं है। करीब-करीब ज्ञानी गृहस्थ भी इन्हीं निकायों में जाता है। ज्ञानी आदमी 99 प्रतिशत नरक में नहीं जाएगा। कठोर तपस्वी, कर्मकाण्डी, रूढ़-मूढ़ व्यक्ति प्रायः नरक में जा सकता है क्योंकि ऐसे लोग अक्सर ज़िद्दी, घमण्डी, प्रदर्शनकारी व द्वेषपूर्ण होते हैं। बाल तपस्वी यानि अज्ञान में तप तपने वाले अक्सर प्राणों के अतिपतन को ही प्राप्त करते हैं।

दूसरे देवलोकों से ऊपर देवलोकों में प्रायः वे ही जाते हैं जिनमें पद्मलेश्या की अधिकता हो। जैसे-जैसे पद्मलेश्या बढ़ती है, कई बार ज्ञान की कमी होनी शुरू हो जाती है। मगर उसकी दृष्टि उज्ज्वल बनती जाती है। ये प्रायः भक्तिमार्गी होते हैं। इन्हें ज्ञान की आवश्यकता नहीं होती। ये अपने लक्ष्य के पक्के होते हैं। निरंतर उच्चतर अवस्था को ही पाते हैं।

प्रस्तुत सूत्र कहता है कि भवनवासी व व्यंतर देव, पीत जिसके अंत में है, उस लेश्या वाले होते हैं अर्थात् चार लेश्याएँ उनमें पाई जाती है। ये चार लेश्याएँ क्रमशः इस प्रकार है-कृष्णलेश्या, नीललेश्या, कापोतलेश्या व पीत (तेजो)लेश्या।

इन लेश्याओं के दो भेद होते हैं-भाव लेश्या और द्रव्य लेश्या।

भाव लेश्या तो आत्मा के योग और कषाय रंजित भावों को कहते हैं। आत्मा के शुभाशुभ भाव ही भावलेश्या है, ये तो हर भाव परिवर्तन के साथ बदलती रहती है किंतु द्रव्य लेश्या इतनी जल्दी नहीं बदलती। शरीर का वर्ण आदि द्रव्य लेश्या है।

इन देवों का जो वैक्रिय शरीर है, वह प्रायः काला, नीला, हरा व पीला रंग का होता है अथवा इनके सम्मिश्रण से उत्पन्न रंग का होता है किंतु श्वेत आदि शुभ्र वर्ण का नहीं होता है क्योंकि इनके भाव इतने शुद्ध नहीं होते हैं। इन दो निकायों के देवताओं में प्रायः कुंठाओं व आवेशों की अधिकता होने से ये शुद्ध लेश्या को उपलब्ध नहीं कर पाते हैं।

सूत्र-8-10

प्रवीचार

पिछले सूत्रों में हमने भवनपति व वाणव्यंतर देवों के इन्द्र व उनकी लेश्या के बारे में समझा। अब वाचक उमास्वाति इस चतुर्थ अध्याय के आठवें, नौवें व दसवें सूत्रों में देवलोकों के वैषयिक सुखों के तरीकों को बतलाते हैं। सूत्र पाठ इस प्रकार है-

सूत्र- कायप्रवीचार आ-ऐशानात् ॥8॥
शेषाः स्पर्श रूप शब्द मनः प्रवीचारा द्वयोर्द्वयोः ॥9॥
परेऽ प्रवीचाराः ॥10॥

अर्थ-ऐशान कल्प तक के देव काय प्रवीचारी होते हैं
अर्थात् शरीर से विषय सुख भोगते हैं ॥8॥
शेष देव (तीसरे से बारहवें देवलोक तक के)
दो-दो कल्पों में क्रमशः स्पर्श, रूप, शब्द और मन (संकल्प)
द्वारा विषय सुख भोगते हैं ॥9॥
अन्य सब देव (इन 12वें देवलोकों से आगे के देव)
प्रवीचार से रहित अर्थात् वैषयिक सुख भोग से मुक्त होते हैं ॥10॥

विवेचन- भवनवासी, व्यंतर, ज्योतिष्क तथा सौधर्म और ईशानकल्प तक के देव काया से प्रवीचार करते हैं। ये देवता मानसिक काम-भोग शरीर के तल पर करते तो हैं किंतु मनुष्य की तरह नहीं कर सकते क्योंकि वहाँ कर्मभूमि नहीं है, भोग भूमि है अतः इन के प्रवीचार का तरीका इंसान के तरीकों से भिन्न होता है।

दूसरे देवलोक तक तो स्त्रीवेद व पुरूषवेद दोनों प्रकार के वेद पाए जाते हैं अर्थात् देवता के साथ-साथ देवियाँ भी वहाँ जन्म लेती है अतः इनका प्रवीचार बहुत सी देवियों के साथ संभव है। उनमें काम-भोग का भाव बना रहता है मगर विचार नहीं आता। अंदर के पुराने कल्प अपने आप उदीर्ण होते रहते हैं और वे स्त्री-पुरूष का भोग प्राप्त करते रहते हैं। ये भोग शरीर से भोगा हुआ होते हुए भी मानसिक ही होता है। ठीक ऐसे ही जैसे स्वप्न में हम शारीरिक भोग भोगते हैं। तीसरे और चौथे देवलोक में देवियों का आवागमन तो होता है मगर वह अल्पसमय के लिए होता है, वे वहाँ पैदा नहीं होती, न ही वहाँ रहती है। उनका स्पर्श, रूप, शब्द प्राप्त होते ही काम भोग हो

जाता है। इनमें द्रव्य स्खलन नहीं होता। मगर रोमांच की चरम स्थिति तक वे जाते हैं और फिर शांत हो जाते हैं।

पाँचवे व छठे देवलोक में भी देवी रूप स्त्रियाँ नहीं होती मगर जब वे आती हैं तो उनके रूप को देखकर ही काम-भोग हो जाता है। सातवें-आठवें देवलोक में भी पहले व दूसरे देवलोक की देवियाँ उनके दर्शन करने लगती है और जैसे ही वे मधुर वचन बोलती है, गीत गाती है, तरह-तरह के संगीत में अपने भाव प्रकट करती है उनका काम-भोग संपन्न हो जाता है। इन देवलोकों के जीव बड़े उच्च कोटि के संगीतज्ञ होते हैं। मगर काम-भोग की इच्छा शेष रहने के कारण देव गति को प्राप्त होते हैं।

नवें से बारहवें तक चारों देवलोकों के जीव शब्द कंपन के भी पार पहुँचे हुए होते हैं अर्थात् वे शब्द सुनकर काम भोग तृप्ति नहीं करते। मगर काम-भोग की इच्छा उनमें भी शेष रहती ही है। जिसे वे लाखों सालों तक भोग कर निर्जरित करते हैं और ये सारा कार्य प्रगाढ़ नींद की तरह होता है। वे अपनी मुद्रा में ही जमे रहते हैं। अंदर दबी हुई काम-भोग की ग्रंथियाँ संकल्प बन-बन कर उदय में आती रहती है और वे लगातार उस संवेदना में रहते हैं। ये संवेदनाएँ लगातार बनी रहती है। इसमें दैहिक व मानसिक स्खलन जैसा कुछ नहीं होता क्योंकि ये उत्कृष्ट संवेदना ही होती है। काम सुख का अनुभव कल्प मात्र से घटित होता रहता है। मात्र मनोगत संकल्प ही सुख का जनक होता रहता है।

बारह देवलोक के बाद के नौ ग्रैवेयक और अनुत्तर विमान के देव-हमेशा आनंद में तो रहते हैं मगर उनके आनंद में किसी भी विषय-विशेष के भोग की स्थिति नहीं रहती, न ही लालसा रहती है। उनकी आत्म-शक्ति की योग्यता गज़ब की प्रकट होती है मगर कुछ करने-कराने का भाव ही नहीं होता। मन में रहे हुए विषय भोग के सारे भाव विषय-विशेष से रहित हो जाते हैं। अतः जो थोड़ी बहुत ग्रंथियाँ होती भी है, उनमें कोई विषय नहीं होता। किसी प्रकार का संकल्प-विकल्प रूप भाव ही नहीं होता। बस फोड़े फूटते रहते हैं और आनंद आता रहता है मगर अंदर बने हुए सारे फोड़े देवलोक में नहीं फूटते। कुछ निदानित फोड़े उसके बाद में भी बच जाते हैं, जिसे फोड़ने के लिए उन्हें वापिस मनुष्य लोक में अवतार लेना पड़ता है। ये करीब-करीब एकभव अवतारी ही होते हैं।

सारे ही देव गुणस्थान की अपेक्षा से काम-भोग अथवा मुक्त भोग करने वाले होने के कारण तथा अविरति भाव में जीने के कारण चौथे गुणस्थान से ऊपर नहीं जा सकते। मगर मनुष्य लोक में पुनः जन्म लेकर वे ग्यारहवें गुणस्थान को पार करके फिर निरंतर चढ़ते ही जाते हैं और सिद्ध-बुद्ध हो जाते हैं।

अतः देवी-देवता की आशातना कभी भी नहीं करनी चाहिए। चाहे वे अभी प्रथम से चतुर्थ गुणस्थान तक में ही स्थित हो किंतु उनकी दिव्यता-भव्यता आदरणीय है। तैंतीस प्रकार की आशातनाओं में 'मिच्छामि दुक्कड़ं' देते समय उभयकालीन प्रतिक्रमण में 'देवाणं आसायणाए व देवीणं आसायणाए' का सूत्र पाठ भी आता है जो स्पष्ट करता है कि भूल-चूक से भी देव-देवी की आशातना की हो तो वह दुष्कृत निष्फल होवे। समकित साधक देवी-देवता की न आराधना करता है न आशातना, वह उनका आदर करता है। ज़रूरत पड़ने पर आह्वान व वार्तालाप भी करता है किन्तु जो 'गुरूदेव' हैं, देव रूप में स्थित गुणशक्तियाँ हैं उनकी गुण स्तुति करने की मनाही नहीं है।

सूत्र-11
भवनपति निकाय

'लोक कैसा है ?' जब यह प्रश्न प्रभु महावीर से पूछा गया, तब उन्होंने कहा कि 'एक कमर पर हाथ रखे खड़े मनुष्य की तरह, जिसके दोनों पैर फैले हो अंदर की तरफ, ठीक वैसा ही यह लोक है।' प्राचीन किताबों में व पुराणों में भी इसे डमरू की आकृति का बताया गया है। कहने का तात्पर्य यह है कि जैसा मनुष्य है, ठीक वैसा ही संपूर्ण लोक है। ऐसा क्यों ? क्योंकि इस संपूर्ण लोक को मनुष्य ने अपने भीतर देखा है। प्रभु महावीर का यह प्रसिद्ध वचन है कि 'जहां अंतो तहा बाहिं, जहां बाहिं तहा अंतो।' अर्थात् जैसा अंदर है वैसा ही बाहर है और जैसा बाहर है, वैसा ही अंदर है। जैसा हमारे भीतर है, वैसा ही बाहर है। इन समस्त महापुरूषों ने इस संपूर्ण लोक को अपने अंदर देखा है। जैसा अपने भीतर देखा, वैसा ही उन्होंने बाहर प्रकट किया है। किंतु यह प्रगटीकरण हमेशा ही टुकड़ों-टुकड़ों में होता है। वेदन तो संपूर्ण होता है किंतु कथन भंग-भंग। यही कारण है कि संपूर्ण लोक को भी उन्होंने तीन भागों वाला बतलाया। यह कथन की अपेक्षा मात्र से किया गया कथन है। हकीकत में तो सब कुछ भंगरहित है, विभाग मुक्त है किंतु समझाने के दृष्टिकोण से इसे उर्ध्वलोक, मध्यलोक व अधोलोक के रूप में समझाया गया है।

पिछले तीसरे अध्याय में हमने मध्यलोक व अधोलोक के बारे में संक्षिप्त जानकारी प्राप्त की थी। इस चतुर्थ अध्याय में उर्ध्वलोक का वर्णन किया जा रहा है। न केवल उर्ध्वलोक का वरन् चार प्रकार के देवनिकायों को हम यहाँ समझ रहे हैं। ये चारों देवनिकाय व नौ ही ग्रह, चंद्र-सूर्य आदि सभी कुछ मनुष्य के शरीर में भी स्थित है। आत्मज्ञानी पूज्य श्री विराट गुरूदेव ऐसा बताते हैं कि अगर कोई व्यक्ति भवनपति देवों से प्रताड़ित है, उनके प्रभाव से ग्रसित है तो उसके पाँवों में पीड़ा की अनुभूति होती है। वाणव्यंतर देवों की प्रताड़ना व प्रभाव से किडनी व जननेंद्रिय का भाग प्रभावित होता है। ज्योतिष देव मनुष्य की देह में स्थित हृदय के हिस्से को प्रभावित करते हैं। मनुष्य आदि तिर्यक् जीव पेट के लिए ही जीवनयापन करते हैं और पेट में छुरा घोंपते हैं। वैमानिक देव मुख व मस्तिष्क को आंदोलित करते हैं। 'प्राग्भा' मस्तिष्क की अंतिम परत को पार करने वाला स्थान है, जहाँ शांति ही शांति है। उसका (प्राग्भा का) प्रतीक चंद्रमा माना गया है। मस्तिष्क में उससे थोड़ा-सा नीचा स्थान सूर्य का होता है, जो पूरे शरीर को प्रकाशित करता है। अतः इसे हमारे सौरमंडल का राजा माना गया है।

ज्योतिष के अनुसार सबसे ऊपर चंद्रमा होता है, इसे सूर्य का छत्र अथवा 'सूर्य की रानी' माना गया है। इन दोनों के बीच में पृथ्वी होती है, ये हमारे शरीर में छाती के नीचे का स्थान है। बुध और शुक्र पृथ्वी से ऊपर होते हैं, ये दोनों ही देवता है। बुध गले में माना गया है और शुक्र हृदय में। शुक्र के नीचे हमारे सौरमंडल में मंगल है। ये पेट का स्थान है। ये ही जीवन की सारी दिनचर्या, क्रियाकलाप एवं अच्छे-बुरे आचरण का मूल है। मंगल के नीचे गुरू की स्थिति है। गुरू ग्रह बड़ा शक्तिशाली ग्रह है और बहुत बड़ा भी है। यह नीचे होते हुए भी देवतुल्य है, प्रेरक ग्रह है। यह हमें ऊँचे उठने की प्रेरणा देता है। हमारे शरीर में इसका स्थान गुप्तेन्द्रिय का भाग है। लड़के-लड़कियों की

शादी करते समय एवं शादी के लिए मुहूर्त्त आदि देखते समय इसकी स्थिति विशेष तौर पर देखी जाती है। किसी भी स्त्री का पति उसमें स्थित गुरू ग्रह के अनुसार होता है। गुरू के नीचे शनि का स्थान है, जो भवनपति देवों का स्थान भी है। यह भी गुदा व जननेन्द्रियों वाला हिस्सा है। ये सारी प्राकृत शक्तियों का स्वामी है मगर बड़ा ठंडा ग्रह है। इसकी आकृति शिवलिंगनुमा होती है। यह ग्रह ठंडा होते हुए भी एक भिन्न तरह की उष्मा वाला है। एक ऐसी उष्मा जो कभी भी ज्वालामुखी की तरह फट सकती है। इसके नीचे इंद्र, अरूण, वरूण और यम- ये सब ठंडे ग्रह है। इन्हें नरक माना गया है। लोक में उर्ध्व हिस्सा जितना गर्म है, अधो हिस्सा उतना ही ठंडा होता है। हज़ारों डिग्री माइनस सेल्शियस ठंडा व उतना ही भारी होता है। मगर यहाँ के जीवों को उस गर्मी में कश्मीर जैसा ठंडा वातावरण मिलता है। ये संसार अनेकांत विज्ञान से भरा हुआ है। आप भी ध्यान में जाकर इसे जान सकते हैं मगर जितना जानोगे उतना कम ही होगा, जब तक कि केवल दर्शन न प्रगट हो। केवल दर्शन के बाद किसी लौकिक जानकारी की आवश्यकता नहीं रहती। ऐसा केवल दर्शन सभी को प्रकट हो। अब हम इस चतुर्थ अध्याय में ग्यारहवें सूत्र की बात करते हैं-

सूत्र- भवनवासिनो ऽसुरनाग विद्युत्सुपर्णाग्निवात स्तनितोदधि द्वीप दिक्कुमारा: ॥11॥

अर्थ- असुरकुमार, नागकुमार, विद्युत्कुमार, सुवर्णकुमार, अग्निकुमार, वातकुमार, स्तनितकुमार, उदधिकुमार, द्वीपकुमार और दिक्कुमार-ये दस भवनवासी निकाय है ॥11॥

विवेचन- भवनपति देवों की दस जातियाँ है। इन जातियों में पैदा होने वाले देवों में जन्मजात विशेष गुण और शक्तियाँ प्राप्त रहती है। ये दसों ही प्राकृत शक्तियाँ होती हैं। ये सारे के सारे देवता मनुष्यलोक से नीचे होते हैं। यह रहस्य अरिष्टनेमि भगवान् ने हज़ारों साल पहले बताया था अन्यथा साधारण आदमी देवताओं को हमेशा उर्ध्वदिशा में ही मानता है। भगवान पार्श्वनाथ के समकालीन अथवा बाद में वैदिकों द्वारा पद्मपुराण लिखी गई। तब उन्होंने भी इस रहस्य का उद्घाटन किया कि इस भूमि के नीचे भी एक देवलोक है। कुछ वैदिक तत्त्वदर्शी भूमि के नीचे आठ ही प्रकार के देवताओं को देख पाए हैं क्योंकि असुरकुमार और दिक्कुमार देव भवनपति देवलोक की संरचना में कुछ अलग-थलग से होते हैं। असुरकुमार देव इनमें सबसे ज्यादा शक्तिशाली, आकार के छोटे और केन्द्रस्थ होते हैं। उनका निवास एक तरह से संपूर्ण देवलोक की राजधानी होता है। वे सब शासक और राजा होते हैं। पूरी राजनीति वहीं से निर्णीत होती है, जैसे भारत में केन्द्र शासित दिल्ली। इन कारणों के रहते हुए बहुत से अवधिज्ञान दृष्टा उनको अलग से जातिगत देख नहीं पाते। इसी प्रकार दिक्कुमार निकाय भी शरीर की त्वचा की तरह होता है। इसे आप सीमा पर पड़ी हुई सेना समझ सकते हैं। अत: अवधि दृष्टा उनको भी अलग से नहीं समझ पाता है। इन दसों देवताओं की जातियों के नाम इस प्रकार है-

1. असुरकुमार 2. नागकुमार 3. विद्युत्कुमार 4. सुपर्णकुमार 5. अग्निकुमार
6. वात्कुमार 7. स्तनितकुमार 8. उदधिकुमार 9 द्वीपकुमार 10. दिक्कुमार।

असुरकुमार को इस पृथ्वी का हर तरह से केन्द्र समझना चाहिए। नागकुमार धराधर अथवा धरणेन्द्र होते हैं अर्थात् पृथ्वी में चलने वाली गुरूत्वाकर्षण शक्ति (gravitational force)। वैदिक लोग इसे शेषनाग के रूप

में मानते हैं। जैन वाङ्मय में नागकुमार देवों के राजा धरणेन्द्र और रानी पद्मावती है। यहाँ हम प्रसंगवश लिख देते हैं कि जैनियों की शासनदेवी पद्मावती यक्षिणी नहीं है। मगर बहुत से आचार्यों ने पद्मावती को सिद्ध करने का प्रयत्न किया तो उन्हें पार्वती रूप नागरानी पद्मावती तो नहीं मिल पाई मगर यक्ष-यक्षिणी पद्मावती से संबंध ज़रूर हुआ। ये यक्ष-यक्षिणी पति-पत्नि पार्श्वनाथ भगवान् के भक्त रहे हैं। मगर गृहस्थ जीवन में सुख लोलुपता की वृत्तियाँ बहुत ज्यादा होने से मृत्यु उपरांत यक्ष-यक्षिणी बन गए। ये वाणव्यंतर देव हैं। मगर साधक को खूब मदद करते हैं। ये अक्सर पहाड़ की चोटियों पर अथवा घोर जंगल में साधक को प्रत्यक्ष होते हैं। अतः यक्षिणी पद्मावती व पार्श्व यक्ष को भी शासन देवी-देव के रूप में माना जाता है। यह यक्ष भी यक्षलोक का राजा है और भोग, खाना-पीना, नाच-गान उत्सव आदि से खुश होता है और उत्सव में भक्ति करने वालों को लाभ भी पहुँचाता है। इस पार्श्वयक्ष का मुँह साधारण आदमियों जैसा नहीं है, हाथी की तरह है, जिसे गणेश जी समझा जा सकता है। मगर भवनपति पद्मावती व धरणेन्द्र तो नाग की आकृति के हैं व नाग आकृति में ही दर्शन देते हैं। उन्हें प्रकट करना इतना आसान भी नहीं है।

विद्युत्कुमार देव तीव्र गति और वक्रगति के सेवक होते हैं। ये पृथ्वी के ऊपर और सौरमंडल में बहुत दूर-दूर तक जाते हैं। ये स्थिर नहीं दिखते, लग-बुझ होते रहते हैं। बड़े शक्तिशाली होते हैं, ज्वालामुखी आदि विस्फोट में भी इनका और अग्निकुमार देवों का बड़ा हाथ होता है। सुवर्णकुमार देवों की आकृति बड़ी चित्र-विचित्र होती है। ये पृथ्वी पर किसी के भी घर में दीवार की किसी आकृति के सहारे स्थान ग्रहण कर लेते हैं और वास्तु को अच्छा अथवा बुरा भी बना सकते हैं। यहाँ भी हम प्रसंगवश बताना चाहेंगे कि वाणव्यंतर देव भी अक्सर घरों में स्थित आकृतियों का सहारा लेकर स्थायी स्थान बनाते हैं और आसानी से भगाए भागते नहीं है। ये देव तो चित्रों का सहारा भी लेते हैं और उनमें भी प्रवेश कर जाते हैं। अतः घरों में विशेष रूप से बेडरूम व बाथरूम में कोई तस्वीर होनी ही नहीं चाहिए, न ही दीवारों का रंग-रोगन उतरा हुआ होना चाहिए। घरों में सीलन भी नहीं होनी चाहिए अन्यथा ये भोगेच्छु वाणव्यंतर जीना हराम कर देते हैं।

शेष भी सारे भवनपति देवों में यथानाम तथा गुण होते हैं। अग्निकुमारों को वेदों में अग्निदेवता कहा गया है व उनको संतुष्ट करने के लिए हवन आदि भी किया जाता है। वात्कुमार देव वायु की शक्ति वाले हैं। ये मारूत देवता कहलाते हैं। स्तनित कुमार वनस्पति देव होते हैं। उनमें वैसी ही शक्तियाँ होती हैं और वे पृथ्वी के मौसम को प्रभावित करते हैं। इन लोगों का पहले और दूसरे देवलोक के देवों से बड़ा वैर-विरोध होता है और आपस में भयंकर युद्ध होते रहते हैं, जिसे देवासुर संग्राम कहा गया है। इस देवासुर संग्राम में कई बार धरती में कंपन भी पैदा होता है। अक्सर ये पहले देवलोक पर आक्रमण करते हैं और कई बार उसे अपने कब्जे में भी कर लेते हैं। ये देवता अक्सर शिवभक्त होते हैं। स्वभाव से ही ईश्वरवादी नहीं होते। घमण्डी होते हैं, बली होते हैं मगर समूह में रहना पसंद करते हैं और सामूहिक ताकत से ही सारा काम करते हैं। हमारे अनुभव के अनुसार ये तीसरे देवलोक से ऊपर नहीं होते। इनका निवास जंबूद्वीप के मेरूपर्वत के नीचे उत्तर-दक्षिण भाग में तिर्यक् दिशा में अनेक कोड़ाकोड़ी लाख योजन तक का क्षेत्र होता है। यद्यपि ये सभी देवभवनों में रहते हैं, इसी कारण भवनवासी या भवनपति कहलाते हैं। किंतु असुरकुमार प्रायः आवासों में और कभी-कभी भवनों में भी बसते हैं। आवास और भवन में वास्तु संरचना फर्क लिए होती है। आवास बड़े मण्डप जैसे होते हैं और भवन नगर के समान। भवन बाहर से गोल, भीतर से चौकोर और तल में पुष्कर कर्णिका जैसे होते हैं।

सभी भवनवासी देवों के नामों के साथ जो कुमार संज्ञा लगी है यथा असुरकुमार, नागकुमार आदि वह

भी सहेतु है। ऐसा कहा जाता है कि ये देव कुमार की तरह मनोहर तथा सुकुमार दिखते हैं। इनकी गति मृदु व लुभावनी होती है तथा ये क्रीड़ापति होते हैं। इन्हीं कारणों से इनके नामों के साथ कुमार शब्द जुड़ा है।

इन दसों प्रकार के भवनवासी देवों की चिह्नादि स्वरूप संपत्ति जन्मना अपनी-अपनी जाति में भिन्न-भिन्न है। जैसे असुरकुमारों के मुकुट में चूड़ामणि का, नागकुमारों के मुकुट में सर्प का, विद्युतकुमारों के वज्र का, सुवर्णकुमारों के गरूड़ का, अग्निकुमारों के घट का, वात्कुमारों के अश्व का, द्वीपकुमारों के सिंह का और दिक्कुमारों के हस्ति का चिह्न होता है। इन सभी के वर्ण, वस्त्र, शस्त्र, भूषण आदि विविध होते हैं।

सूत्र में भवनवासी देवों के ये दस भेद गिनाए हैं किंतु अन्य ग्रंथों में परमाधामी देवों की गणना भी भवनवासी देवों में ही की गई है।

परमाधामी देवों के पंद्रह भेद इस प्रकार है-

1. अंब	2. अंबरीष	3. श्याम	4. सबल	5. रूद्र
6. महारूद्र	7. काल	8. महाकाल	9. असिपत्र	10. धनुष्य
11. कुंभ	12. बालुका	13. वैतरणी	14. खरस्वर	15. महाघोष।

ये परमाधामी देव तीसरी नरक तक जाकर नारक जीवों को परस्पर लड़ाते हैं, उन्हें यातना देते हैं और उनको कष्टों में देख-देख कर खुश होते हैं। ये बड़े क्रूर परिणामी होते हैं और मरकर अधोस्थानों में जन्म लेते हैं। प्रायः तिर्यंच बनते हैं।

सूत्र-12

व्यन्तर निकाय

सूत्र-व्यंतराः किन्नरकिंपुरूषमहोरगगांधर्वयक्षराक्षसभूत पिशाचाः ॥ 12 ॥

अर्थ- किन्नर, किंपुरूष, महोरग, गंधर्व, यक्ष,
राक्षस, भूत और पिशाच-ये (आठ) व्यंतर निकाय है ॥12॥

विवेचन- वि+अंतर- इन दो शब्दों के मेल से व्यंतर शब्द बना है। 'वि' यानि विविध प्रकार का; अंतर-रिक्त स्थान। जिन देवों का निवास स्थान विविध प्रकार के अंतरों-रिक्त स्थानों में होता है, वे व्यंतर कहलाते हैं। वाणव्यंतर देव आठ श्रेणियों में समझे जाते हैं। ये देव, अपने पूर्व जन्म में जैसी मनोस्थिति में होते हैं, इनकी मृत्यु के जो कारण होते हैं उसी के अनुसार मृत्यु के समय तुरंत ही उन स्थानों को प्राप्त होते हैं। जैसे कोई गाने-बजाने वाला व्यक्ति किसी कारण से पानी में डूब कर मरता है तो वह किन्नर जाति में पानी में डूबने वाले किन्नर के झुण्ड में पैदा होगा, आत्महत्या से मरता है तो आत्महत्या करने वाले किन्नर समूह में पैदा होगा। इसी प्रकार अग्निकाण्ड, दुर्घटना, हृदयघात, बीमारी से मृत्यु, किसी की तीव्र याद में मृत्यु आदि समझने चाहिए। ये वाणव्यंतर देव आठ प्रकार के होते हैं जो इस प्रकार से हैं-

1. किन्नर	2. किंपुरूष	3. महोरग	4. गंधर्व
5. यक्ष	6. राक्षस	7. भूत	8. पिशाच।

किन्नर जाति में अक्सर ब्रह्मचारी लोग, साधु, नृत्य करने वाले, मानसिक मैथुन करने वाले, बली वासनाओं वाले, भिक्षायापन करने वाले मनुष्य मर कर जाते हैं।

गंधर्व जाति में भी संगीतज्ञ ही होते हैं। वे सब कलाओं में ज्यादा निपुण होते हैं। वे पेशेवर संगीतज्ञ न होकर संगीत के विद्याधर होते हैं।

यक्ष जाति के वाणव्यंतर देव भोगप्रिय होते हैं। खाने-पीने वाले होते हैं। मनोरंजक स्थानों में भ्रमण करना उन्हें पसंद होता है। प्रेमी भी होते हैं और खतरनाक भी हो सकते हैं। अक्सर मनुष्य उनकी पूजा करते हैं। यक्षायतनों का उल्लेख हमारे सूत्रों में जगह-जगह पर आता है। इनमें भी भैरव आदि कई जातियाँ होती है। अगर सामने वाले के कार्मण शरीर में बदलाव करने की स्थिति संभव हो, सामने वाला उसका भक्त हो, पूर्व जन्म के संबंध हो अथवा साधक से उन्होंने ज्यादा तर्पण प्राप्त कर लिया हो तो ये अपनी शक्ति से समय पड़ने पर उचित नक्षत्र में उसके धन प्राप्ति में अथवा संतान प्राप्ति में सहयोगी बनते हैं। कुबेर जाति के देव धन खूब देते हैं। बटुक भैरव धन व पुत्र दोनों देता है। खेतला अर्थात् क्षेत्रपाल व्यक्ति की मुसीबतों में अस्थायी रक्षा कर सकता है,

अथवा उसे चेता सकता है। धनदेवता कुबेर लक्ष्मी आदि अनेक प्रसिद्ध देवता यक्ष जाति के ही हैं। राक्षस जाति के देव अक्सर पूर्व जन्म के सैनिक होते हैं, जो मर जाते हैं। इनमें भोमिया जाति मनुष्यों द्वारा ज्यादा पूजी जाती है। ये स्वभाव से ही मनुष्य जाति की रक्षा करते हैं इसलिए राक्षस कहलाते हैं मगर किसी कारण से किसी से नाराज़ हो जाएँ तो बड़ा उत्पात मचाते हैं। घरों में आग लगा देते हैं, वस्तुएँ चुरा लेते हैं, बीमारियाँ फैला देते हैं।

भूत जाति इनमें काफी गिरी हुई, हल्के स्तर की, कम शक्तिशाली व काफी तकलीफदायक होती है। ये orthodox जैसी होती है अर्थात् हड्डी पकड़े हुए कुत्ते की तरह होती है। ये अपनी बात छोड़ते नहीं, नई बात पसंद करते नहीं, पुरानी स्मृतियों में खोए रहते हैं, पुराने संबंधी मनुष्यों के घरों में घुस जाते हैं और वहाँ बड़ा उत्पात करते हैं। उनमें शक्ति तो कम होती है मगर मोह व संबंधों का जकड़ाव ज्यादा होता है। अगर कोई लड़का/लड़की या व्यक्ति अपने प्रेमी से शादी नहीं कर सकता, उसे पा नहीं सकता तो मरने के बाद वह अपने उस लगाव के विषय को कष्ट देने वाला बन जाता है। ये कुण्ठित जीव होते हैं। अक्सर तपस्वी लोग भी मरकर भूत बनते हैं। उनमें खाने-पीने की लालसा, पुराने तरीकों के कपड़ों को पहनने की लालसा, पुराने तरीकों से सबको चलाने की लालसा, काम-भोग की लालसा खूब होती है। पूर्व जीवन में जिनसे ये अत्यधिक अनुबंधित होते हैं, उनसे ये पुनः चिपकने का प्रयास करते हैं। अगर सामने वाला व्यक्ति मज़बूत संकल्प शक्ति और उत्तम लेश्या का धनी न हो तो ये उसमें प्रवेश करके उन्हें कष्ट पहुँचाने के निमित्त भी बन जाते हैं। बड़ी मुश्किल से काबू में आते हैं। इनकी पूजा-पाठ करने वाला मरकर भूत बनता है। अक्सर पितर लोग इसी जाति के होते हैं।

पिशाच लोग बड़े शक्तिशाली, खूंखार, विरोधी और दुष्ट प्रकृति के होते हैं। मगर ये बड़े चतुर होते हैं। अक्सर पेड़-पौधों की जड़ों में इनका वास होता है। ये बाहर निकलते हैं, तब छाया की तरह विशालकाय दिखते हैं। इनमें कई जाति विशेषों में सिर तो होता है पाँव नहीं होते, पूँछ होती है। वैसे तो सारे देवी-देवताओं के पाँव, ज़मीन पर नहीं पड़ते मगर पिशाच अक्सर चलते नहीं, उड़ते रहते हैं। ये बड़े चतुर होते हैं। इनकी स्मरण शक्ति बड़ी गज़ब की होती है। तर्क शक्ति भी उच्च कोटि की होती है। ये बहुत चतुर व ज्ञानी होते हैं, ज़िद्दी व खूंखार होते हैं। भवनपति देवों से ये मैत्रीपूर्ण समझौता भी कर लेते हैं और उनसे सहयोग भी प्राप्त कर लेते हैं। यक्ष और किंपुरूष की तरह ये डरपोक नहीं होते। अक्सर बड़े-बड़े राजनेता, ठग, षड्यंत्रक, मंदिर, उपाश्रय, स्थानक, धर्मशाला आदि के प्रधान, समाज में गणमान्य, झगड़ालू, कोर्ट-कचहरी में जाने वाले, अपने पद के लिए कुछ भी कर सकने वाले, वैर की गाँठ बाँधकर जीने वाले, जुआघर व वेश्यालय चलाने वाले, अंडरवर्ल्ड के मुखिया व्यक्ति मरकर पिशाच ही बनते हैं।

महोरग देव बड़े ही विचित्र होते हैं। कई बार ये साँप के रूप में मनुष्य को दिखते रहते हैं। मगर इनकी जातियाँ विचित्र ही होती है। इनका कोई साधारण रूप नहीं होता। कोई दो मुँह वाले होते हैं तो कोई घोड़े की तरह। कोई चार हाथ वाले होते हैं, तो कोई कौवे की टाँग की तरह। कुछ महोरग तो ऐसे भी दिखते हैं कि मुँह घोड़े का व शरीर साँप का। कोई-कोई तो साँप की तरह ज़मीन की एक फुट ऊँचाई पर रेंगते हैं। इनका एक मुँह सिर की तरफ से आदमी की तरह का व पाँव की तरफ से मुँह घोड़े की तरह का होता है। ये उत्पन्न तो जंगलों में होते हैं मगर शहर में मनुष्यों के घर में प्रवेश कर लेते हैं। जहाँ दीवारों पर सीलन आती है, वो स्थान इन्हें अच्छा लगता है। कमरे की उल्टी छत, पंखे के आसपास अथवा जहाँ सीलन से चित्र बन जाते हैं; पपड़िया उतर जाती है, उनमें ये वास करना पसंद करते हैं। जहाँ सामायिक भक्ति होती है, साप्ताहिक भक्ति हो, ऐसे स्थान के शौचालयों में ये ज़रूर पाए जाते हैं। इन लोगों के स्वभावों में कोई क्षमा लक्षण नहीं होता। ये विचित्र स्वभाव के होते हैं। इनका चरित्र दोहरा

होता है। ये जितने कुण्ठित, आत्मसम्मानी, आतुर व विरोधी होते हैं; उतने ही भक्त भी होते हैं। अपनी मान्यतापरक धर्म के पक्के होते हैं। अपने विचित्र स्वरूप के कारण लोगों को कम दिखते हैं। कभी-कभी अपना रूप बदलकर लोगों को दिखते हैं। इन व्यंतर निकाय के देवों का उपपात स्थान रत्नप्रभा पृथ्वी के 1000 योजन मोटे रत्नकाण्ड के ऊपर-नीचे के 100-100 योजन छोड़कर मध्यवर्ती 800 योजन क्षेत्र है किंतु रहते ये मध्यलोक में वृक्ष विवर, पर्वत, गुफा, श्मशान गृह आदि में हैं।

यूं तो व्यंतर निकाय के देवों के आठ भेद बताए गए है किंतु वाचक उमास्वाति ने तत्त्वार्थ का भाष्य लिखते हुए इनके उपभेद भी गिनाए हैं-

1. किन्नर- यह देव प्रियंगुमणि के समान श्यामवर्णी होते हैं। इनका स्वभाव सौम्य और रूप आह्लादकारी होता है। इनका चिह्न अशोक वृक्ष की ध्वजा है। इनके 10 उत्तरभेद है-

1. किन्नर	2. किंपुरूष	3. किंपुरूषोत्तम	4. किन्नरोत्तम	5. हृदयंगम
6. रूपशाली	7. अनिंदित	8. मनोरम	9. रतिप्रिय	10. रतिश्रेष्ठ।

2. किंपुरूष- इनके अरू, जंघा और बाहु अधिक शोभाशाली होते हैं। मुख अधिक भास्वर होता है। ये अनेक प्रकार की चित्र-विचित्र मालाओं से सुशोभित और इत्र आदि से गंधगुटिका बने रहते हैं। इनका चिह्न चंपक वृक्ष की ध्वजा है। इनके 10 उत्तरभेद है-

1. पुरूष	2. सत्पुरूष	3. महापुरूष	4. पुरूषवृषभ	5. पुरूषोत्तम
6. अतिपुरूष	7. मरूदेव	8. मरूत	9. मेरूप्रभ	10. यशस्वान।

3. महोरग-इनका वर्ण श्याम किंतु सौम्य है। इनका वेग महान होता है। स्कंध तथा ग्रीवा का भाग विशाल और स्थूल होता है। विभिन्न प्रकार के आभरण धारण करते हैं। इनका चिह्न नागवृक्ष की ध्वजा है। इनके दस उपभेद हैं-

1. भुजंग	2. भोगशाली	3. महाकाय	4. अतिकाय	5. स्कंधशाली
6. मनोरम	7. महावेग	8. महेष्वक्ष	9. मेरूकांत	10. भास्वान।

4. गंधर्व- इनका वर्ण लाल होता है। रूप प्रिय, सुंदर मुख और स्वर मनोज्ञ होता है। इनका चिह्न तुंबुरू वृक्ष की ध्वजा है। इनके 12 उपभेद है-

1. हाहा	2. हूहू	3. तुंबुरू	4. नारद	5. ऋषिवादि	6. भूतवादि
7. कदंब	8. महाकदंब	9. रैवत	10. विश्वावसु	11. गीतरति	12. गीतयशा।

5. यक्ष-ये निर्मल श्याम वर्ण वाले, गंभीर और तुंदिल (लंबे उदर वाले) होते हैं। इनका रूप मनोज्ञ और प्रिय होता है। इनके हाथ-पैरों के तलभाग, नक्ष, तालू, जिह्वा और ओठ लाल होते हैं। इनका चिह्न वटवृक्ष की ध्वजा है। यक्षिणियाँ अतीव सुंदर होती है।

प्राचीन व मध्यकाल में तो थी ही, अब तक भी इनकी पूजा विशेष रूप से प्रचलित है। अनेक वृक्षों और

यक्षायतनों का उल्लेख तथा अवस्थिति की चर्चा यत्र-तत्र अनेक स्थानों पर है। धन देवता कुबेर, लक्ष्मी आदि अनेक प्रसिद्ध देवी-देवता यक्ष जाति के ही हैं। इनके 13 उपभेद है-

1. पूर्णभद्र 2. मणिभद्र 3. श्वेतभद्र 4. हरि-भद्र 5. सुमनोभद्र
6. व्यतिपातिक भद्र 7. सुभद्र 8. सर्वतोभद्र 9. मनुष्य यक्ष 10. वनाधिपति
11. वनाहार 12. रूपयक्ष 13. यक्षोत्तम।

6. राक्षस- ये देखने में भयंकर होते हैं। इनका चिह्न खट्वांग की ध्वजा है। इनके 7 उपभेद है-

1. भीम 2. महाभीम 3. विघ्न 4. विनायक 5. जलराक्षस 6. राक्षस 7. ब्रह्म।

7. भूत- यह श्याम वर्णवाले किंतु सौम्य स्वभावी होते हैं। इनका रूप सुंदर होता है। इनका चिह्न सुलस ध्वजा है। इनके नौ उपभेद है-

1. सुरूप 2. प्रतिरूप 3. अतिरूप 4. भूतोत्तम 5. स्कन्दिक
6. महास्कंदिक 7. महावेग 8. प्रतिच्छन्न 9. आकाशग।

8. पिशाच- इनका रूप सुंदर व सौम्य होता है। इनका चिह्न कदंब वृक्ष की ध्वजा है। इनके 15 उपभेद है-

1. कूष्मांड 2. पटक 3. जोष 4. आहक 5. काल
6. महाकाल 7. चौक्ष 8. अचौक्ष 9. तालपिशाच 10. मुखरपिशाच
11. अधस्तारक 12. देह 13. महाविदेह 14. तुष्णीक 15. वनपिशाच।

इस प्रकार व्यंतर देवों के समस्त उपभेदों की गणना करने पर छियासी (86) भेद होते हैं। अन्य ग्रंथों में इनके 26 भेद बताए हैं, जिनमें से 16 तो व्यंतरदेव है और 10 प्रकार के जम्भृक देव हैं। 16 व्यंतरदेवों में 8 तो वही है किन्नर, किंपुरूष आदि जो सूत्र में गिनाये गये हैं और शेष यह है

9. आणपन्नी 10. पाणपन्नी 11. इसीवाई 12. भूइवाई
13. कंदीय 14. महाकंदीय 15. कोहंड 16. पयंग।

जृंभक देव इस प्रकार है-

1. आणजृंभक 2. पाणजृंभक 3. लयनजृंभक 4. शयनजृंभक 5. वस्त्रजृंभक
6. पुष्पजृंभक 7. पुष्पफलजृंभक 8. विद्याजृंभक 9. अव्यक्तजृंभक।

उपरोक्त विस्तृत वर्णन से यह स्पष्ट हो जाता है कि भूत-प्रेत आदि अनेक योनि के जीव इस संसार में है क्योंकि अक्सर लोग यह प्रश्न पूछते हैं कि क्या भूत-प्रेत आदि है ? तो ये सूत्र स्पष्ट करते हैं कि भूत-प्रेत-पिशाच किन्नर आदि बहुत तरह के जाति-प्रजाति के देवता इस सृष्टि में मौजूद है। उनका अपना संसार है, अपनी जीवनशैली है। वे किसी भी मनुष्यों अथवा तिर्यचों को तब तक नहीं छेड़ते जब तक कि उनके साथ उनका कोई 'नियाणा' (निदान) न रहा हो। इनसे डरने की कोई आवश्यकता नहीं है। जिसके पास वैक्रिय दृष्टि है, वे ही इन्हें जान-देख सकते हैं। साधारणतया हर कोई इन्हें नहीं देख सकता है क्योंकि ये एक अलग आयाम (dimension) की दुनिया है और चूंकि हमारी ऐन्द्रिक क्षमता भी सीमित है, अतः इन्हें देख-जान पाना विशिष्ट लब्धि के बिना संभव नहीं है। अतः सद्भावों से भावित हृदय को इस सृष्टि में कहीं भय का कारण नहीं है। सब अभय को उपलब्ध हो।

सूत्र-13-20

ज्योतिष्क एवं वैमानिक देव

पिछले सूत्र में हमने भवनवासी और व्यंतर देवों के बारे में जाना था। अब इस चतुर्थ अध्याय के 13 से 20 सूत्रों के अंतर्गत वाचक उमास्वाति जी ज्योतिष्क एवं वैमानिक देवों के नाम एवं उनकी विशेषताओं को बतलाते हैं।

सूत्र- ज्योतिष्काः सूर्याश्चन्द्रमसो ग्रह नक्षत्र प्रकीर्णतारकाश्च।।13।।
मेरूप्रदक्षिणा नित्यगतयो नृ लोके ।।14।।
तत्कृतः कालविभागः ।।15।।
बहिरवस्थिताः ।।16।।
वैमानिकाः ।।17।।
कल्पोपपन्नाः कल्पातीताश्च ।।18।।
उपर्युपरि ।।19।।
सौधर्मैशानसानत्कुमार माहेन्द्र ब्रह्मलोक लान्तक महाशुक्र
सहस्त्रारेष्वानतप्राणतयोरारणाच्युतयोर्नवसु
ग्रैवेयकेषु विजय वैजयन्त जयन्ताऽ पराजितेषु सर्वार्थसिद्धे च ।।20।।

अर्थ- सूर्य, चंद्र, ग्रह, नक्षत्र और प्रकीर्ण तारा-ये पाँच ज्योतिष्क निकाय है ।।13।।
वे मनुष्यलोक में मेरू के चारों ओर प्रदक्षिणा करते हैं तथा नित्य गतिशील है ।।14।।
काल का विभाग उनके द्वारा किया हुआ है ।।15।।
ज्योतिष्क मनुष्यलोक के बाहर स्थित होते हैं ।।16।।
चतुर्थ निकाय वाले वैमानिक देव हैं ।।17।।
वे कल्पोपन्न और कल्पातीत है ।।18।।
ऊपर-ऊपर रहते हैं ।।19।।
सौधर्म, ऐशान, सनत्कुमार, माहेन्द्र, ब्रह्मलोक, लान्तक, महाशुक्र, सहस्रार, आनत, प्राणत, आरण और अच्युत (इन 12 कल्पों) तथा नौ ग्रैवेयक और विजय, वैजयंत, जयंत, अपराजित

एवं सर्वार्थसिद्ध- ये सभी वैमानिक देव है ॥20॥

विवेचन- ज्योतिष्क देव पाँच प्रकार के बताए गए हैं। शरीर में ध्यान से देखने पर सूर्य की स्थिति मस्तिष्क में होती है, चंद्रमा उससे भी ऊपर होता है। बाकी के ग्रह, नक्षत्र, तारे छाती और पेट में दिखते हैं। सूर्य का अर्थ वह तारा जो आत्मप्रकाशित होता है। यह लोक-ध्यान में, विशेष साधना में, शरीर में मस्तिष्क और उपस्थ में दिखते हैं। चंद्रमा भी उससे थोड़ा ऊपर वहीं दोनों जगहों पर दिखता है मगर चंद्रमा का देह प्रकाश कुछ भी नहीं होता, वह सूर्य से ही प्रकाशित होता है। मनुष्य ज्ञान-विज्ञान काव्य-कला की प्रेरणा चंद्रमा से पाता है जबकि दैहिक चरित्र, आयुष्य आदि का कारक सूर्य होता है। ध्यान के अगले सोपान में हमें कितने ही चंद्र और कितने ही सूर्य दिखलाई देते हैं। ग्रह अलग-अलग पृथ्वियाँ होती है, जो सूर्य से प्रकाश ग्रहण करती है और वहाँ सृष्टि सृजित होती है। मनुष्य व तिर्यंच जन्म, आयुष्य व मृत्यु को प्राप्त करते हैं मगर हर ग्रह कर्म-भूमि नहीं होता। वहाँ मनुष्य रहते हो, यह ज़रूरी नहीं है।

नक्षत्र हमारे शरीर में सूर्य, चंद्र के परिवार से अलग दिखने वाले तारा मण्डल परिवार होते हैं। कुछ तारे नक्षत्रों में अथवा अलग होते हैं। वे या तो सर्वथा प्रकाशित होते हैं या सर्वथा तमाम्रित होते हैं। ये प्रकीर्णक तारे होते हैं। यह ज़रूरी नहीं कि वे सारे तारे किसी व्यक्ति को अवधि ज्ञान में दिखे ही। ये सारे के सारे ग्रह, नक्षत्र, तारे, सूर्य, चंद्रमा-हमारे शरीर में रीढ़ की हड्डी अर्थात् मेरूदण्ड की परिक्रमा, पूर्व से पश्चिम की तरफ कुछ तिरछी करते रहते हैं। इन सबमें तिर्यंच जीव तो होते हैं मगर मनुष्य व पशु-पक्षी नहीं होते हैं मगर वैक्रिय जीव व देवी-देवता खूब होते हैं। जैसे चंद्र तो वहाँ कोई एक देवता नहीं है। देवताओं का पूरा देश है, इनका इंद्र-'चंद्र' है। इनमें भी राजा, स्वामी, नौकर, प्रजा आदि सब होते हैं। अलग-अलग लोगों को अवधिज्ञान में इनके अलग-अलग आयाम भी दिखाई देते हैं। अतः निश्चय नय में किसी बात को एकांत नहीं कहा जा सकता है।

मनुष्य को जैसा अंदर दिखता है, वैसा ही बाहर का, ब्रह्माण्ड का रूप माना जाता है। मनुष्य लोक में हम काल की गणना सूर्य, चंद्र आदि के घूमने की गति से करते हैं। दिन-रात, मास, वर्ष आदि की कल्पना करते हैं। कुछ तारे बहुत बड़ी परिधि में घूमते हैं। अतः वे रोज़ घूमते हुए भी हमें वहीं के वहीं दिखते हैं। उनकी गणना उस ज़माने में 'पल्योपम' व उससे भी अधिक सूक्ष्म 'सागरोपम' नामक कालमान में की गई है।

आज का विज्ञान प्रकाशवर्ष में गणना करता है अर्थात् एक वर्ष में प्रकाश जितनी दूरी तय करता है, वह दूरी प्रकाश वर्ष है। उस समय काल की गणना आयुष्य के दृष्टिकोण से की गई थी। अतः दृष्टिकोण के भेद से वह अलग थी। इन ज्योतिष्क देवों से ऊँचे बारह वैमानिक देव होते हैं। इनसे ऊपर गले में 9 ग्रैवेयक और मुख-मस्तिष्क में अनुत्तर विमान के देव होते हैं। ये देव एक-दूसरे से ऊपर ही ऊपर रहते हैं।

बारह वैमानिक देवों के नाम इस प्रकार है-

1. सौधर्म	2. ईशान	3. सनत्कुमार	4. माहेन्द्र	5. ब्रह्मलोक	6. लांतक
7. महाशुक्र	8. सहस्रार	9. आणत	10. प्राणत	11. आरण	12. अच्युत

नौ ग्रैवेयक देवों के नाम इस प्रकार है।

1. भद्र	2. सुभद्र	3. सुजात	4. सौमनस	5. प्रियदर्शन
6. सुदर्शन	7. अमोघ	8. सुप्रतिबद्ध	9. यशोधर	

अनुत्तर विमान के नाम इस प्रकार है-

1. विजय 2. वैजयंत 3. जयंत 4. अपराजित 5. सर्वार्थ सिद्ध।

सौधर्म, ईशान और सनत्कुमार-ये तीन देवलोक एक-दूसरे से हल्के से ऊँचे तो होते हैं- मगर लगभग समानांतर ही होते हैं। सौधर्म देवलोक को आप विष्णुलोक समझ सकते हैं। यहाँ देवियों की संख्या देवों से ज्यादा होती है। हर देव के नैश्रय में कम से कम 11 देवियाँ अथवा इससे अधिक होती है। समानुपात के दृष्टिकोण से 32 देवियों पर एक देव होता है। हर देवी में एक विशेष दिव्य शक्ति होती है और देव में भी एक विशेष शक्ति होती है। साधारणतया कुल 33 दिव्य शक्तियाँ होती है। मनुष्य की रीढ़ की हड्डी के भी 33 भाग होते हैं। अतः 33 कोटि दिव्यशक्तियाँ अर्थात् देवता मानने चाहिए। कोटि शब्द का अर्थ होता है क्लास, कक्षा, श्रेणी। मनुष्य की रीढ़ की हड्डी के हर टुकड़े में एक पृथक् शक्ति का प्रभाव होता है। मगर यह हर व्यक्ति में थोड़ी-थोड़ी विभिन्नता लिए होती है।

इन तीन देवलोकों से ऊपर सारी शक्तियाँ कमोबेशी होती है। हर देवता में ही होती है, वहाँ स्त्री गुण और पुरूष गुण दोनों अलग-अलग नहीं होते। ये शक्तियाँ हमारे ज्ञान के अनुसार 38 की संख्या तक होती है।

दूसरा ईशान देवलोक है जो हृदय से कुछ दायीं तरफ नीचे की ओर, पेट के भाग में होता है। इसका स्वामी ईशानेन्द्र अर्थात् शिव मानना चाहिए। यहाँ हर देवता के पास साधारणतया 32-32 देवियाँ होती ही है। मगर कुछ देवताओं के पास बहुत ज्यादा भी होती है। यहाँ बहुत से देव ब्रह्मचारी भी होते हैं। जिनके पास देवियाँ होते हुए भी उनकी उन देवियों में कोई उत्सुकता नहीं होती।

वाणव्यंतर देव और भवनवासी देव अक्सर यहाँ तक आते-जाते हैं। मगर विष्णुलोक अथवा सौधर्म देवलोक के देव सफाई पसंद होते हैं। अतः उन देवों को पसंद नहीं करते और वैमनस्य बना रहता है। देवासुर संग्राम में अक्सर भवनवासी देवों व विष्णुलोक (प्रथम देवलोक) के देवों का कलह होता है जिसमें वाणव्यंतर देवता अक्सर भवनवासी देवों का साथ देते हैं।

सौधर्म कल्प में अक्सर सद्भावपूर्ण व्यक्ति गृहस्थ या साधु चाहे किसी भी धर्म के हो, जाते हैं। चाहे उन्होंने जीवन भर उपवास भी न किया हो। ईसाई लोग अक्सर इस देवलोक में ज्यादा दिखते हैं, हिंदू व बौद्ध भी खूब दिखते हैं। कुछ तापस अघोरी अथवा विचित्र सद्भावपूर्ण तपस्या करने वाले ईशान लोक (2 देवलोक) के देव बनते हैं।

वैदिक सूत्रों में जिस शंकर की परिकल्पना की गई है, वह ईशानकल्प का इन्द्र है। मगर जो शिवलिंग का प्रतीक दिया गया है, वह एक साधक का शक्तिकेन्द्र अथवा जननेन्द्रिय है। ये बिल्कुल शनि ग्रह की तरह दिखता है और शरीर में शनि ग्रह यहीं पर दिखता है। भूत, प्रेत, पिशाच लोग ईशानेन्द्र देवों के बड़े पिच्छलग्गू होते हैं जबकि यक्ष जाति के वाणव्यंतर भैरव, कुबेर आदि अक्सर सौधर्म इन्द्र यानि शक्रेन्द्र अथवा विष्णु के भक्त होते हैं, प्रशंसक होते हैं।

तीसरा देवलोक सनत्कुमार का है। यह ब्रह्मलोक होता है। ये लोग बड़े विद्यावाचस्पति होते हैं। यहाँ देवियाँ जन्म नहीं लेती मगर आती-जाती रहती है। पौराणिक अवधारणा में यहाँ के देवेन्द्र को सृष्टि का कर्त्ता माना गया है। सरस्वती को यहाँ की देवी माना गया है। मगर कुछ लोग सरस्वती देवी को ब्रह्मा की पत्नी के रूप में तो कुछ पुत्री के रूप में मानते हैं। साथ ही पुराणों में ये भी उल्लेख आता है कि किसी की उम्र को घटाने या बढ़ाने में ब्रह्मा असमर्थ होता है। वह तो मात्र एक मुनीम (लेखाकार) होता है, जिसके पास हरेक की उम्र का हिसाब होता है

मगर जैन दर्शन और गीता ऐसा नहीं कहती। उनके अनुसार हर जीव अपने-अपने कर्मों के फल भोग को स्वतः प्राप्त होता है। भारतवर्ष में ब्रह्मा की पूजा सबसे कम की जाती है। मगर सरस्वती की पूजा खूब की जाती है। हम कहते हैं कि ईसाई जिसे हालेलुईया कहते हैं अथवा इस्लाम जिसे 'अल्लाह' कहता है, वह सनत्कुमार इन्द्र है। यह हमारा अपना ज्ञान है, हमारा अपना कथन है, यहाँ किसी की मान्यता से कोई विरोध नहीं, कोई विवाद नहीं।

चौथे से लगाकर बारहवें देवलोक तक के देव हमारे वक्ष भाग (छाती) में ही स्थित होते हैं। ये सब कल्पोपन्न होते हैं जिनकी शासन व्यवस्था का वर्णन हम पहले से कर चुके हैं, उसके ऊपर के देवता कल्पातीत होते हैं, जहां कोई शासन व्यवस्था नहीं होती है। कल्पातीत देवों के दो प्रकार है, नौ ग्रैवेयक और पाँच अनुत्तर विमान। नौ ग्रैवेयक देवों की तीन त्रिक होती है। बारहवें देवलोक से असंख्य योजन ऊपर जाने पर नव ग्रैवेयक की पहली त्रिक आती है। इनके नाम भद्र, सुभद्र और सुजात है। इस त्रिक में 111 विमान है। यहाँ से असंख्यात योजन ऊपर दूसरी त्रिक है। इसमें 107 विमान है। इससे भी असंख्य योजन ऊपर तीसरी त्रिक है, जिसमें 100 विमान है। इन तीनों त्रिकों में 9 प्रतर हैं।

नवग्रैवेयक से असंख्य योजन ऊपर पाँच अनुत्तर विमान है। पूर्व दिशा में विजय, दक्षिण में वैजयंत, पश्चिम में जयंत, उत्तर में अपराजित तथा इन चारों के मध्य में सर्वार्थसिद्ध विमान अवस्थित है। सर्वार्थसिद्ध विमान से 12 योजन ऊपर सिद्धशिला है।

इस प्रकार 10 भवनपति, 15 परमाधार्मिक, 16 व्यंतर, 10 जृंभक, 10 ज्योतिषी (5 चर और 5 अचर), 12 कल्पोपपन्न, 9 ग्रैवेयक, 5 अनुत्तर विमानवासी, 9 लोकांतिक और 3 किल्विषिक-ये 99 भेद देवताओं के माने गए हैं। इनके पर्याप्त और अपर्याप्त के भेद करने पर देवों के कुल 198 भेद होते हैं।

सूत्र-21-22

देवलोकों की उत्तरोत्तर विशिष्टता व हीनता

चारों निकायों के देवों के नाम निर्देश के बाद अब उन देवलोकों में पाई जाने वाली विशेषताओं का वर्णन यहाँ किया जा रहा है।

सूत्र- स्थिति प्रभावसुखद्युति लेश्याविशुद्धिन्द्रियावधिविषयतोऽधिकाः ॥21॥
गति शरीर परिग्रहाभिमानतो हीनाः ॥22॥

अर्थ- स्थिति, प्रभाव, सुख, द्युति, लेश्याविशुद्धि, इन्द्रियविषय और अवधि विषय की ऊपर-ऊपर के देवों में अधिकता होती है ॥21॥
गति, शरीर, परिग्रह और अभिमान की ऊपर-ऊपर के देवों में हीनता होती है ॥22॥

विवेचन- देव जितने निम्न स्तर का है, उतनी उसकी आयु कम होती है। जातिगत रूप से पूरी जाति की आयु कम होती है और व्यक्तिगत रूप से (individual) अपने-अपने लेश्यावलय के हिसाब से आयु होती है। धरती पर रहने वाले समाजवाद का agreement यहाँ नहीं चलता है। देवता की कोटि उसके ज्ञान और आत्मबल की प्रबलता से मापी जाती है। जो जितना आत्मबली और अपने विश्वास का पक्का है, विचारों में डिगता नहीं है, वह उतना ही उच्च कोटि का देव बनता है। स्थिति की अपेक्षा से उसे ऊँचा स्थान मिलता है अर्थात् वह उत्तरोत्तर उत्तर की तरफ रहता है।

इसे ऐसा समझो कि पूरा देवलोक एक बारह मंज़िल का मकान है। हर ऊँची मंज़िल में रहने वाला उत्तरोत्तर प्रभावशाली होता है। मंज़िल की बढ़ोतरी के हिसाब से आयु भी ज्यादा होती है, सुख भी ज्यादा होता है। उसमें ज्यादा चमक होती है। उसका आभामण्डल ज्यादा शुद्ध होता है। इन्द्रिय विषय अर्थात् ऐन्द्रिक संभावनाएँ भी उसमें ज्यादा होती है और अवधि ज्ञान का क्षेत्र भी बड़ा होता है। मगर कुछ बातों में उत्तरोत्तर देवों में कमी होती है। गति में कमी होती है अर्थात् ऊँचे-ऊँचे देव तुरंत उत्तेजित नहीं होते। उतावल में कार्य नहीं करते। निम्न देवताओं की अपेक्षा से शरीर छोटा होता है। इस संबंध में समण वाङ्मय में व्याख्याएँ मिलती है कि पहले-दूसरे देवलोकों में सात हाथ का शरीर होता है। मगर अनुभव में आया है कि सात बिलात् का ही होता है। वह भी किसी छोटे व्यक्ति के हाथ के माप का। हाँ ! वाणव्यंतर देवों का शरीर मनुष्य के शरीर के लगभग होता है। जो देव जितनी उच्च कोटि का होता है, वह धरती पर आने पर, धरती से उतना ही ऊँचा रहता है। जिसका शरीर जितना ज्यादा छोटा होता है, वह उतना ही ऊँचा होने के कारण साधारण मनुष्य की आँखों के सामने होता है, मुखमान होता है।

मगर अक्सर देखा गया है कि ये देव लोग जब किसी व्यक्ति विशेष से प्रत्यक्ष होते हैं तो वैक्रिय रूप धारण करते हैं। अतः इस मामले में कुछ शास्त्रकार भी भ्रमित हो सकते हैं। वाङ्मय में लिखी व्याख्याओं के अनुसार ऐसा समझना चाहिए कि पहले, दूसरे देवलोकों के देवों की लंबाई सात् बिलात् से कुछ कम। तीसरे, चौथे में छह बिलात् से कुछ कम। पाँचवे, छठे देवलोक में पाँच बिलात् से कुछ कम। सातवें, आठवें स्वर्ग में चार बिलात् से कुछ कम। नवमें से बारहवें तक में अधिकतम तीन बिलात्। नव ग्रैवेयक में अधिकतम दो बिलात् व अनुत्तर विमान में अधिकतम एक बिलात्। ये माप उत्कृष्ट माप है। इससे कम अवगाहना तो हो सकती है किन्तु ज्यादा नहीं। इसी प्रकार निम्न देवलोकों में ज्यादा से ज्यादा सुख-साधन, भोग की सामग्रियाँ होती है मगर हर ऊँची स्थिति पर ऊँचे देवलोक में सामग्रियाँ घटती जाती है। सामग्रियाँ ज़रूर घटती है पर उन सामग्रियों की गुणवत्ता ज्यादा होती है। सुख ज्यादा मिलता है। जैसे कोई छप्पन पकवानों का भोजन करे, उसके पास हज़ारों कपड़े-जूते हो फिर भी वह पूर्ण रूप से तृप्त नहीं रहता। कोई उच्च कोटि का जीव मात्र एक प्रकार का भोजन करे, एक जोड़ी वस्त्र हो, एक जोड़ी जूते हो फिर भी उसे ज्यादा आनंद प्राप्त हो। ऐसा समझना चाहिए।

वाणव्यंतर देव बड़े अभिमानी, अतृप्त और बहुत कुछ करने की इच्छाएँ रखने वाले होते हैं मगर वैमानिक देवों में ये इच्छाएँ कम होती है। ज्योतिष देवों में भी इच्छाएँ तो होती है मगर उनका अवधिज्ञान प्रबल होने से वे धरती के जीवों को देख-देखकर ही संतुष्ट होते रहते हैं। ये ठीक ऐसे ही होता है जैसे कोई आदमी T.V. में हीरो-हीरोइन को देखकर तुष्ट होता है। इनके ऊपर के देवों में उत्तरोत्तर इच्छाएँ व अभिमान कम होता जाता है। मगर पहले से तीसरे देवलोकों तक असंतुष्टि रहती है। वे संप्रदायवाद, तेरी-मेरी भावनाओं से विलग नहीं होते। मनुष्य लोकों के लोगों द्वारा किए जाने वाले पूजा-पाठ के द्वारा उनकी ये भावना तुष्टि पाती है। अतः मनुष्य लोक में होने वाली गतिविधियों पर इनकी दृष्टि रहती है। अपने-अपने मतलब के एवं मनोज्ञ ज्ञानियों की देशना सुनने के लिए, सामूहिक उत्सवों में, पूजा-अनुष्ठानों में और पूर्व जन्म के पारिवारिक मित्रों, संबंधियों के पारिवारिक एवं मनोरंजक घटनाक्रमों में, मृत्यु के अवसरों पर अथवा अन्य दुःखद अवसरों पर भी ये वहाँ उपस्थित रहते हैं। ये हरेक को नहीं दिख सकते। वहाँ उन्हें सांत्वना मिलती है। अभिमान और इच्छाओं की तीव्रता शांत होती है। पाँचवे देवलोक के बाद में ये बातें उत्तरोत्तर हीन होती जाती है।

इस प्रकार संक्षेप में हम कह सकते हैं कि समस्त देवलोकों में 7 विषय-बिंदुओं पर वर्द्धमान परिणाम रहते हैं अर्थात् ज्यों-ज्यों देवलोक में ऊपर की तरफ जाते हैं, वैसे-वैसे निम्न 7 बिंदुओं में वृद्धि होती है।

1. स्थिति 2. प्रभाव 3. सुख 4. द्युति
5. लेश्या-विशुद्धि 6. इन्द्रिय विषय 7. अवधिज्ञान विषय।

निम्न चार बातें ऐसी है जो ऊपर के देवों में क्रमशः उत्तरोत्तर कम होती जाती है।

1. गति 2. शरीर 3. परिग्रह 4. अभिमान।

1.**गति**- चूँकि ऊपर-ऊपर के देवों में उदासीन भाव बढ़ता जाता है, कौतुहल कम होता है, अतः इनकी इधर-उधर जाने की रूचि कम होती चली जाती है। यद्यपि सनत्कुमार आदि देव सातवीं नरक भूमि तक जाने में समर्थ होते हैं, किंतु तीसरी नरक भूमि से आगे कभी कोई देव न तो गया है, न ही जाएगा।

2.**शरीर**- ऊपर-ऊपर के देवों के शरीर का आकार घटता चला जाता है।

3. **परिग्रह**- ऊपर के स्वर्गों में परिग्रह उत्तरोत्तर कम होता चला जाता है। ऊपर-ऊपर के स्वर्गों में उत्तरोत्तर विमान संख्या भी कम है।

4. **अभिमान**- ऊपर-ऊपर के देवों की यद्यपि द्युति, शक्ति आदि अधिक-अधिक है किंतु उन्हें अपनी विभूति, तेज, लब्धि आदि का अहंकार कम होता चला गया है। इनके अहंकार की न्यूनता का कारण कषायों की मंदता व भावों की गंभीरता है।

उपरोक्त चार विषय बिंदुओं के सिवाय आहार, श्वासोच्छ्वास आदि में भी ऊपर-ऊपर के देवलोक हीयमान परिणाम वाले होते हैं। कम स्थिति वाले देव अधिक आहार ग्रहण करते हैं जबकि अधिक स्थिति वाले देव कम आहार ग्रहण करते हैं। वैसे 10,000 वर्ष आयु वाले देव एक दिन के अंतराल से आहार ग्रहण करते हैं। पल्योपम की आयु वाले देव 2 दिन से लेकर 9 दिन तक के समय के अंतराल में आहार ग्रहण कर लेते हैं। सागरोपम की आयु वाले देवों के लिए नियम है कि जितने सागर की उनकी आयु होती है, उतने हज़ार वर्ष बाद वे आहार ग्रहण करते हैं जैसे 33 सागर की आयु वाले सर्वार्थसिद्ध विमान के देव 33 हज़ार वर्ष बाद आहार ग्रहण करते हैं।

दस हज़ार वर्ष की आयु वाले देव सात स्तोक में एक उच्छ्वास लेते हैं और एक पल्योपम की आयु वाले एक दिन में एक उच्छ्वास। सागरोपम की आयु वाले देवों के लिए यह नियम है कि जितने सागर की आयु होती है, उतने ही पक्ष में वे एक उच्छ्वास लेते हैं।

सूत्र-23-27

लेश्या व लोकान्तिक

वैमानिक देवों के मध्य पाए जाने वाली विविध विशेषताओं को उनकी गति, स्थिति, सुख, प्रभाव, अवधिज्ञान, परिग्रह, अभिमान आदि विविध विषयों के बारे में जानने के बाद अब वैमानिक देवों में पाई जाने वाली लेश्या के बारे में सूत्रकार लिख रहे हैं कि-

सूत्र- पीतपद्मशुक्ललेश्या द्वित्रिशेषेषु ॥23॥

अर्थ- दो, तीन और शेष देवलोकों में क्रमशः
पीत, पद्म और शुक्ल लेश्या पाई जाती है ॥23॥

विवेचन- पहले दोनों स्वर्गलोकों में पीत लेश्या की अधिकता रहती है। ये लेश्याएँ उत्तरोतर पद्म लेश्या और शुक्ल लेश्या में सद्भावित होती है। पाँचवे देवलोक तक पद्म लेश्या की अधिकता रहती है और उसके ऊपर शुक्ल लेश्या की वृद्धि होती रहती है। मगर कुल मिलाकर छहों ही लेश्याएँ कमोबेशी होती ही है। ये लेश्याप्रभा व्यक्ति दर व्यक्ति विभिन्नता लिए होती है। सबकी समान नहीं होती। इसे ऐसा समझना चाहिए जैसे पृथ्वी लोक पर सबका रूप रंग अलग-अलग होता है।

सूत्र- प्राग्ग्रैवेयकेभ्यः कल्पाः ॥24॥
ब्रह्मलोकालया लोकान्तिकाः ॥25॥
सारस्वतादित्यवह्न्यरूणगर्दतोयतुषिताव्याबाधमरूतोऽरिष्टाश्च ॥26॥

अर्थ- ग्रैवयकों से पहले कल्प है ॥24॥
ब्रह्मलोक ही लोकान्तिक देवों का आलय है ॥25॥
सारस्वत, आदित्य, वह्नि, अरूण, गर्दतोय, तुषित,
अव्याबाध, मरूत और अरिष्ट-ये लोकांतिक है ॥26॥

विवेचन- बारहवें देवलोक तक कल्प प्रणाली होती है अर्थात् जिसका जैसा कल्प रहता है, उसे वैसी संघ

समाचारी मिलती है, वैसा देवलोक मिलता है। हर देवलोक में अपनी-अपनी सभ्यता, संस्कृति के अनुसार शासन व्यवस्था होती है।

राजा, प्रजा, अधिकारी, अलग-अलग विषयों पर कुशल लोग, उसके अनुरूप शासन, अनुशासन, उत्तरदायित्व न्याय प्रणाली होती है। मगर नौ ग्रैवेयक देवों में शासन प्रणाली नहीं होती। अधिकार की अपेक्षा से कोई भेद-विभेद, विभाग नहीं होता। हर व्यक्ति की अपनी निर्बाधित स्वतंत्र सत्ता होती है। वह अपना नाथ स्वयं होता है। अपने में मस्त होता है। वह दूसरों को जानता-देखता है, मिलजुल भी सकता है। मगर कोई किसी से प्रतिबंधित, प्रतिबाधित, प्रभावित, प्रतिन्यायित नहीं होता। सब अपने-अपने में मस्त होते हैं। सबके अपने-अपने गुण, अपने-अपने क्षेत्र, अपनी-अपनी क्रियाएँ और अपना-अपना रंजन होता है। इसी अपेक्षा से शास्त्रकारों ने उन्हें अहमेन्द्र कहा है। इन देवों की उत्तरोत्तर उच्च जातियाँ इस प्रकार है-

1. सारस्वत	2. आदित्य अर्थात् आदि नित्य	3. वह्नि अर्थात् ज्योतिर्मान
4. अरूण	5. गर्दतोय	6. तुषित
7. अव्याबाध	8. मरूत	9. अरिष्ट

इनमें यथानाम तथा गुण समझ लेना चाहिए। ये लोकान्तिक देव चूंकि ब्रह्मलोक के अंत में रहते हैं, अतः 'लोकान्तिक' कहलाते हैं। दूसरे कारण यह भी है कि इस देवलोक के वासी देवता एक जन्म लेकर मुक्त होने वाले होते हैं। अतः जन्म-मरण रूप लोक का अंत करने वाले होने से लोकान्तिक कहलाते हैं। ये विषयरति से परे होने से देवर्षि भी कहलाते हैं। सूत्रों में कहीं इनकी संख्या 8 तो कहीं 9 मिलती है। लोकान्तिक देवों के वर्णन के बाद अब पाँच अनुत्तर विमान वाले देवों की विशिष्टता बतलाते हुए सूत्रकार कहते हैं कि-

सूत्र- विजयादिषु द्विचरमाः ॥27॥

अर्थ- विजयादि के देव द्विचरम होते हैं अर्थात् दो बार मनुष्य जन्म धारण करके मोक्ष प्राप्त करते हैं ॥27॥

विवेचन- विजय आदि देव अर्थात् अनुत्तर विमान के देव द्विचरम होते हैं। देवलोक से च्युत होकर वे दो बार मनुष्य जन्म धारण करके मुक्त हो जाते हैं। हालांकि देवलोक में वे चौथे गुणस्थान में ही होते हैं अर्थात् भोगवादी ही होते हैं। वहाँ सारे सुखों को भोग कर वे लगभग शून्य से हो जाते हैं। मनुष्य लोक में आकर पुनः यथाक्रम पर्यायों में वृद्धि पाते हुए चौदहवें गुणस्थान तक पहुँच जाते हैं। ध्यान देने की बात यह है कि इनमें शेष बचे हुए उपशमित कर्म की नियति ही ऐसी होती है कि वे उत्तरोत्तर वृद्धि ही करते हैं। इनके शेष रहे कर्म अनानुबंधी पुण्य कर्म अथवा पापकर्म ही होते हैं, जो कि उदय में आने के साथ फिर नया बंधन नहीं देते। कदाचित् उनके पुण्यानुबंधी कर्म शेष रहते भी हैं तो भी वे मनुष्य के दो जन्मों में निष्प्रभावी हो जाते हैं। बस यूँ समझ लो कि वे पृथ्वी पर आते ही इसलिए हैं कि कुछ निदान भोग शेष रह गए होते हैं। मगर अनुत्तर विमान का अंतिम स्थान सर्वार्थ सिद्ध है। वहाँ के जीव एक भवावतारी ही होते हैं। जहाँ तक ग्रैवेयक देवों की बात है, उसका कोई नियम नहीं है एवं उनके नीचे के देवों का भी कोई नियम नहीं है। ग्रैवेयक देव एक जन्म लेकर भी मोक्ष जाते हैं या अधिक बार भी मनुष्य जन्म धारण करते हैं।

ज्यादा से ज्यादा 18 बार मनुष्य का जन्म धारण हो सकता है। निम्नकोटि के देव पुनः एक बार या बार-बार मनुष्य जन्म धारण करके मुक्त भी हो सकते हैं अथवा उनका पतन हो सकता है। नरक, निगोद में भी जा सकते हैं। जैन शास्त्रों में भगवान महावीर के मरीचि के बाद से 25 या 27 भवों का उल्लेख मिलता है किंतु ये 25 या 27 भवों के सिवाय भी उस जीव ने अनेकानेक भव ग्रहण किए, जिनको महत्ता नहीं दी गई है।

सर्वार्थसिद्ध को छोड़कर शेष अनुत्तर विमान के देव एक मनुष्य जन्म लेकर, फिर पुनः अनुत्तर विमान में जाते हैं। फिर पुनः मनुष्य जन्म लेकर मुक्त होते हैं। इसका कारण ये है कि पृथ्वी लोक पर कर्मों की फलित संरचना कुछ ऐसी होती है कि सारे निदानित कर्म फल उन्हें भोगकर निष्फल करने अनिवार्य है। एक ही जन्म में सारे समवाय मिल नहीं पाते क्योंकि समय की प्रक्रिया ही कुछ ऐसी होती है। अतः सारी बातें, सारे निमित्त मिल नहीं पाते और कुछ कर्म भोगने शेष रह जाते हैं। मगर दूसरे जन्म तक सारी परिस्थितियाँ अनुकूल हो जाती है और वे मुक्त हो जाते हैं।

सूत्र-28
तिर्यंच योनि जीव

सूत्र- औपपातिकमनुष्येभ्यः शेषास्तिर्यग्योनयः ॥28॥

अर्थ- औपपातिक और मनुष्य से जो शेष हैं, वे तिर्यंच योनि वाले हैं ॥28॥

विवेचन- ये सूत्र बीच में पृथक् सा लगता है। इसमें कहा गया है कि औपपातिक और मनुष्य के बाद जो शेष जीवन है, वह तिर्यंच योनि जीवन है। औपपातिक का अर्थ है-देव और नरक। मनुष्य का अर्थ है- अधिविकसित मन वाला पंचेन्द्रिय जीव। बहुत से जीव ऐसे होते हैं जिन्हें निदानित देव अपनी सुविधाओं के लिए भोगकर अपना कर्ज़ा चुका नहीं पाते। क्योंकि उनके पास बहुत कम जन्म शेष रहते हैं। तब कैसे हो ? हमें समझ लेना चाहिए कि यह प्रकृति बड़ी न्यायपूर्ण व स्वचालित मशीनरी है। ये प्रकृति बड़ी कार्य दक्ष है, बड़ी आज्ञाकारी है और बड़ी loyal है। वह अपने दायित्व किसी न किसी तरीके से उचित समय व स्थान में संयोजित व फलीभूत कर ही देती है। ये सब आयु की अपेक्षा से कहा जा रहा है। यहाँ आकर्षण का सिद्धांत चलता है। हमारे कर्म व दूसरे जीवों के कर्म जो परस्पर अनुबंधित होते हैं, किसी नियम के अंतर्गत अपने आप अनुशासित होते रहते हैं और सही समय व सही स्थान की अनुकूलता प्राप्त कर रूपांतरित भी होते रहते हैं। उच्च कोटि की भव्यात्माएँ जिन्हें बहुत कम जन्मों में मुक्त होना हो और ऐसा लगभग निश्चित-सा हो गया हो, वे अपने पूर्व प्रतिबंध कैसे निरस्त करे। आयुबंध की अपेक्षा से उनके पास अनुकूलताएँ कम रहती है। तब उनके कर्म फलों का प्रभाव दूसरे जीवों के कर्म फलों के प्रभाव को आकर्षित, विकर्षित, प्रतिचित्रित करके विचित्र तिर्यंच योनियों में आयुष्यमान करता है और वे उसका फल भोग लेते हैं। ये सारी योनियाँ तिर्यंच योनियाँ है। इसमें पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु, वनस्पति आदि भी आते हैं।

देवलोक अथवा सिद्धशिला तक तिर्यंच जीवों की स्थिति रहती ही है। जैसे हम पृथ्वी पर चलते हैं, पानी पीकर तृप्त होते हैं, अग्नि व हवा से सुख-दुःख प्राप्त करते हैं, वैसे ही देवता लोग इन चीज़ों के साथ बंधे हुए कर्मों से मुक्त हो जाते हैं। ये सब आयु की अपेक्षा से कहा जा रहा है। अक्सर पुण्यात्माएँ दानी व उदार हृदय की होती है। उदार, दानी, मददगार और शुभचिंतक के बदले में उन जीवों से उन्हें सुख प्राप्त करना ही होता है। जो जीव उच्च आत्मबली होते हैं, उनसे सुख-दुःख का निपटारा मनुष्य योनि में ही हो पाता है। चाहे घटनाएँ भोग कर हो, चाहे उपसर्ग आदि में हो। हीन आत्मबली जीव तिर्यंच योनि में पृथ्वी, पानी, अग्नि, वायु, वनस्पति के रूप में, लोकांतिक व अनुत्तर देवों को सुख देकर स्वयं कष्ट पाकर स्वयं कर्मों के बोझ से हल्की होती है और देवता भी। यह नियम वाणव्यंतर, ज्योतिष, वैमानिक, मनुष्य और तिर्यंचों पर भी लागू तो होता ही है। इसीलिए हमें नहीं भूलना चाहिए कि दैनिक चर्या में भी जब भी हम अपनी आवश्यकतापूर्ति के लिए षट्काय जीवों का सहयोग लेते हैं तो उन्हें नमस्कार करें। उन्हें धन्यवाद ज्ञापित करें। उनका आभार मानें। उनके प्रति कृतज्ञ रहें। उनके कल्याण के

लिए दुआ करें। उन्हें अपने समान चैतन्य मानें। उनका फालतू प्रयोग न करें। ऐसा नहीं करने पर उत्तरोत्तर किस्मत हमारा साथ नहीं देती और करने पर उत्तरोत्तर हम शीघ्र प्रगति करते हैं।

तिर्यंच सारे भाग में होते ही हैं। मनुष्य व तिर्यंच की जघन्य आयु हम बता चुके हैं। देवताओं व नारकों की आयु का वर्णन आगे किया जाएगा। बस हमें यह नहीं भूलना चाहिए कि हमारा आयुष्य कर्म हमारे भावों से ही बंधता है मगर इन सारे जीवों से हमारे प्रतिबंध कैसे हैं और कैसे चुकाए जाएंगे-यह उन नियमों में ढलकर ही बंधता है। अतः किसी भी जीव का आयुष्य बंध दूसरे जीवों के साथ उसके प्रतिबंध और आयुष्य बंध के नियमों से व परिस्थितियों से प्रभावित होकर ही बंधता है। जैसे X जीव को Y का बेटा होना है और Z को Y का बाप होना है। F को Y की पत्नी बनना है तो इन सब के आयुष्य की स्थितियाँ कर्मों के आकर्षण-विकर्षण के नियमों के अनुसार जब एक जीव बनेगी तभी घटनाएँ घटना संभव होगा। मगर ये सब समायोजन प्रकृति में अपने आप होता है और बहुत से कर्मों को मनुष्य लोक व देवलोक में पृथ्वी, पानी, अग्नि, वायु और वनस्पति के भोग में चुका दिया जाता है।

इस समझ के बाद ये तो कम से कम नितांत आवश्यक हो जाता है कि हम किसी भी धर्म साधना प्रणाली के अनुचिंतक, अनुकर्मी, अनुगामी, अनुभोगी हों, हमें इस सृष्टि के प्रति हर समय धन्यवाद के भाव में रहना चाहिए और विनययुक्त रहना चाहिए। हम किसी का समर्थन-अनुमोदन, अनुज्ञानन, अनुगमन या अनुचिंतन करें या न करें; कैसी भी धर्म साधना करें, हमें किसी का विरोध नहीं करना चाहिए। हमें अपनी इष्ट दृष्टि से नहीं चूकना चाहिए। हमें सब के प्रति विनययुत व कृतज्ञ रहना चाहिए और पंच गुरूओं को सतत् भावों से वंदना करनी चाहिए। पंच गुरूओं को वंदना करने से और सृष्टि के प्रति आभार प्रदर्शन से ही हमारा उचित आयुष्य कर्म का बंधन होता है। यही कारण है कि ज्ञानावरणीय, दर्शनावरणीय, वेदनीय, मोहनीय कर्म तो शायद तुरंत स्थान, रूप, आकार और स्थिति ग्रहण कर लेते हैं। मगर आयुष्य कर्म कई बार मौत के समय तक अंतिम क्षण से एक समय पहले तक निर्णीत नहीं होता। वह अंतिम क्षण में ही निश्चित स्थिति को ग्रहण करता है। इसके लिए एक बात और अपनी आदत में घनीभूत कर लेनी चाहिए कि हम नींद में जाने के क्षणों में, नींद में से जागने के क्षणों में रोज़ सृष्टि के प्रति आभार के भाव में रहें, आनंद के भाव में रहें। इससे जीवन के उत्तरार्द्ध में और मौत के क्षण में हम स्वतः ही सद्भावित हो पाते हैं, जिससे हमें पुनर्जन्म में उचित आयुष्य व वातावरण उपलब्ध होता है।

सूत्र-29-42

देव आयु

औपपातिक जन्म लेने वाले देवताओं की आयु मनुष्य व तिर्यंच, पशु-पक्षियों की आयु से भिन्नता लिए होती है। देवताओं की उम्र बताते हुए तत्त्वार्थ सूत्र के चतुर्थ अध्याय में सूत्रकार इस प्रकार कहते हैं कि-

सूत्र- स्थितिः ॥29॥
भवनेषु दक्षिणार्धाधिपतीनां पल्योपम मध्यर्धम् ॥30॥
शेषाणां पादोने: ॥31॥
असुरेन्द्रयोः सागरोपममधिकं च ॥32॥

अर्थ- आयु का वर्णन किया जाता है ॥29॥
भवनों में दक्षिणार्द्ध के इंद्रों की स्थिति डेढ़ पल्योपम है (1+1/2) ॥30॥
शेष इंद्रों की स्थिति पौने दो पल्योपम है (1+3/4) ॥31॥
दो असुरेन्द्रों की स्थिति क्रमशः सागरोपम और कुछ अधिक सागरोपम है ॥32॥

विवेचन- प्रस्तुत सूत्र 29 में वाचक उमास्वाति देवताओं की स्थिति बतलाने की सूचना देते हैं तथा सूत्र 30,31,32 में भवनपति देवों की उत्कृष्ट आयु बताई गई है।

भवनवासी देवों के असुरकुमार आदि 10 भेद है और प्रत्येक के दक्षिणार्द्ध और उत्तरार्द्ध के दो-दो इंद्र है।

इनमें से दक्षिणार्द्ध के असुरेन्द्र चमरेन्द्र की आयु एक सागरोपम है और उत्तरार्द्ध के असुरेन्द्र बलीन्द्र की आयु एक सागरोपम से कुछ अधिक की बताई गई है।

यद्यपि सागरोपम संज्ञा का मतलब ही असंख्यात काल होता है। अतः कुछ अधिक कहने पर भी असंख्यात ही है किंतु यहाँ भी निर्देशित किया जा रहा है कि दक्षिण दिशा के देवों की अपेक्षा उत्तर दिशावासी में कुछ विशिष्टता होती है। यह वास्तु का दिशा विज्ञान है कि जो कोई दक्षिण में बसते हैं, उसकी बजाय उत्तर में रहने वाले लोग ज्यादा प्रभावी लंबी आयु वाले होते हैं।

शेष नागकुमार आदि नौ प्रकार के भवनवासी देवों के दक्षिणार्द्ध के इंद्रों की आयु डेढ़ पल्योपम और उत्तरार्द्ध के इंद्रों की आयु पौने दो पल्योपम कही गई है। इनकी जघन्य आयु इसी अध्ययन के 45 वें सूत्र में बतलाई जाएगी।

भवनवासी देवों की उत्कृष्ट स्थिति का वर्णन करने के पश्चात् अब सौधर्मादि वैमानिक देवों की उत्कृष्ट

स्थिति सूत्र संख्या 33 से 38 तक में बतलाई जा रही है।

सूत्र- सौधर्मादिषु यथाक्रमम् ॥33॥
सागरोपमे ॥34॥
अधिके च ॥35॥
सप्त सानत्कुमारे ॥36॥
शेषेसु सप्तदशैकादशत्रयोदशपंचदशभिरधिकानि च ॥37॥
आरणाच्युता दूर्ध्वमेकैकेन नवसु ग्रैवेयकेषु विजयादिषु सर्वार्थसिद्धे च ॥38॥

अर्थ- सौधर्म देवलोकों में क्रमशः निम्नोक्त स्थिति है ॥33॥
सौधर्म (प्रथम देवलोक) में दो सागरोपम की आयुस्थिति है ॥34॥
ऐशान (दूसरे देवलोक) में दो सागरोपम से कुछ अधिक देवों की आयु स्थिति है ॥35॥
सनत्कुमार (तीसरे देवलोक) के देवों की आयु सात सागरोपम है ॥36॥
माहेन्द्र से आरण-अच्युत तक (4 से 12) क्रमशः कुछ अधिक सात सागरोपम है।
पाँचवे देवलोक की तीन अधिक सात सागरोपम यानि 3+7=10 सागरोपम
छठे देवलोक की सात अधिक सात सागरोपम यानि 7+7=14 सागरोपम।
सातवें देवलोक की दस अधिक सात सागरोपम यानि 10+7=17 सागरोपम।
आठवें देवलोक की ग्यारह अधिक सात सागरोपम यानि 11+7=18 सागरोपम।
नौवें-दसवें देवलोक की तेरह अधिक सात सागरोपम यानि 13+7=20 सागरोपम ।
ग्यारहवें एवं बारहवें देवलोक की पंद्रह अधिक सात सागरोपम यानि 15+7=22 सागरोपम की आयु है ॥37॥
आरण-अच्युत देवलोक से ऊपर नौ ग्रैवेयक, चार विजय आदि अनुत्तर विमान और सर्वार्थसिद्ध के देवों की आयु अनुक्रम से एक-एक सागरोपम अधिक कही गई है ॥38॥

विवेचन- ये सभी वैमानिकों की उत्कृष्ट स्थिति वर्णित है। बारहवें देवलोक तक की उत्कृष्ट स्थिति 22 सागर की है। प्रथम ग्रैवेयक में जघन्य 22 की, उत्कृष्ट 23 सागरोपम की; दूसरे ग्रैवेयक में उत्कृष्ट 24 सागरोपम की। इसी प्रकार एक - एक बढ़ते-बढ़ते नवें ग्रैवेयक में 31 सागरोपम की स्थिति है। पहले चार अनुत्तर विमानों में 32 सागरोपम की और सर्वार्थसिद्ध महाविमान में 33 सागरोपम की उत्कृष्ट स्थिति है।

आयुष्य कर्म की उत्कृष्ट स्थिति 33 सागरोपम ही है जो कि सर्वार्थसिद्ध विमान-पुण्य के महाशिखर में एवं 7 वीं नरक पाप के फल भोग के चरम बिंदु में पाई जाती है। यह लोक संपूर्णतः संतुलित है। पुण्य व पाप दोनों के फलभोग की स्थिति उत्कृष्ट रूप से समान होती है। हम सब पापों के फलभोग से मुक्त बनें और पुण्यों के प्रति

निरपेक्ष बनें तो इसी क्षण मुक्ति संभव है। ऐसी मुक्ति सभी को उपलब्ध हो।

वैमानिक देवों की उत्कृष्ट स्थिति का वर्णन करने के पश्चात् अब सूत्रकार उनकी जघन्य स्थिति का वर्णन कुछ इस तरह कर रहे हैं -

सूत्र- अपरा पल्योपममधिकं च ॥39॥
सागरोपमे ॥40॥
अधिके च ॥41॥
परतः परतः पूर्वा पूर्वाऽनंतरा ॥42॥

अर्थ-अपरा अर्थात् जघन्य स्थिति पल्योपम और कुछ अधिक पल्योपम है ॥39॥
दो सागरोपम की है ॥40॥
कुछ अधिक दो सागरोपम की है ॥41॥
पहले-पहले की उत्कृष्ट स्थिति आगे-आगे की जघन्य स्थिति है ॥42॥

विवेचन- सौधर्म नामक प्रथम देवलोक की जघन्य स्थिति एक पल्योपम, दूसरे देवलोक की एक पल्योपम से कुछ अधिक, तीसरे की दो सागरोपम, चौथे में दो सागरोपम से कुछ अधिक, पाँचवे से आगे-आगे सभी देवलोकों में जघन्य स्थिति वही है, जो अपनी-अपनी पूर्व-पूर्व के देवलोकों में उत्कृष्ट स्थिति है। इसके अनुसार चौथे देवलोक की कुछ अधिक सागरोपम की उत्कृष्ट स्थिति ही पाँचवे देवलोक में जघन्य स्थिति है। पाँचवे की दस सागरोपम की उत्कृष्ट स्थिति छठे में जघन्य है। इसी प्रकार समस्त वैमानिक देवों की जघन्य उत्कृष्ट स्थिति निम्न तालिका से समझ सकते हैं-

देवलोक	जघन्य स्थिति	उत्कृष्ट स्थिति
प्रथम देवलोक	1 पल्योपम	2 सागरोपम
द्वितीय देवलोक	1 पल्योपम कुछ अधिक	2 सागरोपम कुछ अधिक
तृतीय देवलोक	2 सागरोपम	7 सागरोपम
चतुर्थ देवलोक	2 सागरोपम कुछ अधिक	7 सागरोपम कुछ अधिक
पंचम देवलोक	7 सागरोपम	10 सागरोपम
षष्टम देवलोक	10 सागरोपम	14 सागरोपम
सप्तम देवलोक	14 सागरोपम	17 सागरोपम
अष्टम देवलोक	17 सागरोपम	18 सागरोपम
नवम् देवलोक	18 सागरोपम	19 सागरोपम
दशम् देवलोक	19 सागरोपम	20 सागरोपम
एकादश देवलोक	20 सागरोपम	21 सागरोपम
द्वादश देवलोक	21 सागरोपम	22 सागरोपम
प्रथम ग्रैवेयक	22 सागरोपम	23 सागरोपम
द्वितीय ग्रैवेयक	23 सागरोपम	24 सागरोपम
तृतीय ग्रैवेयक	24 सागरोपम	25 सागरोपम
चतुर्थ ग्रैवेयक	25 सागरोपम	26 सागरोपम
पंचम ग्रैवेयक	26 सागरोपम	27 सागरोपम
षष्टम ग्रैवेयक	27 सागरोपम	28 सागरोपम
सप्तम ग्रैवेयक	28 सागरोपम	29 सागरोपम
अष्टम ग्रैवेयक	29 सागरोपम	30 सागरोपम
नवम् ग्रैवेयक	30 सागरोपम	31 सागरोपम
चार अनुत्तर विमान	31 सागरोपम	33 सागरोपम
सर्वार्थसिद्ध विमान	33 अजघन्य अनुत्कृष्ट	33 सागरोपम।

सूत्र-43-44

नरक आयु

वैमानिक देवों की जघन्य व उत्कृष्ट स्थिति बतलाने के बाद अब नारकी जीवों की जघन्य व उत्कृष्ट स्थिति सूत्रकार इस प्रकार बतला रहे हैं -

सूत्र- नारकाणां च द्वितीयादिषु ॥43॥
दशवर्षसहस्त्राणि प्रथमायाम् ॥44॥

अर्थ- नारकों की दूसरी आदि भूमियों में पूर्व-पूर्व की उत्कृष्ट स्थिति ही अनंतर-अनंतर की जघन्य स्थिति है ॥43॥
पहली भूमि में जघन्य स्थिति दस हज़ार वर्ष की है ॥44॥

विवेचन- उपरोक्त सूत्रों के अनुसार पहली नरक की जघन्य स्थिति 10,000 वर्ष है। उत्कृष्ट स्थिति एक सागरोपम की है। पहली नरक की उत्कृष्ट स्थिति, जो कि एक सागरोपम की है, वही दूसरी नरक की जघन्य स्थिति है। इसी प्रकार समस्त नरकावासों की जघन्य व उत्कृष्ट स्थिति यथातालिका समझनी चाहिए।

नरक	जघन्य स्थिति	उत्कृष्ट स्थिति
प्रथम नरक	10,000 वर्ष	1 सागरोपम
द्वितीय नरक	1 सागरोपम	3 सागरोपम
तृतीय नरक	3 सागरोपम	7 सागरोपम
चतुर्थ नरक	7 सागरोपम	10 सागरोपम
पंचम नरक	10 सागरोपम	17 सागरोपम
षष्टम नरक	17 सागरोपम	22 सागरोपम
सप्तम नरक	22 सागरोपम	33 सागरोपम

उपरोक्त तालिका से यह स्पष्ट है कि ज्यों-ज्यों नरक के स्थान बढ़ते जाते हैं, उनके भीतर वास करने वाले नारकों की आयु भी बढ़ती जाती है। अधिक वर्षों तक जो जीव दुःखों का भोग भोगेंगे, वे उतनी ही अधिक दीर्घायु वाले नरकावासों में जन्म लेंगे। जिन्होंने लंबे समय तक मानव या पशु रुप में रहकर अनेकों लोगों को दुःख उपजाया व स्वयं भी तीव्र कषायों में रहे, वे जीव दीर्घकालीन नरकायु का बंध बाँधते हैं। नरकायु के बंध का महत्वपूर्ण कारण है- रौद्र भावों की सघनता व तीव्र संताप। मानसिक संताप जितना सघन है, उतना ही नरकायु का

बंध प्रगाढ़ है।

क्यों होता है ये मानसिक संताप ? क्यों करते हैं जीव रौद्र ध्यान ?

प्रायः रौद्र ध्यान की बहुलता व प्रगाढ़ता मानव जीवन में उन लोगों में पाई जाती है, जो बदला लेने की अर्थात् प्रतिशोध की भावना से भरकर जीते हैं, जो वैर बांधते हैं, वे अक्सर नरकायु बांधते हैं। उत्तराध्ययन सूत्र में उल्लेख है कि-

'वेराणुबद्धा नरयं उवेंति (4 अध्याय)

ऐसे अनेकों पृथ्वीवासी हर युग में रहे हैं जो अन्य इंसानों के खून के प्यासे हैं। किसी ने उनके मर्म स्थान को चोट पहुँचाई, उनकी प्रिय वस्तु को हड़प लिया अथवा प्रिय संबंधी को लूट लिया या मार दिया और यदि वे असमर्थ होने के कारण कुछ प्रतिकार-प्रतिरोध कर न पाए तो वे दिन-रात व्यग्र रहते हैं। अपने दुश्मन को मारने अथवा हानि पहुँचाने की चिंता में डूबे रहते हैं। उनका मानसिक संताप इतना गहरा हो जाता है कि वे स्वयं अपना ही मानसिक संतुलन खो देते हैं। स्वयं को पीड़ित करते हुए व औरों को पीड़ित करने की योजना बुनते-बुनते, षड्यंत्र रचना में मशगूल रहते-रहते जिनके प्राण पतित होते रहते हैं, वे जीते जी ही नरक सम नकारात्मक भावों में गृद्ध बने रहते हैं और फिर मरकर नरकायु भोगने के लिए विवश बनते हैं। वे लोग हिंसाजनक कार्यों को करने में, कराने में व असहायों की जान लेने में, बलात्कार, लूटमार की चिंता में लवलीन रहते हैं, वे नरकायु बंध कर रहे हैं। प्रायः ऐसे लोग तीसरी से पाँचवीं नरक तक का बंध करते हैं। पहली से तीसरी नरक तक की आयु का बंध अक्सर वे जीव करते हैं जो परस्पर वैर-विरोध में, झगड़े-टंटों में मशगूल रहते हैं। जहाँ कुत्ते-बिल्ली की तरह लोग झगड़ते ही रहते हैं, बात-बेबात एक-दूसरे से गाली-गलौच करते हैं, हानि पहुँचाते हैं, वे लोग प्रथम तीन नरकावासों के उम्मीदवार बन कर वहाँ भी इसी प्रकार परस्पर उदीरित दुःखों को भोगते रहते हैं। चतुर्थ व पंचम नरक के मेहमान वे लोग बनते हैं जो मानसिक तोष पाने के लिए बेजुबान प्राणियों को मारते-मरवाते हैं, उन्हें आग में जला कर, आपस में भिड़ा कर, चमड़ी उधड़वा कर, उनके अंगों का छेदन-भेदन करके खुशियाँ मनाते हैं, उसमें रस लेते हैं, उस पर (bet) बोली लगाते हैं, पशुओं व मानवों के साथ बर्बर बलात्कार आदि करते हैं। ऐसे लोगों को मिली सामूहिक बद्दुआओं व व्यक्तिगत पाप उनके लिए यातनापूर्ण नरक का निर्माण करता रहता है।

छठी व सातवीं नरक में जाने वाले प्रायः अत्यंत कठोर मन वाले व घोर रौद्र परिणामों में एकतरफा वैर-विरोध से व्याकुल अथवा अत्यंत आसक्त भोगी जीव होते हैं। शास्त्रों में तेंदुलमच्छ का उदाहरण देकर बात को समझाया गया है। जो स्वयं भोगने में असमर्थ होते हुए भी जिस मालिक के आश्रय में रहता है, उसके लाभ को देखकर ललचाता रहता है और सबको मारकर खा लेने की चिंतना में इतना तल्लीन हो जाता है कि स्वयं मरकर घोर परिणामों वाली व असंख्य वर्षों तक भोगी जाने वाली सातवीं नरक का आयु भोगने को विवश हो जाता है। यहाँ उपरोक्त सूत्र में पल्योपम व सागरोपम असंख्य वर्षों की काल गणना को इंगित करते हैं। वे दोनों ही शब्द उपमा मात्र है यथा

पल्य + उपम = पल्योपम व सागर +उपम= सागरोपम।

पल्य अर्थात् कुँआ तथा सागर अर्थात् समुद्र। आयु की वह लंबाई व गहराई जो कुएँ व समुद्र की तरह अथाह हो, गणना योग्य न हो, उसे क्रमशः पल्योपम व सागरोपम कहते हैं। ये दोनों ही शब्द जैन शास्त्रों की अपनी पारिभाषिक शब्दावली के शब्द हैं, जिन्हें इन्हीं के संदर्भों में ही समझा जाने योग्य है, जो काल की गणना के लिए प्रयुक्त होते हैं।

सूत्र-45-53

स्थिति वर्णन

देवलोकों की समस्त विशेषताओं का वर्णन करने के पश्चात् अब सूत्रकार चतुर्थ अध्याय के अंतिम चरण में समस्त वैमानिकों व नारकियों की जघन्य व उत्कृष्ट आयु के बारे में सूचित करते हैं। अब निम्नोक्त सूत्रों में (45-53) भवनवासी, व्यंतर एवं ज्योतिष्क निकाय के देवों की जघन्य व उत्कृष्ट स्थिति सूचित की जा रही है, जो इस प्रकार है-

सूत्र- भवनेषु च : ॥45॥
व्यंतराणां च ॥46॥
परा पल्योपमम् ॥47॥
ज्योतिष्काणामधिकम् ॥48॥
ग्रहाणामेकम् ॥49॥
नक्षत्राणामर्धम् ॥50॥
तारकाणां चतुर्भागः ॥51॥
जघन्या त्वष्टभागः ॥52॥
चतुर्भागः शेषाणाम् ॥53॥

अर्थ- भवनपतियों की जघन्य स्थिति दस हज़ार वर्ष ही है ॥45॥
व्यंतर देवों की भी जघन्य स्थिति दस हज़ार वर्ष ही है ॥46॥
उत्कृष्ट स्थिति एक पल्योपम की है ॥47॥
ज्योतिष्क अर्थात् सूर्य व चंद्र की उत्कृष्ट स्थिति कुछ अधिक एक पल्योपम प्रमाण है ॥48॥
ग्रहों की उत्कृष्ट स्थिति एक पल्योपम है ॥49॥
नक्षत्रों की उत्कृष्ट स्थिति अर्ध पल्योपम है ॥50॥
तारों की उत्कृष्ट स्थिति पल्योपम का चतुर्थांश है ॥51॥
जघन्य स्थिति पल्योपम का अष्टमांश है ॥52॥
शेष ज्योतिष्कों अर्थात् ग्रहों व नक्षत्रों की, तारों को छोड़कर जघन्य स्थिति पल्योपम का चतुर्थांश है ॥53॥

विवेचन- वाचक उमास्वाति जी चतुर्गति के जीवों की अवस्थाओं का सांगोपांग वर्णन करते हैं। यूं तो हर जीव अपनी आयु का बंध अपने निजी भावों के अनुसार करता है, फिर भी हर स्थान पर जीव के रहने की काल मर्यादा भिन्न-भिन्न है, एक अपेक्षा से निश्चित भी है। जिस प्रकार हमारा संविधान हर प्रकार के अपराध की सज़ा का कालमान न्यूनतम व अधिकतम सीमा निर्धारित करता है, इसी प्रकार लोक की व्यवस्था भी कुछ इस भांति निश्चित है कि हर स्थान पर किसी भी जीव की अवस्था भी एक निश्चित काल सीमा तक ही संभव है। उसके बाद जीव को वह स्थान छोड़ना ही पड़ता है।

इस संपूर्ण जगत में अनंत काल तक एक ही अवस्था में एक ही स्थान पर रहा जा सके, ऐसे केवल दो ही स्थान है। एक तब, जब कि जीव निगोद में हैं, अव्यवहार राशि में है व दूसरी तब, जब वो सर्वकर्म क्षय कर मुक्त हो चुका हो अन्यथा शेष सभी स्थानों पर 'चलाचली' का दौर है। मात्र सिद्ध स्थान ही 'अचल' है। जहाँ से कभी पुनरावर्त्तन नहीं होता।

प्रस्तुत 15 से 53 तक की संख्या के सूत्र हमें यह बताते हैं कि भवनपति, वाणव्यंतर एवं ज्योतिषीय देवता अपने-अपने स्थानों में न्यूनतम व अधिकतम कितने समय तक रह सकते हैं। देवताओं व नारकों में आयु का निर्धारण प्रमुखतया लेश्या के स्वरूप पर निर्भर करता है। जो देवता जिस लेश्या में जितने ज्यादा समय तक स्थित रहता है, वह उस देवस्थान में उतनी आयु का देव बनेगा।

सूत्रकार कहते हैं कि देवताओं व नारकों की जघन्य अर्थात् न्यूनतम उम्र सीमा पृथ्वीलोक के समय के अनुसार 10,000 वर्ष है। अधिकतम उम्र सीमा 33 सागरोपम मानी गई है।

देवनिकायों के चार भाग मुख्यतया वर्णित है-1. भवनपति 2. वाणव्यंतर 3. ज्योतिष्क 4. वैमानिक।

इन चारों में से पूर्व के दो निकाय अर्थात् भवनपति एवं वाणव्यंतर देवों की जघन्य आयु मर्यादा 10,000 वर्ष की कही गई है। इसका मतलब यह हुआ कि जो कोई एक बार इस अवस्था में उत्पन्न हो गया तो वह कम से कम 10,000 वर्ष तक तो उस स्थान पर रहेगा ही रहेगा। जिस प्रकार यहां मनुष्यलोक में कोई इंसान आवेगों में आकर आत्महत्या भी कर लेता है व अपनी पूरी उम्र का भोग किए बिना मर भी सकता है, ऐसा देव व नरकगति में संभव नहीं है। वहाँ तो कम से कम 10,000 वर्ष तक हर देवता व नारकी को रहना ही पड़ता है।

भवनपति व वाणव्यंतर देवों की उत्कृष्ट स्थिति एक पल्योपम की है। जैसा कि हम पिछले सूत्र के विवेचन में यह बता चुके हैं कि पल्योपम व सागरोपम जैन पारिभाषिक शब्दावली का अपना कालसूचक शब्द है, जो असंख्य वर्षों को उपमित करता है।

ज्योतिष्क देवों की काल मर्यादा बताते हुए सूत्रकार कहते हैं कि ज्योतिषीय देवों के 5 भेद है- चंद्र, सूर्य, ग्रह, नक्षत्र व तारा। इनमें सूर्य व चंद्र की उत्कृष्ट आयु स्थिति कुछ अधिक एक पल्योपम प्रमाण की है।

ग्रहों की उत्कृष्ट स्थिति एक पल्योपम, नक्षत्रों की अर्द्ध पल्योपम व तारों की पल्योपम का चतुर्थांश है। तारों की न्यूनतम स्थिति पल्योपम का अष्टम अंश व शेष चारों की जघन्य स्थिति पल्योपम का चतुर्थ अंश है।

देवगणों में जो जितना अधिक तेजस्वी व प्रभावशाली है, वह उतनी ही अधिक उम्र का कहा गया है। इसको विपरीत ढंग से (vice-versa) कहे जाने पर भी सत्य है कि जो जितनी अधिक आयु अवस्था का है, वह उतना ही अधिक तेजस्वी व प्रभावशाली है।

इतना कुछ बताने का एक मंतव्य सूत्रकार का यह भी रहा होगा कि वे हमें जीवन के इस चरम सत्य से अवगत कराना चाहते हैं कि यहाँ कोई अपनी स्थिति में सदाकाल नहीं रह सकता है। सबको अपना स्थान छोड़कर

एक दिन नए रूपों में आना ही होता है। सदा चमकने वाला सूर्य भी अपनी उम्र पूरी होने पर मर जाता है, उसके स्थान को कोई और देवता पा लेता है। सूयगडांग सूत्र कहता है कि यहाँ अजर-अमर कोई नहीं है। पूज्य श्री विराट गुरूजी अपनी कविता में कहते हैं कि -

सूरज, शशि, दिव, निशि कहती है,
कहाँ उदय है अस्त नहीं
जहाँ जनम है वहीं मरण भी,
बनना है तो ध्वस्त वहीं
लेकिन आगमवाणी कहती,
मृत्यु से घबराए क्यों ?
फिर न जनम ले धारे दृढ़ मन,
भवगति में भरमाए क्यूँ।।

जो इस जन्म-मरण के चक्र से मुक्त होना चाहते हैं, वे आत्मा के अचल, अविचल, सच्चिदानंद स्वभाव में जीना आज से ही प्रारंभ कर दें। मात्र आत्मानंद ही शाश्वत् है, शेष सभी अशाश्वत व अनित्य हैं।

अध्याय-5

अजीवकाय

अनुक्रमणिका

		मूल सूत्र एवं अर्थ	:	272
		षट् द्रव्यात्मक सृष्टि और अन्य दर्शन	:	277
सूत्र - 1	:	अजीवकाय	:	279
सूत्र - 2-3	:	नित्य अवस्थित है द्रव्य	:	282
सूत्र - 4	:	एक मात्र रुपी द्रव्य	:	284
सूत्र - 5-6	:	छः द्रव्यों की विलक्षणता	:	286
सूत्र - 7-11	:	पञ्च अस्तिकायों के प्रदेश	:	289
सूत्र - 12-13	:	पञ्चास्तिकाय-है कहाँ ?	:	292
सूत्र - 14	:	पुद्गल द्रव्य की आकाश में स्थिति	:	294
सूत्र - 15	:	जीव प्रदेश कहाँ तक ?	:	296
सूत्र - 16	:	घटते-बढ़ते जीव प्रदेश	:	298
सूत्र - 17	:	धर्म-अधर्म द्रव्य का उपकार	:	300
सूत्र - 18	:	आधार देता आकाश	:	303
सूत्र - 19-20	:	पुद्गल के उपकार	:	304
सूत्र - 21	:	परस्परोपग्रह जीवन	:	306
सूत्र - 22	:	काल के उपकार	:	310
सूत्र - 23	:	पहचानें पुद्गल को...	:	312
सूत्र - 24	:	पुद्गल की विविध अवस्थाएँ	:	315
सूत्र - 25-28	:	अणु स्कंध	:	319
सूत्र - 29	:	त्रिपदी सत्य	:	322
सूत्र - 30	:	नित्य स्वरूप	:	325
सूत्र - 31	:	अर्पित-अनर्पित	:	328
सूत्र - 32-35	:	स्कंध रचना विज्ञान-1	:	330
सूत्र - 36	:	स्कंध रचना विज्ञान-2	:	332
सूत्र - 37	:	सत्य क्या है ?	:	333
सूत्र - 38-39	:	काल और समय	:	336
सूत्र - 40	:	द्रव्याश्रित होते हैं गुण	:	339
सूत्र - 41-44	:	आदि-अनादि गुण	:	341

।। अथ पंचमोऽध्याय:।।
अजीवकाय

मूल सूत्र एवं अर्थ

सूत्र- अजीवकाया धर्माऽधर्माकाशपुद्गला: ।।1।।
अर्थ- अजीवकाय धर्म, अधर्म, आकाश और पुद्गल रूप है ।।1।।

सूत्र- द्रव्याणि जीवाश्च ।।2।।
अर्थ- धर्मास्तिकाय आदि चार अजीव तत्त्व और जीव- ये पाँच द्रव्य है ।।2।।

सूत्र- नित्यावस्थितान्यरूपाणि ।।3।।
अर्थ- ये द्रव्य नित्य है, स्थिर है तथा अरूपी है ।।3।।

सूत्र- रूपिण: पुद्गला: ।।4।।
अर्थ- पुद्गल रूपी है ।।4।।

सूत्र- आऽऽकाशादेक द्रव्याणि ।।5।।
अर्थ -उक्त पाँच द्रव्यों में से आकाश तक के द्रव्य एक-एक है ।।5।।

सूत्र- निष्क्रियाणि च ।।6।।
अर्थ- धर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकाय व आकाशास्तिकाय निष्क्रिय द्रव्य भी है ।।6।।

सूत्र- असंख्येया: प्रदेशा धर्माधर्मयो : ।।7।।
अर्थ- धर्म और अधर्म के प्रदेश असंख्यात है ।।7।।

सूत्र- जीवस्य ।।8।।

अर्थ- एक जीव के प्रदेश भी असंख्यात है ॥8॥

सूत्र- आकाशस्यानन्ता: ॥9॥
अर्थ- आकाश के प्रदेश अनंत है ॥9॥

सूत्र- संख्येयाऽसंख्येयाश्च पुद्गलानाम् ॥10॥
अर्थ- पुद्गल द्रव्य के प्रदेश संख्यात, असंख्यात और अनंत है ॥10॥

सूत्र- नाणो: ॥11॥
अर्थ- अणु के प्रदेश नहीं होते ॥11॥

सूत्र- लोकाकाशेऽवगाह: ॥12॥
अर्थ- द्रव्यों का अवगाह लोकाकाश में ही होता है ॥12॥

सूत्र- धर्माधर्मयो: कृत्स्ने ॥13॥
अर्थ- धर्म द्रव्य व अधर्म द्रव्य का अवगाह पूर्ण लोकाकाश में है ॥13॥

सूत्र- एकप्रदेशादिषु भाज्य: पुद्गलानाम् ॥14॥
अर्थ- पुद्गल द्रव्यों का अवगाह (लोकाकाश के) एक प्रदेश आदि में विकल्प (भाज्य-भजना) से है ॥14॥

सूत्र- असंख्येय भागादिषु जीवानाम् ॥15॥
अर्थ- जीवों की स्थिति लोक के असंख्यातवें भाग में होती है ॥15॥

सूत्र- प्रदेश संहार विसर्गाभ्यां प्रदीपवत् ॥16॥
अर्थ- दीपक के प्रकाश की तरह जीव के प्रदेशों में संकोच विस्तार होने से जीव लोकाकाश के असंख्यातवें आदि भागों में रहता है ॥16॥

सूत्र- गतिस्थित्युपग्रहो धर्माधर्मयोरूपकार: ॥17॥
अर्थ- गति और स्थिति में उपग्रह करना धर्म और अधर्म द्रव्य का उपकार है ॥17॥

सूत्र- आकाशस्यावगाहः ॥18॥
अर्थ- अवगाह (स्थान) देना आकाश का उपकार है ॥18॥

सूत्र- शरीरवाङ्मनः प्राणापानाः पुद्गलानाम् ॥19॥
अर्थ- शरीर, वाणी, मन, निःश्वास और उच्छ्वास-ये पुद्गलों के उपकार कार्य हैं ॥19॥

सूत्र- सुख दुःखजीवित मरणोपग्रहाश्च ॥20॥
अर्थ- सुख-दुःख, जीवन और मरण- ये भी पुद्गलों के ही उपकार हैं ॥20॥

सूत्र- परस्परोपग्रहो जीवानाम् ॥21॥
अर्थ- जीव परस्पर उपग्रहित है ॥21॥

सूत्र- वर्तना परिणामः क्रिया परत्वापरत्वे च कालस्य ॥22॥
अर्थ- वर्तना, परिणाम, क्रिया और परत्व-अपरत्व ये काल के उपकार हैं ॥22॥

सूत्र- स्पर्शरसगंधवर्णवंतः पुद्गलाः ॥23॥
अर्थ- पुद्गल स्पर्श, रस, गंध और वर्णयुक्त होते हैं ॥23॥

सूत्र- शब्दबंधसौक्ष्म्यस्थौल्यसंस्थानभेदतमश्छाया ऽऽतपोद्योतवंतश्च ॥24॥
अर्थ- वे पुद्गल शब्द, बंध, सूक्ष्मत्व, स्थूलत्व, संस्थान, भेद, अंधकार, छाया, आतप और उद्योत वाले भी होते हैं ॥24॥

सूत्र- अणवः स्कन्धाश्च ॥25॥
अर्थ- पुद्गल परमाणु और स्कंध रूप है ॥25॥

सूत्र- संघातभेदेभ्य उत्पद्यन्ते॥26॥
अर्थ- संघात से, भेद से और संघात-भेद दोनों से स्कंध उत्पन्न होते हैं ॥26॥

सूत्र- भेदादणुः ॥27॥
अर्थ- अणु भेद से ही उत्पन्न होता है ॥27॥

सूत्र- भेदसंघाताभ्यां चाक्षुषाः ॥28॥
अर्थ- भेद और संघात से ही चाक्षुष स्कंध बनते हैं ॥28॥

सूत्र- उत्पादव्ययध्रौव्ययुक्तं सत् ॥29॥
अर्थ- जो उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य से युक्त है, वही 'सत्' है ॥29॥

सूत्र- तद्भावाव्ययं नित्यम् ॥30॥
अर्थ- तद्भाव (अपनी जाति रूप भाव में) जो अव्यय है अर्थात् नष्ट नहीं होता, वह नित्य कहलाता है ॥30॥

सूत्र- अर्पितानर्पितसिद्धेः ॥31॥
अर्थ- अर्पित और अनर्पित से सिद्धि होती है ॥31॥

सूत्र- स्निग्धरूक्षत्वाद् बंधः ॥32॥
अर्थ- स्निग्ध और रूक्षत्व से बंध होता है ॥32॥

सूत्र- न जघन्यगुणानाम् ॥33॥
अर्थ- जघन्य गुण (गुणों का अंश) वाले परमाणु में बंध नहीं होता ॥33॥

सूत्र- गुणसाम्ये सदृशानाम् ॥34॥
अर्थ- समान अंश होने पर सदृश अर्थात् स्निग्ध के साथ स्निग्ध अवयवों का तथा रूक्ष के साथ रूक्ष अवयवों का बंध नहीं होता ॥34॥

सूत्र- द्व्यधिकादि गुणानाम् तु ॥35॥
अर्थ- दो अंश अधिक आदि अवयवों का बंध होता है ॥35॥

सूत्र- बन्धे समाधिकौ पारिणामिकौ ॥36॥
अर्थ- बंध अवस्था में सम और अधिक गुण वाले पुद्गल सम तथा हीन गुण वाले पुद्गलों को परिणमाते हैं ॥36॥

सूत्र- गुणपर्यायवद् द्रव्यम्॥37॥
अर्थ- द्रव्य गुण पर्याय वाला है॥37॥

सूत्र- कालश्चेत्येके॥38॥
अर्थ- कोई-कोई आचार्य कहते हैं कि काल भी द्रव्य है॥38॥
अथवा
सूत्र- कालश्च॥38॥
अर्थ- काल भी द्रव्य है॥38॥

सूत्र- सोऽनन्तसमय:॥39॥
अर्थ- वह काल अनंत समय वाला है।॥39॥

सूत्र- द्रव्याश्रया निर्गुणा गुणा:॥40॥
अर्थ- जो द्रव्य के आश्रित हो किंतु स्वयं निर्गुण हो, वे 'गुण' होते हैं।
अन्य अपेक्षा से 'गुण' वह जो कभी निर्गुण न किया जा सके॥40॥

सूत्र- तद्भाव: परिणाम:॥41॥
अर्थ- उसका होना ही परिणाम है॥41॥

सूत्र- अनादिरादिमांश्च॥42॥
अर्थ- वह अनादि और आदि दो प्रकार का है॥42॥

सूत्र- रूपिष्वादिमान्॥43॥
अर्थ- रूपी पदार्थों (पुद्गलों) में वह आदिमान है॥43॥

सूत्र- योगोपयोगौ जीवेषु॥44॥
अर्थ- जीवों में योग और उपयोग रुप परिणाम है॥44॥

॥ इति मूल सूत्र पंचमोऽध्याय: सम्पूर्णम्॥

षट् द्रव्यात्मक सृष्टि और अन्य दर्शन

सृष्टि के छः आयाम है –

1. लंबाई 2. चौड़ाई 3. ऊँचाई
4. कालाई (गहराई) 5. धर्माई (गति) 6. अधर्माई (अगति) ।

यही छः आयाम आत्मा के प्रकार हैं, जिससे आत्मा आत्मा को अनुभूत होती है, सृष्टि सृजित होती है। इस अपेक्षा से सोचो, तो ये स्यात् सत्य उद्भव होता है कि अस्तित्व की पहचान उसकी भावशक्ति है अर्थात् चेतनाशक्ति है। शेष पाँच तो परिकल्पना मात्र है जिससे आत्मा को समझा जा सके। इसे शंकर 'माया' कहते हैं। वेदांत कहता है 'एको ब्रह्मो द्वितीयो नास्ति'। किंतु सामाजिक समझ से ये बात बहुमत की समझ से परे है।

अतः महावीर ने मनुष्य की तात्कालिक सोच एवं सृष्टि को छः द्रव्यात्मक माना। प्रज्ञा के अनुसार इसका कारण भी है–तर्क शास्त्र कहता है कि किसी भी तत्व का अस्तित्व तब ही माना जा सकता है, जब दूसरा अस्तित्व भी मौजूद हो। 'एको ब्रह्मो द्वितीयो नास्ति' अर्थात् एक ही आत्मतत्व के अलावा दूसरा कुछ नहीं है; यह बात यहाँ तर्क के गणित में फिट नहीं बैठती। यही कारण रहा कि अन्य दार्शनिकों ने शिव अर्थात् आत्मा के साथ शक्ति अर्थात् सृष्टि की परिकल्पना की। यह जो सृष्टि अथवा लोक है, इसे 'पंचआयामी' कहते हैं। जैसे हम आत्मा को मात्र एक गुण रूप अस्तित्व मान लें, तो शेष शक्ति पाँच भागों में परिकल्पित करके बताई गई है। आध्यात्मिक अर्थों में हम कह सकते हैं कि ये पाँच तत्व आत्मा की वे अवस्थाएँ है अथवा आत्मा के वे आयाम हैं, जहाँ आत्मा अनेक रूप में परिलक्षित होती है।

आज विज्ञान नयी सोच में परिप्लावित हो चुका है। अतः जनसाधारण की सोच ने भी नए दृष्टिकोण ले लिए हैं। इस अपेक्षा से जो तथ्य दृष्टिगोचर होते हैं, वे यह बताते हैं कि इस दुनिया में किसी भी तत्व का मात्र एक ही पहलू नहीं हो सकता क्योंकि एक भी परत होगी तो उसका पिछवाड़ा ज़रूर होगा। वैज्ञानिक सोच से यह बात ज्यादा सटीक समझ में आती है। नया वैज्ञानिक सोच कुछ इस तरह का होता है कि इस जगत् में केवल एक ही ब्रह्म तत्व है जिसका दूसरा पहलू संसार है अर्थात् जड़ है। रात का दूसरा पहलू है दिन। चित का दूसरा पहलू है पट, प्रकाश का दूसरा पहलू अंधकार होता है। वैसे ही आत्मा का दूसरा पहलू है भाव, जो सतत् बहता रहता है। ये भाव एक तरंग के सिवाय और कुछ नहीं है। आत्मा के द्वारा होने वाली इस तरंग को जैन दर्शन 'कर्म' कहता है और इसके दूसरे पहलू कर्म भोक्ता या कर्म फल को 'निर्जरा' कहता है। आत्मा का भाव ही 'ब्रह्म' है जो फैलता रहता है। इस तरंग का बना रहना ही उत्पत्ति का दूसरा पहलू ध्रौव्य है और इस तरंग का भोग रूप में पुनः अपने उद्गम स्थान में विलय हो जाना विनाश है, शंकर है। इस प्रकार सृष्टि त्रिआयामी हो जाती है।

वैज्ञानिक मस्तिष्क और सहायक उपकरण इस चेतन तत्व को तो नहीं समझ पाए मगर इस चेतन तत्व की

भाव परिणति का कुछ-कुछ आभास ज़रूर कर पाए। अतः आज का वैज्ञानिक कहता है कि यह सृष्टि न तो फोटोन है, न इलेक्ट्रॉन है (शक्ति); बस मात्र एक तरंग (wave)है, एक कंपन। इस दृष्टिकोण से ही कुछ दार्शनिकों ने, यहां तक कि ईसा मसीह ने भी स्पष्ट कहा है कि यह सृष्टि नाद ब्रह्म है, शब्द है। भगवान महावीर ने इसे बड़े सरल तरीकों से समझाया कि गौतम बुद्ध का शून्यवाद साधारण मनुष्य से परे है। अतः इसे उस तरह से न भी सोच पाओ तो यह सोचो, समझो और महसूस करो कि जब हम हैं, हमारे शरीर व मन से परे कोई विशेष सत्ता तो है , तभी सारा संसार है। अतः इस सृष्टि को अस्ति रूप देखो। तुम पाओगे, तुम हो। तुम्हारा यह अस्तित्व (होनापन) ही चेतन तत्व है। अब अगर कोई वस्तु है तो उसके अस्तित्व की सिद्धि या महसूसीकरण तभी हो सकता है जब उसका कोई दूसरा पहलू हो। यह सृष्टिकरण और कुछ नहीं, उसका भाव प्रवाह है। ये भाव जब प्रसारित होते हैं तो दो ही तरीके होते हैं- पहला है निज ओघ प्रवाह अर्थात् अपने आप में ही निरपेक्ष और निर्द्वंद्व गतिमान होना। यह आत्मा की सिद्ध अवस्था है जहां केवलज्ञान, अभंग दर्शन, अनंत वीर्य और अव्याबाध सुख है। वह इसलिए है कि इस स्थिति में आत्मा अपने भावों से सृष्टि में कुछ भी प्ररूपित नहीं करती अर्थात् 'एको ब्रह्मो द्वितीयो नास्ति' की अवस्था में रहती है। इस दूसरे किसी रूप में शेष नहीं रहने को ही महावीर 'कैवल्यम्' (The only) कहते हैं और उस तक पहुँच की प्रणाली (approach) को 'सामायिक साधना' कहते हैं।

भावों का दूसरा रूप उसका बिखरा-बिखरा होना है, विभंग होना है। जब भाव बिखरते हैं तो यह भाव कंपन जैन दर्शन के अनुसार पाँच भागों में व्याख्यायित किया जाता है -

1. आत्मा आकाश का अनुभव करती है।
2. आत्मा धर्म अर्थात् गति का अनुभव करती है।
3. आत्मा अधर्म अर्थात् रूकावट का अनुभव करती है।
4. आत्मा अपने भावों की निरंतरता के कारण एक फिल्म की रील की तरह समय को अनुभव करती है। इसके अलावा सबसे महत्वपूर्ण यह है कि तरंगित होते ही ये भाव हर पल नए व विचित्र होते हैं। अतः
5. आत्मा अपने ही भाव तरंग को परमाणु रूप (फोटोन) अनुभव करती है।

इस प्रकार आत्मा को अपने ही द्वारा अपने आपको अनुभव करने के ये पाँच तरीके ही पाँच द्रव्य मान लिए गए, जो हमेशा द्रवित होते रहते हैं, बहते रहते हैं। इस बहाव को भगवान महावीर 'विभाव' कहते हैं जिसके कारण जीव संसार में फँसा रहता है।

तो किसी भी दर्शन की अपेक्षा से सर्वथा सत्य एक ही है, जिसे किसी एक ही भाषा प्रणाली, सोच या शब्द संरचना से नहीं समझाया जा सकता मगर उद्देश्य एक ही है। वह है स्वर्ग का साम्राज्य प्राप्त करना अर्थात् इस संसार चक्र से मुक्त हो जाना। इसका सहज व सरल तरीका है 'सामायिक' जिसके द्वारा किसी भी साधना प्रणाली या क्रियाकाण्ड से भावनात्मक एकाग्रता के साथ सम्यक् साध कर आत्मा आत्मा को उपलब्ध हो सकती है अर्थात् केवल सत्ता को उपलब्ध हो सकती है।

सूत्र-1

अजीवकाय

तत्त्वार्थ सूत्र के पिछले चार अध्यायों में जीव तत्त्व की प्ररूपणा वृहत् रूप से की गई थी। जीवों के विविध काय स्वरूप, उनके चतुर्गति रूप, आयु, सम्यग्दर्शन आदि आत्मगुणों के बारे में हमने जाना। अब प्रस्तुत अध्याय जीव के अनंतर अजीव काय के संबंध की विस्तृत जानकारी को संक्षिप्त सूत्रों में प्रस्तुत करता है।

तत्त्वार्थाधिगम सूत्र के प्रस्तोता वाचक उमास्वाति जी अजीवकाय की परिभाषा व अजीव के भेदों के नामों का उल्लेख करते हुए कहते हैं कि-

सूत्र- अजीवकाया धर्माऽधर्माकाशपुद्गलाः ॥1॥

अर्थ- अजीवकाय धर्म, अधर्म, आकाश और पुद्गल रूप है ॥1॥

विवेचन- इस सकल जगत का अस्तित्व जीव और अजीव के संयोग से हैं। अस्तित्व का यह नियम है कि यह दो विपरीत ध्रुवों को अपने में समाहित किए हुए है। यहाँ दो विपरीत छोर, विपरीत रूप सदा एक साथ बने रहते हैं। जहाँ जीव है, वहाँ अजीव भी है। जीव चेतन लक्षण रूप है, अजीव जड़ लक्षण रूप है। जहाँ जीव है वहाँ उपयोग है। जहाँ जड़ता है, वहाँ उसका प्रयोग तो संभव है किंतु वहाँ उपयोग (cognition) नहीं है। उसके प्रयोग का ज्ञान उसमें मौजूद नहीं हो सकता। चेतना स्वतंत्र गति करती है; कभी विकास तो कभी ह्रास को प्राप्त करती है किंतु अजीव में समझ नहीं, उपयोग नहीं इसलिए इसमें न तो स्वतंत्रता है, न ही पराधीनता का अनुभव। अजीव तो मात्र 'है' (exist)। यह न तो महसूस करता है, न ही अभिव्यक्त। जीव द्वारा प्रयोगित अवश्य किया जाता है। जिस प्रकार जीव अनेकों प्रदेशों का प्रचय होने से जीवास्तिकाय कहलाता है, उसी प्रकार अजीव भी अनेकों प्रदेशों के समूह रूप होने से 'अस्तिकाय' (substance) कहलाता है। 'काय' शब्द का अर्थ प्रदेशों का प्रचय या समूह है।

यूं तो अजीव भी पाँच प्रकार का है यथा-धर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकाय, आकाशास्तिकाय, पुद्गलास्तिकाय और काल, किंतु इस सूत्र में काल को सम्मिलित नहीं किया गया है। इसके कारणों में से एक कारण यह है कि काल अस्तिकाय रूप नहीं है। काल द्रव्य को प्रदेशों के समूह रूप नहीं लिया गया है। काल अव्यवस्थित होने से यह काय रूप नहीं बन पाता। यह समूह रूप नहीं हो सकता। कुछ आचार्यों का ऐसा भी अभिमत है कि काल को स्वतंत्र द्रव्य मानने की आवश्यकता नहीं है। यह तो जीव व अजीव में परिवर्तन का निमित्त मात्र है। अतः इसे स्वतंत्र सत्ता रूप स्वीकार किए जाने का क्या औचित्य ?

खैर, जो भी हो, प्रस्तुत सूत्र में अजीवकाय चार भेदों के साथ निर्देशित हुआ है, अतः हम यहाँ इन्हीं भेदों

की विवेचना करेंगे।

1. धर्मास्तिकाय-धर्मास्तिकाय अर्थात् वह प्रदेश समूह जो अस्तित्व की गतिशीलता का निमित्त है। इस संपूर्ण अस्तित्व में जो गति है, उसे 'धर्म' कहा गया है। यहाँ धर्म शब्द का अर्थ श्रुत-चारित्र रूप धर्म अथवा नीति-नियम रूप धर्म नहीं है। यहाँ जो अस्तित्व का गति स्वभाव है, उसे धर्मास्तिकाय कहा गया है। इसी द्रव्य के कारण संसार में जीव व पुद्गल सदैव गतिमान रहते हैं। जिस प्रकार तालाब में मछली गतिशील रहती है, ठीक वैसे ही इस जगत के सभी परमाणु व सभी जीवों के भाव भी सदैव गतिशील रहते हैं। यह गति स्वभाव ही यहाँ धर्मास्तिकाय नाम से अभिहित है। उत्तराध्ययन सूत्र के मोक्षमार्ग नाम के 28 वें अध्याय में कहा गया है कि-'गइलक्खणो धम्मो' अर्थात् धर्मास्तिकाय गति लक्षण रूप है। जिस प्रकार मछली, जो सदा पानी में रहती है, उसे इस बात का अहसास ही नहीं है कि वह सदा पानी में है क्योंकि बगैर पानी के होने का, जीवित रहने का उसे कोई अहसास ही नहीं है; अतः पानी में होने का भी कोई अहसास नहीं बनता। ठीक इसी प्रकार हम सब जीव सदा से धर्मास्तिकाय में हैं। किंतु हमें इसका कोई अहसास नहीं होता क्योंकि यह हमसे किसी भी क्षण जुदा नहीं है। जो दूर हो, कभी हो, कभी न हो-उसका होना या न होना महसूस किया जा सकता है। किन्तु जो सदा समरूप हो, सर्वत्र हो, शाश्वत हो, लोकव्यापी हो, उसे महसूस भला कैसे किया जा सकता है ? हमारी प्रतिक्षण गति धर्मास्तिकाय के निमित्त से है।

2. अधर्मास्तिकाय-अधर्मास्तिकाय अर्थात् अस्तित्व का वह प्रदेश समूह जो अस्तित्व की स्थितिशीलता का पर्याय है। यहाँ जगत में जो कुछ भी अवस्थान है, जो भी स्थिति है, वह अधर्म है। यहाँ अधर्म का अर्थ अनैतिक या पापरूप नहीं है। अस्तित्व सदैव संतुलित है। संतुलन दोनों तुलाओं के समान होने पर ही संभव है। यही कारण है कि जहाँ अस्तित्व का स्वभाव गति है, वहीं स्थिति भी मौजूद है। फिर गति व स्थिति दोनों ही सापेक्ष है। इस सापेक्षता को हम एक दृष्टांत से समझ सकते हैं। जैसे ट्रेन में सफर कर रहे आदमी से पूछा जाए कि वह स्थिर है या गतिमान है। सही उत्तर यही होगा कि वह स्थिर भी है और गतिमान भी है, दोनों अवस्थाएँ सापेक्ष रूप से मौजूद है। ठीक इसी प्रकार यह संपूर्ण लोक अवस्थित है। यहाँ धर्मास्तिकाय व अधर्मास्तिकाय दोनों शाश्वत व लोकव्यापी है। एक के बिना दूसरे का अस्तित्व संभव ही नहीं है अन्यथा संपूर्ण लोक अव्यवस्थित हो जाएगा। घूमता पहिया स्थित चाक पर ही घूम सकता है। पंछी वृक्ष पर घोंसले बनाते हैं। हम ज़मीन के आधार पर चलते हैं। यदि कुछ स्थिर न हो तो गति भी संभव नहीं है। हर पदार्थ अपनी धुरी पर स्थिर रहकर परिधि पर गतिशील बन पाता है। हड्डियाँ स्थिर है, तो रक्त संचरणशील। जीवन का क्रम उस नदी की भाँति है जो किनारों से बंधकर प्रवाहित हो पाती है। यदि वह किनारों से बंधना स्वीकार न करे तो खो जाएगी। मरूस्थल में सूख जाएगी। यह किनारों का बंधन उसे स्थिरता व एकरूपता प्रदान करता है। उसे ही अस्तित्व का अधर्म पर्याय समझना चाहिए। यह अधर्मास्तिकाय स्वयं चैतन्य नहीं है किंतु जड़ द्रव्य होते हुए भी लोक के स्वरूप निर्धारण का अहम् हिस्सा है। यदि अधर्मास्तिकाय न हो तो किसी भी वस्तु में एक बार आई हुई गति रूकेगी नहीं, चलती रहेगी। अतः उसे ठहरने के लिए इस द्रव्य का महत्व है।

3. आकाशास्तिकाय- अजीव द्रव्य का तीसरा भेद आकाश है। आकाश अर्थात् रिक्त स्थान (space)। वह द्रव्य, जो सभी को अवगाहना देता है, जीव व पुद्गल के लिए आधार रूप है, ठीक वैसे ही जैसे दूध के लिए बर्तन, खूँटी

के लिए दीवाल, उसे आकाशास्तिकाय कहते हैं। यह अस्तित्व का Space गुण है। इसी में जगत के सभी जीव व पुद्गल आश्रय पाते हैं। उत्तराध्ययन सूत्र में लिखा है कि ''भायणं सव्वदव्वाणं, नहं ओगाहलक्खणं'' अर्थात् यह आकाश सभी द्रव्यों का भाजन है, पात्र है, आधारभूत है।

4. पुद्गलास्तिकाय-अजीव द्रव्य का चौथा व महत्वपूर्ण भेद है-पुद्गल। यह महत्वपूर्ण इसलिए है कि इसी द्रव्य के होने से अस्तित्व दृश्यमान है। इसे अंग्रेज़ी में Matter कहा जाता है। इसकी सत्ता ही एक मात्र वर्ण- रस-गंध व स्पर्शमय है। यह ही विविध आकारों व प्रकारों में परिणमित होता है। कभी जुड़ता है, कभी विलग होता है। अन्य दर्शनों में इसी द्रव्य को माया व प्रकृति कह कर संबोधित किया गया है। यह द्रव्य नटिनी रूप है जो विविध नाट्यों व भाव-भंगिमाओं से चेतन आत्मा को कभी आकर्षित तो कभी विकर्षित करती है। इसी से सम्मोहित बना जीवात्मा संसार में परिभ्रमण करता रहता है किंतु इतना सब कुछ होते हुए भी यह द्रव्य स्वतंत्र कर्त्ता नहीं है, हो नहीं सकता है। यह जीव द्वारा प्रसारित भावों के अनुरूप ही प्रतिक्रिया करता है। यह वह मशीनरी है, जिसे आदमी operate करता है व अनेकों प्रोग्राम को Create करता है।

इन उपरोक्त चारों भेदों में से धर्मास्तिकाय व अधर्मास्तिकाय की चर्चा अन्य किसी दार्शनिक परंपराओं में नहीं मिलती है। मात्र निर्ग्रंथ प्ररूपित दर्शन में ही मिलती हैं-'It is exclusive of NIRGRANTH DARSHAN' यद्यपि आधुनिक वैज्ञानिक इन दो द्रव्यों की परिकल्पना प्रस्तुत करते हैं। आकाश व पुद्गल की चर्चा अन्य दर्शनों ने भी की है। इन चारों द्रव्यों को जानकर हम अस्तित्व के बहुत से रहस्यों से वाकिफ़ हो सकते हैं। स्थानांग सूत्र के अनुसार धर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकाय, शरीर रहित जीव एवं परमाणु पुद्गल को छद्मस्थ द्वारा नहीं देखा जा सकता किंतु केवली द्वारा ये गम्य है।

सूत्र-2-3

नित्य अवस्थित है द्रव्य

पिछले सूत्र में हमने अजीवकाय के चार भेदों के बारे में जाना था। अब सूत्रकार द्वितीय सूत्र में कहते हैं कि-

सूत्र- द्रव्याणि जीवाश्च ॥2॥

अर्थ- धर्मास्तिकाय आदि चार अजीव तत्त्व और जीव-ये पाँच द्रव्य है ॥2॥

विवेचन- जैन दर्शन के अनुसार यह जगत जीवाजीव द्रव्य रूप है। इसमें जीव एक द्रव्य है तथा अजीव भी। इन दोनों के संयोग से यह जगत अनादि निधन है। इस संपूर्ण अस्तित्व में पाँच मूल द्रव्य है,जिन्हें भगवती सूत्र में पंचास्तिकाय कहा गया है। ये पंचास्तिकाय क्रमशः इस प्रकार है-

1. धर्मास्तिकाय 2. अधर्मास्तिकाय 3. आकाशास्तिकाय 4. जीवास्तिकाय 5. पुद्गलास्तिकाय।

काल को अस्तिकाय नहीं कहा गया है। काल अस्तित्ववान है किन्तु काय रुप नहीं है इसीलिए इसे अस्तिकाय में सम्मिलित नहीं किया गया है। अतः यहाँ षड्द्रव्यों की नहीं वरन् पंचास्तिकायों की ही विवेचना की गई है। ये पाँचों द्रव्य अस्तित्ववान है व इस संपूर्ण अस्तित्व का परिचय है। इन पाँचों द्रव्यों को हम अनेकों तरीकों से समझ सकते हैं। इसे समझने के विविध द्वार है, विविध अपेक्षाएँ हैं। वाचक उमास्वाति इन द्रव्यों को किन-किन अपेक्षाओं से वर्णित करते हैं, इसे हम आगे के सूत्रों में समझेंगे। सूत्र संख्या तीन में कहा गया है कि-

सूत्र- नित्यावस्थितान्यरूपाणि ॥3॥

अर्थ- ये द्रव्य नित्य है, स्थिर है तथा अरूपी है ॥3॥

विवेचन- इन पाँचों द्रव्यों में से पुद्गल के सिवाय शेष सभी द्रव्य अरूपी है। अरूपी अर्थात् अमूर्त्त है। पुद्गल समेत सभी द्रव्य नित्य अवस्थित हैं। चूंकि 'द्रव्य' कहते ही उसको हैं, जो नित्य अवस्थित हो (permanent existence)। जो प्रतिपल परिवर्तित होता रहे, उसे तो 'पर्याय' कहते हैं। नित्य अवस्थित होने का मतलब है कि ऐसा कभी नहीं था कि धर्म-अधर्म, आकाश, जीव व पुद्गल सत्ता में न रहे हो और ऐसा भी कभी नहीं होगा कि ये समाप्त हो जाए। ये न तो उत्पन्न होते हैं, न नष्ट होते हैं। ये अस्तिकाय अस्तित्व रूप है। इनका कभी भी नास्तित्व

नहीं होता है। इसी अपेक्षा से ये कहा जाता है कि अस्तित्व सदा है, जगत में जो परिवर्तित होता है, वह इन द्रव्यों की पर्याय अर्थात् forms or modifications है।

इन पाँचों ही द्रव्यों का नित्य होना इस अर्थ को भी सूचित करता है कि ये पाँचों द्रव्य परस्पर एक-दूसरे में समाहित नहीं होंगे। ये सभी अपने-अपने स्वरूप में नित्य रहेंगे। जीव व पुद्गल भी परस्पर संयुक्त-वियुक्त भले हो जावे किंतु अपने-अपने स्वरूप को छोड़कर अन्य रूप कभी भी नहीं हो सकेंगे। प्रत्येक द्रव्य अपने स्वरूप के सिवाय अन्य रूप को कदापि ग्रहण नहीं करते, इसे उनका अवस्थित तत्त्व भी समझा जा सकता है। ऐसा नहीं है कि ये द्रव्य कूटस्थ नित्य है, इनमें परिवर्तन तो होता है किंतु वह परिवर्तन अपने-अपने स्वरूप में ही होता है। अपने-अपने स्वरूप में होने वाला परिवर्तन जगत को नित नूतनता प्रदान करता है तथा स्वरूप में अवस्थिति इस जगत को नित्यता प्रदान करती है। इस प्रकार यह जगत नित-नूतन भी है व अनादि निधन भी है। दूसरे शब्दों में कहें तो यह जगत शाश्वत परिवर्तनशील है। इसमें मौजूद ये सभी द्रव्य सदैव रहेंगे। न कम होंगे, न ज्यादा।

नित्य व अवस्थित इन दो शब्दों के साथ तीसरा विशेषण है-अरूपित्व। इन पाँचों द्रव्यों में से पुद्गल के सिवाय शेष द्रव्य अरूपी है। अरूपी से तात्पर्य है कि वे मूर्त्त रूप नहीं है। उनमें दृश्य बनने का गुण नहीं है। वे इन्द्रिय अथवा अतीन्द्रिय प्रत्यक्ष नहीं हो सकते हैं। वे 'हैं' किंतु दिखलाई नहीं पड़ते। इन्हें स्वरूपतः अनुभव तो किया जा सकता है किंतु जाना-देखा नहीं जा सकता। हम द्रव्य को उसके गुणों से पहचान भर सकते हैं किंतु किसी भी द्रव्य को स्वरूपतः पूर्णतः जान-देख नहीं सकते, छद्मस्थ के लिए यह अशक्य है। अरूपी से तात्पर्य स्वरूप का नहीं होना हो, ऐसा नहीं है क्योंकि यदि स्वरूप ही नहीं होगा तो फिर इन्हें द्रव्य कहने से क्या प्रयोजन ? इनका स्वरूप है किंतु वह मूर्त्त नहीं है। इनके पास संहनन, संस्थान, रूप व वर्ण-गंध-रस-स्पर्श नहीं है। इन सभी द्रव्यों की पर्याय अविनाशी है, क्षेत्रान्तरगमन नहीं करती है, इसलिए भी ये द्रव्य अरुपी कहलाते हैं। रुपी पुद्गल द्रव्य ही एक मात्र ऐसा द्रव्य है जिसकी पर्यायें विनाशी है और जो क्षेत्रान्तर गमन भी करता है।

सूत्र-4
एक मात्र रुपी द्रव्य

अजीवकाय के चार भेदों में से प्रारंभिक तीन भेद धर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकाय व आकाशास्तिकाय को तथा जीवास्तिकाय को पिछले सूत्रों में नित्य, अवस्थित तथा अरूपी बताया गया था। पुद्गलास्तिकाय नित्य है, अवस्थित है किंतु वह अरूपी नहीं वरन् रूपी है। उसके रूपित्व का निर्देशन करते हुए वाचक उमास्वाति कहते हैं कि-

सूत्र- रूपिणः पुद्गलाः ॥4॥

अर्थ- पुद्गल रूपी है ॥4॥

विवेचन- पुद्गल शब्द का अर्थ है जो पूरण व गलन को प्राप्त होता रहे। जो संयुक्त व वियुक्त होता रहे। बादलों की बनावट की तरह जो बनता-बिगड़ता रहे व रंग-रूप बदलता रहे, उसे पुद्गल कहते हैं। इस संपूर्ण जगत के स्वरूप को समझने के लिए मनीषी लोग एक पहेली बुझाते हैं, वो पहेली इस प्रकार है कि-

'जो दिखता है, वो देखता नहीं और जो देखता है, वह दिखता नहीं।'

जो दिखता है, वह पुद्गल द्रव्य है किंतु यह द्रव्य स्वयं कुछ देखता नहीं क्योंकि यह अजीव है तथा जो देखता है वह जीव द्रव्य है किंतु वह अरूपी होने की वजह से स्वयं दिखलाई पड़ता नहीं।

इस संपूर्ण जगत में ये दो ही मुख्य तत्त्व है-एक जीव व दूसरा पुद्गल। सांख्य दर्शन इन्हें पुरूष व प्रकृति कहकर संबोधित करता है। पुद्गल को वैशेषिक दर्शन में परमाणु कह कर संबोधित किया गया है तथा वेदांत दर्शन में इसे 'माया' कहा गया है। अन्य दर्शन इसे 'जड़ तत्त्व' कहते हैं। प्रकृति कहो या पुद्गल-इस जगत में अगर कुछ रूप है, रंग है, गंध है, स्पर्श है तो वह इन्हीं का है। प्रस्तुत सूत्र में 'पुद्गलाः' बहुवचन पद है, जो यह सूचित करता है कि पुद्गलों की संख्या बहुत है तथा पुद्गल के परमाणु, स्कन्ध आदि भेद के कारण कई भेद हैं। दृश्यमान समस्त बनावटें पुद्गल द्रव्य का ही प्रारुप है, जो कि सतत् बनता-बिगड़ता रहता है।

आर्हत् दर्शन कहता है कि पुद्गल द्रव्य का सूक्ष्मतम हिस्सा परमाणु है। परमाणु निरवयवी (partless) उसमें कोई वर्ण-गंध-रस-स्पर्श नहीं है किंतु वह जब स्कंध रूप में होता है, तब उसमें वर्णादि चारों गुण प्रकट हो जाते हैं। ये चारों गुण सत्ता रूप में तो पुद्गल में सदा मौजूद है किंतु दृश्यात्मक रूप से प्रकट तभी होते हैं, जब जीव की भाव शक्ति से ये आवेशित (charged) होते हैं। जीव के विविध भावकल्प के अनुरूप ही यह पुद्गल विविध रंग-रूप प्रकट करता है। पुद्गल के ये रंग रूप प्रतिसमय परिवर्तित भी होते रहते हैं। यह परिवर्तन इस सृष्टि चक्र का शाश्वत नियम है।

यहाँ एक बात और समझने योग्य है कि पुद्गल को रूपी कहने से यह अर्थ नहीं समझना है कि सारे ही पुद्गल हमारी आँखों द्वारा देखे जा सकते हैं। हकीकत यह है कि पुद्गल परमाणु इतना सूक्ष्म होता है कि चर्म चक्षुओं से दृष्टिगोचर हो ही नहीं सकता। सूक्ष्म पुद्गल परमाणु की तो बात ही न करें बल्कि अनन्तानंत सूक्ष्म परमाणुओं के मेल से बना व्यवहार परमाणु भी स्यात् दृष्टिगोचर नहीं होता।

हम वैज्ञानिक संयंत्रों द्वारा भी परमाणु को देख नहीं सकते। अनंतानंत परमाणु पुद्गलों के संयोग से निष्पन्न स्कंध रचना ही दृश्यमान हो सकती है। अतः पुद्गल के रूपी होने का अर्थ 'दिखलाई पड़ना' नहीं समझना चाहिए। हाँ, केवली भगवान् परमाणु को भी दृष्टिगत कर सकते हैं। रूपी होने का अर्थ इतना ही है कि जिसमें रूप, रस, गंध व स्पर्श हो- वह रूपी है, मूर्तिक है। आकार-प्रकार युक्त है। पुद्गल में आकृति (Shape) व संस्थान (pattern) है।

इस लोक में जितने भी दृष्ट पदार्थ हैं, वे सब रूपी है, मूर्तिक है जैसे पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु, वनस्पति, हमारा शरीर-ये सब पौद्गलिक है। पौद्गलिक सत्ताएँ भी यदि आठ स्पर्श वाली स्कंध रूप हो तब ही हमारी इन्द्रियों द्वारा देखी जानी जा रही है। जो पौद्गलिक सत्ता परमाणु रूप है एवं जो चार स्पर्श वाले स्कंध हैं, वे हमारी इन्द्रियों द्वारा देखे नहीं जा सकते। भगवती सूत्र में पुद्गल के 20 गुण कहे गए हैं-

आठ स्पर्श-शीत, उष्ण, रूक्ष, स्निग्ध, मृदु, कठोर, लघु व गुरू।
पाँच वर्ण-कृष्ण, नील, रक्त, पीत और श्वेत।
पाँच रस- अम्ल, मधुर, कटु, कषाय और तिक्त
दो गंध-सुरभिगंध, दुरभिगंध।

ये सभी गुण पुद्गल स्कंधों (compound of atoms) में पाए जाते हैं किंतु परमाणु में केवल एक वर्ण, एक गंध, एक रस और दो स्पर्श होते हैं। परमाणु में शीत या उष्ण तथा स्निग्ध या रूक्ष गुण होते हैं। मृदु, कठोर, लघु और गुरू- ये गुण परमाणु में नहीं होते। उत्तराध्ययन सूत्र के अनुसार पुद्गल के लक्षण व गुण इस प्रकार है-

सद्दंधयार-उज्जोओ, पहा छायाऽऽ तवेइ वा।
वण्णरस गंध फासा, पुग्गलाणं तु लक्खणं।।
एगत्तं च पुहत्तं च, संखा संठाणमेव य।
संजोगा य विभागा य, पज्जवाणं तु लक्खणं।।

(28,12-13)

शब्द, अंधकार, उजाला, प्रभा, छाया, आतप, वर्ण, रस, गंध, फास, एकत्व, पृथक्त्व, संख्या, संस्थान, संयोग, विभाग इत्यादि पुद्गल के पर्याय व लक्षण है।

सूत्र-5-6

छः द्रव्यों की विलक्षणता

अजीवकाय के भेदों को अनेक अपेक्षाओं से समझाते हुए वाचक उमास्वाति अब सूत्र संख्या 5 व 6 में कहते हैं कि-

सूत्र- आऽऽकाशादेक द्रव्याणि ॥5॥

अर्थ- उक्त पाँच द्रव्यों में से आकाश तक के द्रव्य एक-एक हैं ॥5॥

विवेचन- धर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकाय व आकाशास्तिकाय ये तीनों द्रव्य 'द्रव्य' से एक हैं। इन तीनों द्रव्यों को द्रव्य अपेक्षा से एक कहने का तात्पर्य यह है कि ये तीनों द्रव्य अखण्ड है, अविभाज्य है तथा समग्र हैं। इन्हें अविभागी समग्र (indivisible whole) कहा जा सकता है।

इन तीनों द्रव्यों को एक-एक बतलाने से यह भी सूचित हो जाता है कि बाकी के द्रव्य अनेक हैं। जैन दर्शन कहता है कि जीव द्रव्य अनंत है। इस पूरे विश्व में अनंत जीवात्माएँ है। अन्य दार्शनिकों की तरह जैन दर्शन यह नहीं कहता कि एक जीव की अनंत प्रतिबिंबात्मक रूप यह सृष्टि रचना है। जिस प्रकार एक ही सूर्य से सहस्त्रों किरणें स्फुटित होती है, उसी प्रकार एक ही परमात्मा के अनंत रूप अभिव्यक्त होकर यह अनंत जीव सत्ता में है। जैन दर्शन कहता है कि स्वरूपतः सभी जीवात्माएँ एक है किंतु संख्या के दृष्टिकोण से बात करें तो यहाँ अनंत जीव है। इसे यूँ कह सकते हैं कि जीवास्तिकाय एक होते हुए भी अनंत जीवों का समूह है। प्रत्येक जीव एक स्वतंत्र द्रव्य है और जीवों से अनंत गुणा अधिक पुद्गल द्रव्य है क्योंकि एक-एक जीव के उपभोग में अनंत पुद्गल द्रव्य हैं। काल द्रव्य भी जीव व अजीव पर एक ही समय में वर्तने की अपेक्षा अनंत है किंतु धर्म-अधर्म व आकाश द्रव्य एक-एक ही है।

एकत्व की अपेक्षा धर्म, अधर्म व आकाश में समानता है तथा अनेक की अपेक्षा जीव, पुद्गल व काल में समानता है और एकत्व अनेकत्व की अपेक्षा पहले तीनों की दूसरे तीनों से भिन्नता है।

अगले सूत्र में वाचक उमास्वाति इन्हीं तीनों द्रव्यों की एक और समानता का कथन करते हुए कहते हैं कि-

सूत्र- निष्क्रियाणि च ॥6॥

अर्थ- धर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकाय व आकाशास्तिकाय निष्क्रिय द्रव्य भी है ॥6॥

विवेचन- ये तीनों द्रव्य क्रियारहित होने से निष्क्रिय द्रव्य बतलाए गए हैं। यहाँ क्रियारहित होने से तात्पर्य गतिशून्यता कहा गया है। ये तीनों द्रव्य कभी भी एक स्थान से दूसरे स्थान पर गति नहीं करते हैं। ये संपूर्ण लोक में व्याप्त है, इस अपेक्षा से भी एक द्रव्य है, अखण्ड स्वरूप वाले हैं, इस अपेक्षा से भी इन्हें कहीं अन्य स्थान में गति करने की कोई ज़रूरत नहीं होती है। ये जहाँ हैं, वहीं स्थिर है, अवस्थित है, निश्चल है। इनमें गति रूप कोई क्रिया करने की संभावना न होने से इन्हें निष्क्रिय कहा गया है किंतु इनमें भी परिणमन तो होता ही है।

प्रत्येक द्रव्य में उत्पाद, व्यय, ध्रौव्य- ये तीनों परिणमन तो पाए ही जाते हैं। परिणमन के अभाव में तो किसी भी द्रव्य का अस्तित्व ही संभव नहीं है। प्रत्येक द्रव्य गुण पर्याययुक्त होता है। इस अपेक्षा से प्रत्येक द्रव्य की पर्यायें (forms) तो सदा बदलती ही रहती है किंतु यहाँ पर जिस क्रियाशून्यता की बात की गई है, वह जीव और पुद्गल में पाई जाने वाली क्रिया की अपेक्षा है। जीव और पुद्गल निरंतर गतिशील रहते हैं। जीव में पाई जाने वाली भाव परिवर्तन रूप 'गति' व पुद्गल में पाई जाने वाली 'ऊर्जा' (energy) कभी भी उन्हें क्रियाशून्य नहीं होने देती है। जीव और पुद्गल निरंतर अनेकों आकारों में परिणमित होते रहते हैं किंतु धर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकाय और आकाश द्रव्य का जो आकार है, वह अनादिकाल से है और अनंतकाल तक वही रहेगा। कहने का तात्पर्य यह है कि जीव और पुद्गल के समान धर्म, अधर्म और आकाश द्रव्य का न तो आकारांतर ही होता है और न क्षेत्रांतर में गमन ही होता है। ये एक रूप में अवस्थित हैं और इसी कारण इस लोक की बनावट है, लोक की स्थिति है। ये तीनों द्रव्य इस संपूर्ण लोक की रूपरेखा निर्धारित करते हैं। जहाँ तक धर्म व अधर्म द्रव्य का अस्तित्व है, वहीं तक लोक है; उसके आगे को शास्त्रों में अलोक कहा गया है।

धर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकाय व आकाशास्तिकाय-इन तीनों द्रव्यों को निष्क्रिय कहने का एक प्रमुख कारण यह भी है कि ये तीनों ही द्रव्य न तो जीव है, न ही जीव द्वारा संचालित। जीव चेतन है इसलिए स्वतंत्र कर्त्ता है, पुद्गल जड़ है किंतु जीव के भाव द्वारा प्रयोगित किए जाने पर प्रयुक्त होता है। वह परतंत्र कर्त्ता है। वह जीव के भावों के अनुसार पूरे लोक में संचारित होता रहता है किंतु उन दोनों द्रव्यों की क्रियाओं के लिए, मंचन के लिए जो मंच रूप आधार चाहिए, उसका निष्क्रिय होना ज़रूरी है। यह प्राकृत तथ्य है कि अस्तित्व दो विरोधी ध्रुवों पर ही टिक सकता है, अतः जीव व पुद्गल की इन विविध क्रियाओं के घटित होने के लिए निष्क्रिय द्रव्य का होना तो ज़रूरी है ही। किंतु एक और अद्भुत बात यह है कि ये निष्क्रिय कहलाने वाले द्रव्य ही है, जिनके निमित्त से जीव व पुद्गल में गति व स्थिति रूप परिर्वतन घटित होते हैं।

भगवती सूत्र में वर्णन है कि गौतम गणधर भगवान महावीर से प्रश्न पूछते हैं कि-'हे भगवन् ! धर्मास्तिकाय से जीवों की क्या प्रवृत्ति होती है ?' तब भगवान् ने उत्तर दिया कि -'हे गौतम ! धर्मास्तिकाय से जीवों का आगमन, गमन, भाषा, उन्मेष, मनोयोग, वचन योग और काययोग की प्रवृत्ति होती है। इसी प्रकार दूसरे जितने भी चलभाव (अर्थात् गति भाव) हैं, वे सब धर्मास्तिकाय रूप ही है।'

भगवान् महावीर के उपरोक्त कथन से यह स्पष्ट हो जाता है कि मनोयोग, वचन योग, काययोग और अन्य जो भी गतिरूप भाव है, धर्मास्तिकाय रूप ही है। इसी प्रकार अधर्मास्तिकाय के प्रति भी भगवान ने देशना दी कि जीवों का स्थित रहना, बैठना, सोना, मन को एकाग्र करना, विश्राम करना आदि स्थित भाव अधर्मास्तिकाय रूप है। विचारों का उत्पन्न होना भी धर्मास्तिकाय है और विचारों का शांत होना अधर्मास्तिकाय रूप है। इस प्रकार यह सुस्पष्ट है कि धर्म से गतिभाव संभव है व अधर्म से स्थिति तथा इन दोनों में घटित होने के लिए आधार है-आकाश।

विज्ञान की भाषा में धर्मास्तिकाय और अधर्मास्तिकाय क्रमशः Kinetic energy और Potential energy के क्षेत्र हैं। आकाश को Space कहा गया है। इन तीनों के बिना जीव व पुद्गल की कोई क्रिया संभव नहीं है। किंतु ये तीनों स्वयं निष्क्रिय है अर्थात् क्रिया के कर्त्ता रूप नहीं है। कर्त्ता तो मात्र जीव का अपना भाव बल will power ही है। यह आत्मा का वीर्य गुण है। शुद्ध आत्मा में यानि सिद्ध भगवान में यह वीर्य अकरण रूप हो जाता है, सकरण नहीं रहता। इसको मात्र उपयोग रूप समझना चाहिए। भगवती सूत्र में चार आत्मा का उल्लेख आता है जो सिद्ध अवस्था में भी पर्याय रुप से पाई जाती है- द्रव्य आत्मा, ज्ञान आत्मा, दर्शन आत्मा एवं उपयोग आत्मा।

सूत्र-7-11

पञ्च अस्तिकायों के प्रदेश

अजीव के भेदों के स्वरूप को विविध तरीकों से निरूपित करते हुए अब वाचक उमास्वाति पंच अस्तिकाय द्रव्यों के प्रदेशों के बारे में कथन करते हैं -

सूत्र- असंख्येया: प्रदेशा धर्माधर्मयो : ॥7॥
जीवस्य ॥8॥
आकाशस्यानन्ता: ॥9॥
संख्येयाऽसंख्येयाश्च पुद्गलानाम् ॥10॥
नाणो: ॥11॥

अर्थ- धर्म और अधर्म के प्रदेश असंख्यात है ॥7॥
एक जीव के प्रदेश भी असंख्यात है ॥8॥
आकाश के प्रदेश अनंत है ॥9॥
पुद्गल द्रव्य के प्रदेश संख्यात, असंख्यात और अनंत है ॥10॥
अणु के प्रदेश नहीं होते ॥11॥

विवेचन- उपरोक्त सभी सूत्रों में पाँचों ही द्रव्यों के प्रदेशों की संख्या का कथन किया गया है। प्रत्येक द्रव्य प्रदेशों का समूह होता है, इसी कारण उसे अस्तिकाय कहा जाता है। अस्तिकाय शब्द का अर्थ प्रदेशों का समूह है, जो सदैव अस्तित्ववान रहता है।

किसे कहते हैं प्रदेश ?

1. प्रदेश अर्थात् देश का वह सूक्ष्म से सूक्ष्म अंश जिसका आगे कोई विभाजन नहीं हो सके।
2. जितने आकाश को पुद्गल का एक परमाणु रोकता है, उतने क्षेत्र को प्रदेश कहते हैं।
3. परमनिरूद्ध निरवयव देश को प्रदेश कहते हैं।
4. प्रदेश अर्थात् निरंश अंश अथवा अंश रहित अंश (partless part)।

इस प्रकृति का यह नियम है कि कोई भी एक परमाणु एक साथ दो या अधिक आकाश प्रदेशों का अवगाहन करते हुए टिक नहीं सकता। वह एक आकाश प्रदेश को अवगाहित करके ही टिक सकता है, अतः परमाणु के सबसे सूक्ष्म अवगाह क्षेत्र को ही प्रदेश कहा गया है।

धर्मास्तिकाय व अधर्मास्तिकाय- इन दोनों द्रव्यों के प्रदेश असंख्यात ही होते हैं क्योंकि ये दोनों द्रव्य संपूर्ण लोकव्यापी है, नित्य है व अवस्थित है और लोकाकाश अपने आप में असंख्य प्रदेशी है।

जीवास्तिकाय को अगले सूत्र में एक जीव की अपेक्षा असंख्य प्रदेशी कहा गया है। यद्यपि जीव अनंत है किंतु इन सभी जीवों के जीव प्रदेश असंख्य ही है। जितने प्रदेश लोकाकाश और धर्म तथा अधर्म द्रव्य के हैं, उतने ही प्रदेश एक-एक जीव द्रव्य के भी हैं। किंतु धर्म-अधर्म द्रव्य की तरह जीव के आत्मप्रदेश अवस्थित नहीं है, वे संकोच विस्तार गुण वाले हैं। धर्म व अधर्म द्रव्य के प्रदेश न तो कभी घटते हैं, न कभी बढ़ते हैं किंतु जीव के आत्मप्रदेशों का स्वभाव दीपक की ज्योति के समान संकोच-विस्तार वाला है। जीव जब जैसा शरीर धारण करता है, वैसे ही उसके आत्मप्रदेश हो जाते हैं। जब यह जीव चींटी रूप होता है तो उसके आत्मप्रदेश सिकुड़कर चींटी की देह में समाहित हो जाते हैं तथा जब कभी वही जीवात्मा मरकर हाथी या शेर बन जाता है तो वे जीव प्रदेश फैलकर उतनी देह पर्यंत हो जाते हैं।

आकाशास्तिकाय को यहाँ अनंत प्रदेशी कहा गया है। यद्यपि लोकाकाश तो असंख्य प्रदेशी ही है, फिर भी आकाश को अनंत प्रदेशी कहने का तात्पर्य अलोकाकाश को भी इसी में संयुक्त समझना होगा। आकाश द्रव्य के दो कल्पित विभाग किए गए हैं-एक लोकाकाश व दूसरा अलोकाकाश। आकाश के जिस विभाग में धर्म, अधर्म व जीव, पुद्गल आदि रहते हैं, उसे लोकाकाश कहते हैं तथा जिस हिस्से में ये द्रव्य नहीं पाए जाते, उसे अलोकाकाश कहते हैं। लोक व अलोक को आईन्स्टाइन ने क्रमशः Observation space और Infinite space continuum नाम दिया। भगवती सूत्र में उल्लेख मिलता है कि रोह अणगार द्वारा प्रश्न किए जाने पर भगवान महावीर ने बताया कि लोक और अलोक- ये दोनों पहले से हैं और आगे भी रहेंगे। ये दोनों शाश्वत भाव से हैं। अलोक में मात्र एक आकाश द्रव्य ही व्याप्त है, शेष द्रव्यों का वहाँ अभाव है। इस अपेक्षा से आकाश को अनंत प्रदेशी कहा गया है।

सूत्र संख्या 10 में बताया गया है कि पुद्गल द्रव्य संख्यात, असंख्यात व अनंत प्रदेशी है। इसका कारण यह है कि एक प्रदेश जितना स्थान घेरता है, उतने स्थान में संख्यात, असंख्यात और अनंत पुद्गल परमाणु भी अवस्थित रह सकते हैं। किंतु एक परमाणु उतने स्थान में एक ही प्रदेश अवस्थित रह सकता है, एक से अधिक नहीं। इसीलिए सूत्र 11 में कहा गया है कि अणु में कोई प्रदेश नहीं होता।

एक प्रदेश पर अनंत परमाणु कैसे समा सकते हैं, इसके लिए एक दृष्टांत समझा जा सकता है। एक पानी से भरे हुए बर्तन में जिसमें पानी डाले जाने की संभावना न हो अगर हम उसमें शक्कर डालें तो वह शक्कर समा जाती है। पानी से कई गुना अधिक शक्कर उस बर्तन में आ गई, किंतु फिर भी पानी बाहर नहीं आया। अब उसमें नमक मिला दें तो नमक भी उसमें समा जाएगा। ऐसा संभव है क्योंकि उस बर्तन में आकाश है यानि रिक्त स्थान है और उस बर्तन में सीमित आकाश का एक-एक प्रदेश अनंत परमाणुओं को धारण करने की क्षमता रखता है। इससे स्पष्ट होता है कि पुद्गल परमाणु एक ही प्रदेश पर संख्यात, असंख्यात व अनंत होने पर भी समा सकते हैं।

पुद्गल परमाणु तथा अन्य द्रव्यों के प्रदेश में अंतर भी होता है। पुद्गल परमाणु के प्रदेशों में परस्पर मिलन व वियोग संभव है। ये परमाणु परस्पर जुड़ कर स्कंध रूप बनते हैं तथा पुनः अलग होकर एक नए स्कंध की

रचना भी कर डालते हैं। पुद्गल परमाणु परस्पर मिलते हैं, एकरूप होते हैं और फिर अलग-अलग भी हो जाते हैं।

ऐसी स्थिति अन्य चारों द्रव्यों के प्रदेशों में नहीं है। वे समुच्चय रूप में रहते हैं। ऐसा कभी नहीं होता कि धर्म, अधर्म, आकाश व जीव के प्रदेश उससे कभी अलग हो जाए व फिर पुनः उसी में मिल जाए।

'नाणोः' सूत्र कहता है कि परमाणु का कोई प्रदेश नहीं होता। हो भी कैसे सकता है, जिस प्रकार आकाशादि द्रव्यों की अंतिम अविभाज्य इकाई 'प्रदेश' कहलाती है, इसी प्रकार पुद्गल की अंतिम अविभाज्य इकाई को 'परमाणु' कहते हैं। भाव पर्याय में परिवर्तन तो परमाणु में भी पाया जाता है किंतु इसका कोई प्रदेश नहीं होता है। भाव पर्याय से तात्पर्य 1 वर्ण, 1 गंध, 1 रस व 2 स्पर्श की अपेक्षा तो उसमें भी समय-समय पर पर्याय परिवर्तन होता रहता है। इस अपेक्षा से तो एक परमाणु के भी अनेक भाव परमाणु माने गए हैं। किंतु वैसे परमाणु का आदि-मध्य व अंत कुछ नहीं होता है।

परमाणु व प्रदेश में अंतर

धर्मादिक सभी द्रव्यों का अंतिम अविभाज्य अंश 'प्रदेश' कहलाता है व पुद्गल का अंतिम अविभाज्य अंश 'परमाणु'। दोनों में अंतर यह है कि धर्मादिक द्रव्यों के प्रदेश अपने स्कंध से कभी भी पृथक् नहीं हो सकते हैं जबकि पुद्गल स्कंध से परमाणु जुदा भी हो सकता है व पुनः जुड़ भी सकता है।

सूत्र-12-13

पञ्चास्तिकाय - है कहाँ ?

अजीवकाय के समस्त भेदों को वाचक उमास्वाति अनेक दृष्टिकोणों से समझा रहे हैं। जिस प्रकार एक ही भवन को सामने से देखो तो कोई और चित्र नज़र आता है, पीछे से देखो तो कोई और, दाएं पार्श्व व बाएं पार्श्व से देखे जाने पर उसी बिल्डिंग के अनेक रूप दिखलाई पड़ते हैं, वह भीतर व बाहर से अनेक दृष्टियों से देखी जा सकती है, ठीक इसी प्रकार इस जड़ चेतनमय संपूर्ण लोक के समस्त पदार्थों व द्रव्यों को भी जानने व देखने के अनेक दृष्टिकोण होते हैं। इस दुनिया का एक भी पदार्थ ऐसा नहीं है जिसे अनेक कोणों से जाना-देखा न जा सके। यह सबकी व्यक्तिगत प्रज्ञा का स्तर है कि वह कितने दृष्टि बिंदुओं से पदार्थ के स्वरूप को समझ व ग्रहण कर पाती है। सबकी पाँच इंद्रिय व मन की लब्धि भिन्न-भिन्न है, सबके ज्ञान आवरणीय कर्म का क्षयोपशम भी भिन्न-भिन्न है, अतः सबकी सोच-समझ व प्रज्ञा भी जुदा-जुदा है। जैन दर्शन में इसे अनेकांत दृष्टि कहा गया है व यह बताया गया है कि किसी भी द्रव्य के स्वरूप को, उसके अनंत गुणों व पर्यायों से युक्त होने पर ही जाना जा सकता है।

प्रत्येक द्रव्य को जानने के लिए मुख्यतः चार निक्षेप होते हैं-

1. द्रव्य निक्षेप 2. क्षेत्र निक्षेप 3. काल निक्षेप 4. भाव निक्षेप।

प्रस्तुत सूत्रों में वाचक उमास्वाति पंचास्तिकाय द्रव्यों को क्षेत्र निक्षेप द्वारा व्यक्त कर रहे हैं। वे यह बतला रहे हैं कि समस्त पंचास्तिकाय द्रव्यों का अस्तित्व इस लोकाकाश में ही है। सूत्र कहता है कि-

सूत्र- लोकाकाशेऽवगाहः ॥12॥

अर्थ- द्रव्यों का अवगाह लोकाकाश में ही होता है ॥12॥

विवेचन- अवगाह अर्थात् समा जाना, स्थान ग्रहण करना। जिस प्रकार पानी, घी आदि पदार्थों का पात्र बर्तन आधार बनता है, उसी प्रकार समस्त द्रव्यों का आधार यह 'लोक' है। इसे ही लोकाकाश कहा गया है। लोकाकाश अर्थात् लोकव्यापी आकाश। चूंकि आकाश लोकालोक व्यापी है, वह लोक व अलोक दोनों में है, अतः यहां लोकाकाश शब्द कहा गया है। अलोक व्यापी आकाश में अन्य द्रव्यों की स्थिति नहीं है, यह बात इस सूत्र से ध्वनित होती है। लोकाकाश का अर्थ लोक में रहा रिक्त स्थान भी समझा जा सकता है।

लोकाकाश व अलोकाकाश का विभाजन धर्मास्तिकाय व अधर्मास्तिकाय द्रव्यों के कारण से है। ये दोनों द्रव्य जहाँ तक है, वहाँ तक 'लोक' है, जहाँ उनकी उपस्थिति नहीं, वह 'अलोक' है।

यद्यपि जीव व पुद्गल भी लोक में ही रहते हैं किंतु इनकी संपूर्ण लोक में उपस्थिति रहे, वह ज़रूरी नहीं।

इसी अपेक्षा से लोकाकाश की मर्यादा धर्म व अधर्म द्रव्य की कही गई है।

इसी बात को अगले सूत्र में इस प्रकार कहा गया है कि-

सूत्र- धर्माधर्मयोः कृत्स्ने ॥13॥

अर्थ- धर्म द्रव्य व अधर्म द्रव्य का अवगाह पूर्ण लोकाकाश में है ॥13॥

विवेचन- 'कृत्स्ने' शब्द का अर्थ होता है संपूर्ण (total)। जो धर्मास्तिकाय द्रव्य है एवं अधर्मास्तिकाय द्रव्य है-वह पूर्ण लोकाकाश में है।

दिगंबर आचार्य पूज्यपाद तत्त्वार्थ सूत्र पर लिखी टीका 'सर्वार्थसिद्धि' में कहते हैं कि 'धर्माधर्मादीनि द्रव्याणि यत्र लोकयंते स लोक इति।' अर्थात् जहाँ धर्म-अधर्म आदि द्रव्य देखे जाते हैं, वह लोक है। शेष स्थान अलोक है।

निश्चय नय की दृष्टि से बात करें तो सभी द्रव्य स्वप्रतिष्ठित ही है। स्वप्रतिष्ठ ही है अर्थात् अपने-अपने स्वरूप में स्थित है। तात्विक दृष्टि से एक द्रव्य दूसरे द्रव्य में नहीं रहता। परंतु सभी द्रव्यों का आकाश में होना इसलिए कहा गया है क्योंकि आकाश का मतलब ही है रिक्त स्थान। जो भी 'है' वह रिक्त स्थान में ही होगा, इसी अपेक्षा से आकाश को सभी द्रव्यों का आधार कहा गया है। धर्म और अधर्म द्रव्य गति व ठहराव के निमित्तभूत द्रव्य हैं। ये संपूर्ण 'लोक' में व्याप्त है, इन दोनों द्रव्यों के लोकव्यापी होने से लोक व अलोक की भेद रेखा समझी जाती है।

अब प्रश्न पैदा होता है कि धर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकाय तो लोकव्यापी है किंतु पुद्गल व जीव भी तो इसी लोक में है, वे कहाँ तक फैले हैं ? इसका अस्तित्व संपूर्ण लोक में है या लोक के निश्चित हिस्सों में ? इस प्रश्न का समाधान सूत्रकार अगले सूत्रों में करते हैं।

सूत्र-14

पुद्गल द्रव्य की आकाश में स्थिति

पुद्गल द्रव्य की आकाश में अवस्थिति किस प्रकार रहती है, इसे समझाने के लिए अपनी संक्षिप्त रचना शैली में महान् बात को समझाते हुए तत्त्वार्थ सूत्रकार वाचक उमास्वाति जी कहते हैं कि-

सूत्र- एकप्रदेशादिषु भाज्यः पुद्गलानाम् ॥14॥

अर्थ- पुद्गल द्रव्यों का अवगाह (लोकाकाश के) एक प्रदेश आदि में विकल्प (भाज्य-भजना) से है ॥14॥

विवेचन- धर्मास्तिकाय हो, अधर्मास्तिकाय हो, जीवास्तिकाय हो अथवा पुद्गलास्तिकाय हो- ये सभी द्रव्य लोकाकाश में ही रहते हैं। फर्क सिर्फ इतना है कि धर्मास्तिकाय व अधर्मास्तिकाय संपूर्ण लोकाकाश में रहता है।

पुद्गल द्रव्य धर्म व अधर्म द्रव्य की तरह एक इकाई रूप नहीं है, यह भिन्न-भिन्न ईकाई के रूप में है। पुद्गल द्रव्य एक परमाणु से लेकर अनंत परमाणुओं के संयोग से निष्पन्न स्कंध व महास्कंध रूप है। यह निश्चित है कि कोई भी परमाणु रचना चाहे वह द्विअणु रचना हो, तीन अणु रचना हो, चार-पाँच-छः यावत् संख्यात-असंख्यात व अनंत परमाणु स्कंध रूप हो-वह जितनी परमाणुओं की संख्या के योग से बनी है, वह उससे अधिक आकाश प्रदेशों को अवगाहित नहीं कर सकती, अपने परमाणुओं की संख्या के समतुल्य अथवा कम आकाश प्रदेशों को अवगाहित करते हुए ही रह सकती है।

इस उपरोक्त तथ्य को हम दृष्टांत से समझ सकते हैं। फर्ज़ कीजिए एक स्कंध दस परमाणुओं के संयोग से बना है तो उसके ठहरने के लिए कितने आकाश प्रदेशों की ज़रूरत है। उसे ठहरने के लिए एक आकाश प्रदेश से लेकर दस आकाश प्रदेश तक को अवगाहित करते हुए वह ठहर सकता है किंतु दस से अधिक आकाश प्रदेशों को वह नहीं घेर सकता है।

पुद्गल परमाणुओं से बने स्कंधों में दूसरी गज़ब की विशेषता यह भी पाई जाती है कि संख्यात, असंख्यात व अनंत अणुओं से बने स्कंध भी एक ही आकाश प्रदेश पर ठहर सकते हैं। और चाहे तो संख्यात व असंख्यात आकाश प्रदेश तक भी फैल कर रह सकते हैं। किंतु अनंत आकाश प्रदेश पर नहीं। क्योंकि लोकाकाश के प्रदेश असंख्यात ही है, अनंत है ही नहीं। कहने का सार यही है कि अधिक अणुओं वाला स्कंध आकाश के कम प्रदेश पर अवस्थित रह सकता है किंतु पुद्गल का कोई भी स्कंध अपने परमाणुओं की संख्या से अधिक आकाश प्रदेशों को नहीं घेर सकता ।

अब प्रश्न यह उठ सकता है कि अधिक अणु संख्या वाला पुद्गल स्कंध आकाश के कम प्रदेशों पर कैसे अवस्थित रह सकता है ? तो सूत्रकार ऐसा बताते हैं कि पुद्गल में सूक्ष्मत्व परिणमन शक्ति होती है। उसी शक्ति के

कारण उसमें यह क्षमता है कि वह अत्यंत सीमित स्थान में भी रह सकता है। अनंतानंत परमाणुओं का महापिण्ड सबसे बड़ा अचित्त महास्कंध भी इसी सूक्ष्म परिणमन शक्ति के कारण असंख्यात प्रदेश लोकाकाश में ही समा जाता है।

इस सूक्ष्म परिणमन शक्ति का एक और प्रभाव होता है और वह है व्याघातरहितता अर्थात् न किसी से बाधित होना और न किसी अन्य को किसी भी प्रकार की बाधा पहुँचाना।

यद्यपि पुद्गलास्तिकाय मूर्त्त द्रव्य है और अनंतानंत परमाणुओं के उसके स्कंध भी है, किंतु सूक्ष्म परिणमन शक्ति के कारण वे स्कंध न किसी को बाधा पहुँचाते हैं, और न स्वयं ही किसी अन्य द्वारा बाधित होते हैं।

इस प्रकार यह सूत्र बताता है कि पुद्गल द्रव्य आकाश के एक प्रदेश से लेकर विकल्प रूप में संपूर्ण लोकाकाश तक व्याप्त हो सकता है। इसका कोई निश्चित कारण यहाँ नहीं दिया जा रहा है कि कौनसा पुद्गल द्रव्य कितने अधिक अथवा कम विस्तार को पाता है। किंतु आत्मज्ञानी पूज्य श्री विराट गुरूजी इस बात का भी विज्ञान बताते हैं। उनका कहना कि पुद्गल द्रव्यों में होने वाला परिवर्तन, इनकी बनने वाली स्कंध रचना एवं इनका विस्तार- ये सभी कुछ जीवात्मा के द्वारा संचारित भावों के कारण से है। जीव के द्वारा प्रसारित भाव ही इस प्रकृति की रचना करते हैं। हमारे भावों में मौजूद वीर्यबल इन पौद्गलिक स्कंधों को बनाता-बिगाड़ता व इन्हें संकुचित व विस्तृत करता है। जब भी कोई जीव अपने भावों से इन पुद्गलों को चार्ज (आवेशित) करता है, ये पुद्गल चार्ज होकर आपस में संयुक्त हो जाते हैं व उस जीवात्मा द्वारा गृहीत हो जाते हैं, जिसे शास्त्रकार 'बंध' कहते हैं। इन पौद्गलिक स्कंधों का जीव के साथ संबंध हो जाने पर जीव के भाव जहाँ-जहाँ जाते हैं, जितने वेग से जाते हैं, उतने ही अनुपात में पौद्गलिक रचना भी आकाश प्रदेशों को घेरती है। ऐसा एक भी समय नहीं होता कि लोकस्थ समस्त जीवात्माएँ भाव प्रसारित न कर रही हो व उनसे प्रभावित होकर परमाणु गति न कर रहा हो।

कुछ परमाणु जीव विशेष द्वारा संबंधित हो जाने पर जब तक वे अन्य पुद्गल घटनाओं के साथ संयुक्त होकर भोग न लिए जाएँ तब तक उस जीव विशेष के साथ संबंध बनाए रखते हैं। वे भोगे जाने पर ही निर्जरित होते हैं व पुनः प्रकृतिस्थ हो जाते हैं। उनकी आकाश प्रदेशों में स्थिति जीव द्वारा होने वाले भावों की अवस्था पर निर्भर करती है। जैसे-जैसे जीव सुदूर भाव प्रसारित करता है, सुदूर से संबंध स्थापित करता है, एक स्थान पर रहा हुआ परमाणु अथवा पुद्गल स्कंध चलित होकर तुरंत उस दिशा में गति कर देता है। वह अपनी ऊर्जा द्वारा अन्य अनेक परमाणुओं को भी चार्ज करता जाता है। इसे हम एक बहुत ही स्थूल उदाहरण से समझेंगे। जैसे कि आपने राजस्थान में बैठकर कनाडा में रह रहे अपने संबंधी को याद किया और अपने सेलफोन पर उसके नम्बर डायल किए, तुरंत आपके फोन से निकली तरंगे यूनिवर्स में फैली, सेटेलाईट से टकराकर पुनः उस संबंधित रिश्तेदार के फोन पर झंकृत हुई व उस संबंधित व्यक्ति का फोन बज उठा। आपके द्वारा प्रसारित भावों व उनसे चार्ज्ड पुद्गलों ने इतनी सूक्ष्मता व तीव्रता से सुदूर स्थित व्यक्ति को प्रभावित किया। यह तब ही संभव हुआ जब कि पुद्गल परमाणु आवेशित होकर गति करने लगा। यह पौद्गलिक गति प्रतिक्षण पूरे लोक में हो रही है। इस पौद्गलिक गति का कारण उसमें मौजूद ऊर्जा व जीव द्वारा प्रसारित भाववीर्य है। जीव मात्र भावों का कर्त्ता है, व भाव पौद्गलिक घटनाओं का। पौद्गलिक घटनाओं के घटने में आकाश व काल दोनों ही प्लेटफार्म (मंच) की भाँति है। धर्मास्तिकाय व अधर्मास्तिकाय मंच पर होने वाले मंचन के प्रेरक तत्त्वों की भाँति है। इस संसार के प्लेटफार्म पर होने वाले समस्त नाटकों में जीव डायरेक्टर व प्रोड्यूसर है, पुद्गल एक्टिंग करता हुआ दिखलाई पड़ता है परंतु पर्दे के पीछे जीव के भाव ही है जो पुद्गल से इन सारी क्रियाओं को करवा रहे हैं। यही सृष्टि मंचन का रहस्य है।

सूत्र-15

जीव प्रदेश कहाँ तक?

अब तक हमने जाना कि अजीव तत्त्व के भेदों में धर्मास्तिकाय व अधर्मास्तिकाय-ये दोनों द्रव्य तो संपूर्ण लोकव्यापी है, लोक के असंख्यात प्रदेशों को अवगाहित करके रहे हुए हैं किंतु पुद्गलास्तिकाय द्रव्य लोकाकाश के एकप्रदेश आदि में विकल्प रूप से है। काल के संबंध में सूत्रकार ने कोई बात नहीं की है। फिर भी कुछ दार्शनिकों की मान्यता है कि काल (चंद्र-सूर्य की गति की गणना पर आधारित काल द्रव्य) अढ़ाई द्वीप व्यापी है। जहाँ तक मनुष्य रहता है, वहीं तक काल की गणना है। काल के परिवर्तनों का ज्ञान मनुष्य को ही संभव है, उस अपेक्षा से यह कथन ठीक भी है। शेष समस्त प्रकृति काल के प्रति सजग, सभान नहीं है। अब रही आकाश द्रव्य की बात तो वह तो लोकालोक व्यापी है। इस प्रकार अजीव के समस्त भेदों का अवगाहन क्षेत्र बता देने के बाद एक महत्वपूर्ण प्रश्न शेष रह जाता है कि क्या जीव के प्रदेश भी संपूर्ण लोक में व्याप्त होकर रहते हैं ? अब इस प्रश्न का समाधान आगे के दो सूत्रों में वाचक पूज्यपाद श्री उमास्वाति जी इस प्रकार करते हैं कि-

सूत्र- असंख्येय भागादिषु जीवानाम् ॥15॥

अर्थ- जीवों की स्थिति लोक के असंख्यातवें भाग में होती है ॥15॥

विवेचन- एक जीव का अवगाहन लोक के असंख्यातवें भाग से लेकर संपूर्ण लोकाकाश तक संभव है। लोक के असंख्यात भाग करके, उनमें से एक भाग को ग्रहण करे, वह लोक का असंख्यातवां भाग कहलाता है। लोक का यह असंख्यातवां भाग भी असंख्यात प्रदेशी है। कम से कम उस एक असंख्यातवे भाग में एक जीव रहता है क्योंकि सबसे छोटी अवगाहना (height) सूक्ष्म निगोदिया जीव की होती है, वह अंगुल का असंख्यातवाँ भाग होती है। इस प्रकार वह जीव लोक के असंख्यातवें भाग स्थान को रोकता है। यदि जीव की अवगाहना बड़ी होती है तो वह लोक के दो, तीन, चार आदि असंख्यातवें भागों में रहता है। केवली समुद्घात के समय जीव के आत्म प्रदेश संपूर्ण लोकाकाश में व्याप्त हो जाते हैं। शेष सभी अवस्थाओं में एक जीव का अवगाह लोक के असंख्यातवें भाग में ही होता है। किंतु लोक का असंख्यातवाँ भाग भी असंख्यात प्रकार का होता है, इसीलिए एक जीव का अवगाह भी असंख्यात प्रकार का होता है।

अब प्रश्न यह उठ सकता है कि यदि लोक के एक असंख्यात भाग में एक जीव रहता है तो अनंतानंत जीव राशि लोकाकाश में कैसे रह सकती है ? इसका समाधान करते हुए ज्ञानी मनीषी बताते हैं कि जीव दो प्रकार के हैं-एक सूक्ष्म व दूसरे बादर। बादर अर्थात् स्थूल जीव एक जगह में बहुत से नहीं रह सकते किंतु सूक्ष्म शरीर वाले

जीव सूक्ष्म होने से जितनी जगह में एक निगोदिया जीव रहता है, उतनी जगह में साधारणकाय के रूप में अनंतानंत जीव रह सकते हैं क्योंकि वे परस्पर एक दूसरे को बाधित नहीं करते। इस प्रकार हम देखें कि आकाश प्रदेशों में अवगाह देने की इतनी अद्‌भुत क्षमता है कि एक ही आकाश प्रदेश पर असंख्यात प्रदेशी पुद्‌गल व असंख्यात प्रदेशी जीव दोनों बिना किसी बाधा के आराम से रह सकते हैं। धर्म व अधर्म द्रव्य के प्रदेश भी रह लेते हैं। ये सभी अपने अगुरूलघु गुण के कारण एक-दूसरे को व्यवधानित भी नहीं करते व परस्पर एक दूसरे में मिश्रित भी नहीं होते।

जीवों के प्रदेशों का विस्तार कम-ज्यादा क्यों व कैसे हो जाता है ? इसका विवेचन सूत्रकार अगले सूत्र में करते हैं।

सूत्र-16

घटते-बढ़ते जीव प्रदेश

संसारी अवस्था में जीव का स्वरूप निरंतर बदलता रहता है। वह जैसे-जैसे विभाव प्रसारित करता रहता है, उसका विभाव कल्प उसके लिए विविध प्रकार की सृष्टि रचना करता रहता है। जीव अपने ही विभाव कल्प के अनुसार अपने लिए शरीर एवं अन्य सभी वातावरण सृजित करता है। यदि उसके भावों में संपूर्ण वीतरागता आ जाए तो वह इतना विराट हो जाए जितनी यह समग्र सृष्टि, संपूर्ण लोकाकाश। किंतु यदि उसकी चेतना किसी विषय विशेष में आसक्त (गृद्ध) हो जावे तो वह सिकुड़कर, उसी विषय जितना आकार ग्रहण कर लेगी।

यूं तो जीव अरूपी है व अमूर्त्त है किंतु अपने विभाव कल्प से सृष्ट पौद्गलिक रचना में गृद्ध होने के कारण व उनसे संयुक्त हो जाने के कारण जीव भी स्यात् मूर्त्त हो जाता है। इसी कारण से भगवती सूत्र में जीव के अन्य अनेक पर्यायवाची शब्दों के साथ एक शब्द 'पोग्गले' भी दिया गया है। वहाँ यह बताया गया है कि संसारी अवस्था में जीव कथंचित् पौद्गलिक है। कथंचित् इसलिए कहा गया क्योंकि वैसे तो वह स्वभावतः अमूर्त्त है, सजीव है, किंतु कर्मावरणों से coating हो जाने के कारण उसका भी एक आकार बन जाता है। ठीक वैसे ही जैसे दीए की ज्योत। वह ज्योत वैसे तो भिन्न रूपा है किंतु यदि उस पर लालटेन का बल्ब हो तो वह बल्ब रूप वाली भासित होती है। आधुनिक समय में हम इसे electricity के उदाहरण से समझ सकते हैं। जिस प्रकार electricity यूँ तो दिखलाई नहीं पड़ती। जबकि वह रूपी ही है किंतु जब वह जिस आकृति के माध्यम से प्रकट हो रही होती है, वह उसी रूप में दिखलाई पड़ती है। उसका संकोच व विस्तार भी उसी आकृति के अनुसार होता है। यदि वह एक छोटे से बल्ब से प्रकाशित हो रही है तो वह बल्ब के आकार व विस्तार वाली होती है किंतु यदि वह एक बड़े फानूस से प्रकट हो रही हो तो वह उतनी ही दीर्घाकार हो जाती है।

इसी तथ्य से हम जीव के आत्मप्रदेशों के विस्तार को भी समझ सकते हैं। तत्त्वार्थ सूत्रकार बताते हैं कि जीव के आत्मप्रदेश इस लोकाकाश में इसी तरह माध्यम की भिन्नता के कारण कभी संकुचित तो कभी विस्तृत होते रहते हैं। सूत्र कहता है कि-

सूत्र- प्रदेश संहार विसर्गाभ्यां प्रदीपवत् ॥16॥

अर्थ- दीपक के प्रकाश की तरह जीव के प्रदेशों में संकोच विस्तार होने से जीव लोकाकाश के असंख्यातवें आदि भागों में रहता है ॥16॥

विवेचन- सूत्रकार प्राचीन समय में प्रकाश के माध्यम के रूप में विख्यात एकमात्र दीए का दृष्टांत देकर बताते हैं

कि जिस प्रकार दीपक का प्रकाश कभी सिकुड़ता है व कभी फैलता है, उसी प्रकार जीवात्मा के प्रदेश भी होते हैं। यदि कोई व्यक्ति दीपक को एक निर्जन कमरे में रख देवे तो वह दीपक पूरे कमरे को प्रकाशित करेगा किंतु यदि उसी दीपक को एक बहुत बड़े टोकरे से ढक दिया जावे तो वह दीपक उस टोकरे तक ही विस्तृत हो पाएगा। अब यदि उसी दीपक को एक छोटे से जार (jar) से ढक दिया जाए तो उसका प्रकाश उस जार में ही सीमित हो जाएगा। ठीक इसी प्रकार यह जीवात्मा यदि तुलसी के पौधे की देह में है तो वह उस पौधे की देह तक ही व्याप्त हो पाएगी किंतु यदि वह बरगद के वृक्ष में है तो बहुत विस्तृत हो जाएगी। यदि जीवात्मा निगोद रूप में है तो उसकी देह का प्रमाण अंगुल के असंख्यातवे भाग जितना होगा और यदि सातवीं नरक के नैरयिक के रूप में हो तो 500 धनुष जितनी विस्तृत हो जाएगी। कहने का तात्पर्य यह है कि जीव के आत्मप्रदेश देह जितने विस्तार वाले होते हैं व भाव प्रमाणे संकुचित व विस्तृत होते रहते हैं। जब हम शिशु रूप थे तो हमारे आत्मप्रदेश उस देह जितने विस्तृत थे व जब हम पूरे युवा हो गए तो वे आत्मप्रदेश फैलकर संपूर्ण युवा देह में व्याप्त हो गए। आत्मप्रदेशों में यह संकोच व विस्तार वाला गुण स्वाभाविक रूप से पाया जाता है, इसके लिए उन्हें किसी प्रयास की आवश्यकता नहीं होती।

अब यहाँ प्रश्न यह उठता है कि जीव यदि संकोच स्वभाव के कारण छोटा होता है तो वह लोकाकाश के प्रदेशरूप असंख्यातवें भाग से छोटे भाग में अर्थात् आकाश के एक प्रदेश पर या दो, चार, पाँच आदि प्रदेशों पर क्यों नहीं समा सकता? इसी प्रकार यदि उसका स्वभाव विकासशील है तो वह संपूर्ण लोकाकाश की तरह अलोकाकाश को भी व्याप्त क्यों नहीं करता ? इसका उत्तर यह है कि संकोच की मर्यादा कार्मण शरीर पर निर्भर है। कार्मण शरीर तो किसी भी अंगुलसंख्यात भाग से छोटा हो नहीं सकता, इसलिए जीव का संकोच कार्य भी वहीं तक परिमित रहता है। विकास की मर्यादा भी लोकाकाश तक मानी गई है। इसके दो कारण हैं। पहला तो यह कि जीव के प्रदेश उतने ही है, जितने लोकाकाश के हैं। अधिक से अधिक विकास दशा में जीव का एक प्रदेश आकाश के एक ही प्रदेश को व्याप्त कर सकता है, दो या अधिक को नहीं। इसलिए सर्वोत्कृष्ट विकास दशा में भी यह लोकाकाश के बाहर के भाग को व्याप्त नहीं करता। दूसरा कारण यह है कि विकास करना गति का कार्य है और गति धर्मास्तिकाय के बिना नहीं हो सकती है, अतः लोकाकाश के बाहर जीव के फैलने का कोई कारण ही नहीं है।

अब सूत्रकार आगे के सूत्रों में स्पष्ट करेंगे कि धर्म-अधर्म आदि द्रव्यों का उपकार क्या है ?

सूत्र-17

धर्म-अधर्म द्रव्य का उपकार

तत्त्वार्थ सूत्रकार वाचक उमास्वाति जी लोक की स्थिति का विज्ञान स्पष्ट करते हुए बताते हैं कि यह समग्र लोक प्रतिपक्षी युगल के साथ टिका हुआ है। इस जगत का सत्य विरोधी युगल को अपने में समेटे हुए है। यहाँ 'गति' सर्वत्र है तो 'स्थिति' भी सर्वत्र है। यहाँ 'चेतन' है तो उसका विपरीत युगल 'जड़ अर्थात् पुद्गल' भी है। 'आकाश' है तो 'काल' भी है। इस प्रकार यह समग्र लोक प्रतिपक्षी को अपने में समेटे हुए है। लोक (universe) का प्रतिपक्षी अलोक (anti universe) भी है। लोक और अलोक इन दोनों के मध्य विभाजन करने वाले तत्त्व लोक में मौजूद षड्द्रव्य है। ये षड्द्रव्य तीन विरोधी युगल के रूप में है। ये सभी युगल इस संपूर्ण प्रकृति के लिए ज़रूरी है। इनका किसी न किसी रूप में उपकार है।

षड्द्रव्यों में प्रथमतः परिभाषित धर्मास्तिकाय द्रव्य एक ऐसा द्रव्य है, जो अखण्ड एक प्रदेशी है व स्वयं निष्क्रिय होते हुए भी सारे पदार्थों को गति देता है। जिस प्रकार बिजली का तार स्वयं अक्रिय होते हुए भी विद्युत को प्रवाह देता है, इसी प्रकार धर्मास्तिकाय भी है। वह स्वयं निष्क्रिय है किंतु जीव व पुद्गल की समस्त गति का सहायक निमित्त द्रव्य है। सूत्रकार कहते हैं कि-

सूत्र- गतिस्थित्युपग्रहौ धर्माधर्मयोरुपकारः ॥17॥

अर्थ- गति और स्थिति में उपग्रह करना धर्म और अधर्म द्रव्य का उपकार है।।17।।

विवेचन- ये दोनों द्रव्य गतिमान और स्थितिमान द्रव्यों के गमन और स्थिरत्व में उदासीन रूप से सहायक है।

धर्मास्तिकाय द्रव्य की 'ईथर' संज्ञा से तुलना-

कुछ लोगों की ऐसी मान्यता है कि जैन दर्शन में वर्णित धर्मास्तिकाय द्रव्य की तुलना वैज्ञानिकों द्वारा बताए गए ईथर द्रव्य के साथ की जा सकती है। ईथर की परिभाषा करते हुए वैज्ञानिकों ने बताया कि -'ईथर एक अदृश्य पदार्थ है। वह न ठोस है, न तरल है, न गैस है और ऐसी वस्तु भी नहीं जिसे देखा जा सके। हम विश्वास करते हैं कि ईथर विश्व में सर्वत्र व्याप्त है, सुदूर नक्षत्र मण्डल में भी है, पृथ्वी में भी है और यहाँ तक कि परमाणुओं के बीच में भी है। आशय यह है कि ईथर सर्वत्र है इसीलिए वैद्युत-चुंबकीय तरंगे भी सर्वत्र गति कर सकती है।'

The best that anyone could do would be to say that Ether is an invisible body....is something that is not solid, nor liquid, nor gaseous, nor anything else which can be observed by us physically.

We believe that Ether with throughout all space of Universe is the most remote

regions of the stars and at the same time within the earth, and in the seemingly impossible small space which exists between the atoms of all matter. That is to say, Ether is everywhere; and that electromagnetic wave can be propagated everywhere.

- Hollywood R. and instruction **समेवद.2.**

अल्बर्ट आइंस्टाईन के अपेक्षावाद के सिद्धांत के अनुसार 'ईथर अभौतिक, अपरमाणविक, अविभाज्य, अखण्ड, आकाश के समान व्यापक, अरूप, गति का अनिवार्य माध्यम और अपने आप में स्थिर है।'

इस प्रकार कुछ वैज्ञानिकों ने ईथर की कल्पना एक निष्क्रिय लोकव्यापी प्रसारण माध्यम के रूप में की थी परंतु विज्ञान में 'ईथर' को स्वीकृति नहीं मिली। वैज्ञानिक मैक्सवेल ने सिद्ध किया कि प्रकाश अथवा तरंग के प्रसारण के लिए किसी माध्यम की आवश्यकता नहीं है। प्रकाश विद्युत चुंबकीय ऊर्जा (electromagnetic energy) **है और उसके गमन के लिए किसी भी माध्यम की आवश्यकता नहीं है। परमाणु स्वयं ही गतिशील है, अतः उसे किसी की भी सहायता की आवश्यकता नहीं है। वर्तमान विज्ञान में यही सिद्धांत स्वीकृत है। विज्ञान के अनुसार पुद्गल द्रव्य आंतरिक अथवा बाह्य बल और अपने स्वाभाविक जड़त्व के कारण एक स्थान से दूसरे स्थान तक गमन कर सकता है और ठहर भी सकता है। परमाणु, प्रकाश, ग्रह, तारे आदि भी आंतरिक अथवा बाह्य बल के कारण गति कर सकते हैं और स्थान भी ग्रहण कर सकते हैं। उनके गति नियम-न्यूटन के गति नियमों से भिन्न है।**

विज्ञान के सिद्धांत व उनकी परिकल्पनाएं (Hypothesis) **तो समय-समय पर बदलते रहते हैं। हर नई शोध पुरानी शोध पर प्रश्नचिह्न अंकित कर देती है किंतु पूर्ण आत्मज्ञानी का दर्शन और ज्ञान हर प्रकार के भ्रमों से रहित होता है, निःशंक होता है। ऐसे केवलियों ने, आप्त पुरूषों ने हमें लोकस्थिति का ज्ञान दिया है। वे कहते हैं कि हर द्रव्य निश्चय में तो अपनी योग्यता में ही जीता है किंतु व्यवहार नय से वह दूसरों के लिए सहायभूत भी बन जाता है। यद्यपि जीव व पुद्गल अपनी-अपनी योग्यता से ही गति करते हैं व ठहराव भी पाते हैं किंतु उनकी योग्यताएँ भी धर्म-अधर्म के सहयोग से ही उजागर हो पाती है।**

अब हम अधर्मास्तिकाय के उपकार को भी समझेंगे क्योंकि यदि मात्र धर्मास्तिकाय द्रव्य ही काम करता रहे तो यह गतिशील जगत कहीं ठहरेगा ही नहीं। हर पदार्थ गति ही करता रहेगा तो लोक व स्थान कैसे संभव होगा? अतः अस्तित्व के स्वभाव के अनुरूप ही धर्मास्तिकाय के साथ-साथ अधर्मास्तिकाय का भी वजूद है। यह गतिरोधक द्रव्य है। यह आश्चर्यजनक मगर महत्वपूर्ण द्रव्य है। आत्मज्ञानी पूज्य श्री विराट गुरूजी अधर्मास्तिकाय द्रव्य की विवेचना करते हुए 'स्वास्तिक-दर्शन' नामक पुस्तक में लिखते हैं कि -'मुझे अगर भगवान व शैतान की कल्पना के लिए कहा जाए तो मैं धर्म को भगवान व अधर्म को शैतान कहूँगा। अधर्म एक ऐसे चलचित्र पट (फिल्मी पर्दे) की तरह है जो धर्म के प्रभाव से गतिशील प्रकाश किरणों की सहज गति को बाधित कर देता है, उन किरणों को रोक देता है और तब परावर्तित हुई वे किरणें पर्दे से टकराती है और इस संसार की कहानी जन्म लेती है। संसार की सृष्टि हो जाती है। अच्छाई व बुराई का द्वंद्व जन्म ले लेता है। धर्म व अधर्म की, आदम व शैतान की रचना हो जाती है।' जीव व पुद्गल आपस में टकराते हैं। परस्पर कभी मिलते हैं व कभी छिटक कर दूर हो जाते हैं। यह संसार चक्र चालू रहता है, तब तक जब तक कोई जीव अधर्म से आकर्षित होना बंद नहीं कर देता और निज में रमण करने नहीं लग जाता।

कहने का सार यही है कि अधर्म गति में बाधा देता है। गति तो धर्म है इसलिए वह रूकती नहीं किंतु टकराकर विविध दिशाओं में twist हो जाती है और जीव के विभाव नए-नए कल्प रचते चले जाते हैं। सृष्टि चक्र चालू रहता है। अधर्म का काम गति में बाधा देना है। वह 'स्थिति' का निमित्तसूत्र द्रव्य है। इसके बिना संसार के विविध नाटक संभव नहीं है।

जिस प्रकार पहिए की गति स्थिर चाक के बिना संभव नहीं है, उसी प्रकार जीव व पुद्गल की गति को स्थिरता देने में अधर्मास्तिकाय द्रव्य सहायक है, उपकारी है। थके हुए पथिक के लिए वृक्ष की छाया विश्रांति का स्थल बन जाती है, उसी प्रकार अधर्मास्तिकाय गतिशील जीव व परमाणु को ठहरने में, स्थित करने में सहायक होती है। यही इसका उपकार है।

सूत्र-18

आधार देता आकाश

प्रत्येक अस्तित्वमय पदार्थ अपनी विशिष्ट उपयोगिता लिए हुए है। आत्मज्ञानी पूज्य श्री विराट गुरूजी कहा करते थे कि-

यह क्षण हर हाल उपयोगी, यह कण हर हाल उपयोगी
कान में ज्ञान कहता है, यहाँ हर चीज़ उपयोगी।

उपयोगी होना वस्तु मात्र का स्वभाव है। इस स्वभाव से छहों द्रव्य संयुक्त है। पिछले सूत्र में हमने धर्मास्तिकाय व अधर्मास्तिकाय द्रव्य की उपयोगिता को समझा। अब इस सूत्र में आकाशास्तिकाय की उपयोगिता को दर्शित करते हुए वाचक उमास्वाति कहते हैं कि-

सूत्र- आकाशस्यावगाहः ॥18॥

अर्थ- अवगाह (स्थान) देना आकाश का उपकार है ॥18॥

विवेचन- आकाश का गुण अवकाश देना है। वह प्रत्येक वस्तु को अवगाह देता है। आकाश अन्य सभी द्रव्यों के लिए आधार द्रव्य है, अन्य द्रव्य आधेय है। वे सभी आकाश Space में स्थित है। जीवों और पुद्गलों की गति व स्थिति इसी आकाशास्तिकाय द्रव्य में संभव होती है। चूँकि यह द्रव्य सभी के लिए आधार बनता है, अतः यह सबसे बड़ा द्रव्य माना जाता है। इसमें अवगाहन (Accomodation) देने की अनंत क्षमता है। यह सबको स्थान देता है। फिर भी सदा यहाँ 'अवकाश' यानि रिक्त स्थान रहता ही है। आकाश के एक ही प्रदेश पर धर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकाय के एक-एक प्रदेश, जीव व पुद्गल के क्रमशः असंख्य व अनंत प्रदेश ठहर सकते हैं। फिर भी वह स्थान देने में कभी संकुचित नहीं होता। यह विराट द्रव्य है। आकाश की यह उपयोगिता ही इसका विशिष्ट लक्षण भी है व गुण भी है।

कुछ दार्शनिकों ने आकाश का गुण 'शब्द' बताया है। वे यह कहते हैं कि ध्वनि आकाश का गुण है किंतु जैनागम 'शब्द' को पुद्गल की पर्याय बताते हैं। आधुनिक विज्ञान ने भी ध्वनि को पुद्गल द्रव्य के परमाणुओं से उत्पन्न होना बताया है।

वैज्ञानिक कहते हैं कि प्रकाश किरणों की आवृत्ति भेद से ही वर्ण एवं ध्वनियाँ प्रकट होती है। जैनागम कहते हैं कि शब्द यदि आकाश गुण होता तो न तो मूर्त होता, न ही इंद्रिय ग्राह्य होता, न ही मूर्त पदार्थ के द्वारा बाधित ही होता। वस्तुतः शब्द पुद्गल की ही पर्याय है। वैज्ञानिकों की शोध यहाँ तक कहती है कि हमारे शरीर (body) में 99.9% आकाश (Space) ही है। इस प्रकार हम कह सकते हैं कि आकाश हमारे भीतर-बाहर सर्वत्र है।

सूत्र-19-20

पुद्गल के उपकार

संसार रूपी रंगमंच पर प्रमुख रूप से दो ही कर्त्ता द्रव्य है-एक जीव व दूसरा पुद्गल। इन दोनों कलाकारों से सारे नाटक होते हैं। जीव द्रव्य अमूर्त्त है, अरूपी है किंतु चेतन है, उपयोगयुक्त है तथा पुद्गल द्रव्य मूर्त्त है, रूपी है किंतु जड़ है। इन जड़-चेतन के संयोग से सारी सृष्टि रचना है। शरीर, वाणी, मन, श्वासोच्छ्वास, सुख-दुःख, जीवन-मरण, ये सभी कुछ पुद्गल के कारण से जीव में प्रकट होते हैं। एक मात्र पुद्गल में ये सभी विशिष्टताएँ प्रकट नहीं हो सकती है व एक मात्र जीव में भी नहीं। किंतु जीव में ये पुद्गलों के संयोग से प्रतिभासित होती है। तत्त्वार्थ रचयिता वाचक उमास्वाति कहते हैं कि-

सूत्र- शरीरवाङ्मनः प्राणापानाः पुद्गलानाम् ॥19॥
सुख दुःखजीवित मरणोपग्रहाश्च ॥20॥

अर्थ- शरीर, वाणी, मन, निःश्वास और उच्छ्वास-ये पुद्गलों के उपकार कार्य हैं ॥19॥
सुख-दुःख, जीवन और मरण भी पुद्गलों के उपकार हैं ॥20॥

विवेचन- कुछ संबंध अनादि सांयोगिक होने से हम यह भूल जाते हैं कि वे हमारा स्वभाव नहीं है। ऐसा ही कुछ जीव व पुद्गल के साथ हुआ है। चूँकि इनका पारस्परिक संबंध अनादि है, अतः जीव ये भूल ही गया है कि ये लक्षण वस्तुतः जीव के नहीं वरन् पुद्गल के संयोगों से उत्पन्न हुए हैं। जीव ने ही इन्हें अपने से संबंधित किया है।

प्रत्येक संसारी जीव शरीरयुक्त है, चाहे वह एकेन्द्रिय से पंचेन्द्रिय तक किसी भी जाति अथवा योनि का क्यों न हो। उसका जो शरीर है, वह पौद्गलिक उपग्रह है। पुद्गल का कार्य है। जीव के प्रायोगिक परिणमन के फलस्वरूप ही ये पुद्गल अनेक रूपों में जीव के सहकारी बनते हैं।

जीव आत्मा अपने स्वाभाविक रूप में न बोलता है, न सोचता है, न ही जन्म-मरण अथवा सुख-दुःख का वेदन ही करता है। यह तो पुद्गलों से जीव का संबंध बनने पर होने वाली घटनाएँ है। जीव अपनी भावशक्ति द्वारा, विभाव कल्प द्वारा पुद्गल को आकर्षित-विकर्षित करता है। आकर्षण से संबंध बनता है, घटनाएँ आकार लेती है और विकर्षण से उन संबंधों में परिवर्तन आता है, घटनाएँ बदलाव लेती है। जीव-पुद्गल का ये परस्पर आकर्षण-विकर्षण का क्रम सतत् चलता रहता है और सृष्टि रचना होती रहती है।

प्रस्तुत सूत्र कहता है कि जीवों में दिखाई पड़ने वाला जन्म-मरण, उच्छ्वास-निःश्वास, सुख अवस्था-दुःख अवस्था वस्तुतः पुद्गल का उपग्रह है। यदि पौद्गलिक संयोग ना हो तो जीवात्मा जन्म-मरण,

प्राणापान व सुख-दुःख से सर्वथा मुक्त ही हो। किंतु जीवात्मा अपने भावकर्मों द्वारा ऐसी स्थितियाँ पैदा करता है, ऐसे परमाणुओं को charge करता है कि वे परमाणु स्कंध बनकर विविध रूप से कार्य करते नज़र आते हैं।

जीवात्मा का शरीर में रहना प्राणों के संयोग पर ही संभव है, प्राणों का वियोग होने पर जीव देहमुक्त हो जाता है। यह जो प्राण शक्ति है, वह भी पुद्गल की ही सूक्ष्म पर्याय है। पौद्गलिक शक्ति ही है, जो उच्छ्वास द्वारा जीव के भीतर गति करती है व निःश्वास द्वारा पुनः बहिर्यात्रा करती है तथा नए परमाणुओं को ग्रहण करती है। जीव के इन विविध सुखों व दुःखों का भी निमित्त कारण, पुद्गल ही है। पुद्गलों के इच्छित संयोग मिलने पर जीव सुख का अनुभव करता है व इच्छित संयोग न मिलने पर दुःख का। पुद्गल ही पुद्गल रचना करता है व उसे रूपान्तरित भी करता है, जीव अपने मन से संयुक्त होने के कारण जिस सुख-दुःख को भोगता है, वह सुख-दुःख भी पुद्गल है और मन भी एक पौद्गलिक रचना मात्र ही है। मन में जो यादें हैं, कल्पनाएँ हैं, आकांक्षाएँ हैं, विचारणाएँ हैं, वे सब भी पौद्गलिक पर्यायें ही है। पुद्गल अर्थात् पूरण व गलन। जो कुछ भी रूपान्तरित होता है, संयोग-वियोग होता है-सब पुद्गल ही है।

इस प्रकार जीव के संपूर्ण वृत्त को पुद्गल से आच्छादित देखा जा सकता है। जीवन के आरंभ से अंत तक सब कुछ पुद्गल की ही माया है। जीव पुद्गल को ही खाता, पुद्गल को ही निकालता, पुद्गल पर ही सोता, पुद्गल के कारण ही कभी रोता व कभी हंसता है। पुद्गल को देखते-देखते वह इतना लुब्ध बन चुका है कि वह अपने आपको भूल ही चुका है कि वह इस पुद्गलमय सृष्टि का कर्त्ता है, मदारी है। जमुरा तो पुद्गल है, जो विविध तरह के नाटक करता है। यदि इस जमुरे के नृत्य पर मदारी ही फिदा हो जाए तो अब उस मदारी को कौन जगाए ? वह आत्माराम मदारी बना अपने ही द्वारा प्रशिक्षित पुद्गलों की संरचनाओं में गुम हो चुका है और इस प्रकार एक राजा मंत्री परिषद् के षड्यंत्र का शिकार बना, बंदी बना हुआ अपने ही महलों में पड़ा है। जीवन के इस पौद्गलिक बनावों में जो लुब्ध व बद्ध नहीं होते, वे जीव ही एक दिन निजनाथ बनकर सिद्ध परमात्मा हो जाते हैं।

सूत्र-21

परस्परोपग्रह जीवन

जीवन का होना परस्पर संबंधों में है। यहाँ कोई जीव अन्य जीव के सहयोग के बिना कभी जी ही नहीं सकता है। यहाँ एकाकी जीवन जैसी कोई चीज़ संभव ही नहीं है। पृथक् ईकाई का जीवन सर्व से पृथक् होकर नहीं हो सकता।

'To be is to be related and there is no such thing as living in isolation.' इसी तथ्य का निरूपण वाचक उमास्वाति मोक्षशास्त्र के पाँचवें अध्याय के 21 वें सूत्र में इस प्रकार कर रहे हैं कि-

सूत्र- परस्परोपग्रहो जीवानाम् ॥21॥

अर्थ- जीवों का परस्पर उपग्रह है ॥21॥

विवेचन- तत्त्वार्थ सूत्र के सभी सूत्रों में से सर्वाधिक महत्वपूर्ण सूत्र यह है जिसे जैन समाज ने अपने प्रतीक चिह्न में जो चौदह रज्जु लोक का चिह्न है, उसमें अंकित करवाया है। यह एक सूत्र ही हमारी ज़िंदगी की सारी स्थितियों को बयां कर देता है। यह सूत्र कहता है कि हम कभी भी अकेले नहीं जी सकते। पृथ्वी, पानी, अग्नि, हवा, वनस्पति,कीट, पशु-पक्षी जगत व संपूर्ण प्राणी लोक परस्पर सहयोग से जीते हैं। इंसान वृक्षों को पानी डालता है, खाद-मिट्टी उपलब्ध कराता है, बीज बोता है व वृक्ष इंसानों को रोटी, कपड़ा, प्राणवायु, लकड़ी, औषधि आदि सभी कुछ प्रदान करते हैं। इंसान सभी प्राण भूतों के सहयोग से ही जी पाता है, वह कभी इनका तिरस्कार या उपेक्षा करके नहीं जी सकता है। इस अपेक्षा से देखें तो इस जगत में कोई बड़ा नहीं, कोई छोटा नहीं। सभी का अस्तित्व समान रूप से महत्वपूर्ण है। एक अदनी-सी दिखने वाली चींटी भी यदि हाथी की नासिका में घुस जाए तो हाथी को पर्याप्त रूप से परेशान कर सकती है, पछाड़ सकती है। एक छोटा-सा मलेरिया का मच्छर एक बलिष्ठ पहलवान को धराशायी कर सकता है। एक छोटा-सा तिनका असावधानी से आँख में घुस जाए तो व्यक्ति की गति को बाधित कर देता है। यहाँ हर अदना-सा दिखने वाला प्राणी भी महत्वपूर्ण है। वह प्रत्यक्ष या परोक्ष किसी भी रूप से हमारे जीवन के लिए सहयोगी है। तथ्य है कि हम षट्काय के सहयोग के बिना ज़िंदगी नहीं जी सकते।

इसी सूत्र के भावों को यदि नकारात्मक रूप से परिभाषित किया जाए तो वह होगा-'जीवो जीवस्य भोजनम्।' आधुनिक विज्ञान कहता है कि जीव-जीव का भोजन है। हर बड़ी मछली छोटी मछली का शिकार करके ही जीवित रह पाती है। किंतु जैन दर्शन इस तथ्य को बड़े सुंदर व सकारात्मक ढंग से पेश करता है। जैन दर्शन कहता है कि परस्पर सहयोग के बिना जीवन असंभव है। हमारा होना सबसे है व सबका होना हमसे है। वस्तुतः हम सब भिन्न नहीं है, न ही हो सकते हैं। यद्यपि आदमी अहंकारवश कह देता है कि 'मुझे किसी की कोई ज़रूरत नहीं

है। खुद अकेले ही सारे काम कर लूँगा' अथवा शिकायती भावों से भरकर ऐसा भी कहता है कि, 'किसी ने मेरी कोई सहायता नहीं की। मैं self made man हूँ।' परंतु यहाँ कोई पूर्णतया self made होता ही नहीं। हम सब सभी के सहयोग से ही जीवन पाते हैं।

हमारे शरीर की जो चमड़ी है वह मिट्टी है, धरती का अंश है, पृथ्वीकाय रुप जीवन का योगदान है। हमारे भीतर रक्त प्रवाहित हो रहा है, वह पानी रुप है। हमारे भीतर की प्राणशक्ति विद्युत है, अग्नि है। शरीर के भीतर अग्नि तत्त्व है जो इस शरीर को जीवित टिकाए रखता है, भोजन को पचाता है। इसी प्रकार हम प्रतिपल प्राणवायु को ग्रहण भी करते हैं व विसर्जित भी करते हैं, यह वायुकाय रुप जीवन है।

हमारे भीतर मौजूद प्रोटीन, विटामिन्स, मिनरल्स, कार्बोहाइड्रेट्स आदि समस्त पौष्टिक अंश वनस्पति जगत का हिस्सा है। कहने का तात्पर्य यही है कि यहाँ हम सब inter being है, पारस्परिक है। चूंकि जीवन पारस्परिकता से ही संभव है तो क्यों न हम परस्पर सद्भाव से जीएँ। परस्पर दुर्भावना व द्वेष रखने से जीवन को जीना संभव ही नहीं है। अतः हमें कदापि शत्रुता नहीं पालनी है। ये सूत्र कहता है कि अपने जीवन को सहकारी समझो। न सारे ही अर्थ (मूल्य) स्वयं को दो, न ही स्वयं को व्यर्थ समझो। हम परस्पर अभिन्न है, अतः अभेद भाव से जीओ। एगे आया (एकात्म भाव) से जीना ही हमारे जीने का ढंग हो।

यह संपूर्ण दुनिया सुंदर हो जाए यदि सभी इस सूत्र को आगे रखकर, समझ कर ज़िंदगी जीएँ। जीवन को संगीतमय आनंदमय जीना है तो परस्पर सहयोगी बनना ही हमारी जीवन शैली हो जाए।

संपूर्ण जैन समाज ने अपने प्रतीक चिह्न के रूप में लोक की आकृति को लिया है, जिसके नीचे -'परस्परोपग्रहो जीवानाम्' सूत्र को अंकित किया है। जैन परंपरा में यह रीति कब से प्रारंभ हुई-इसका कोई इतिहास तो स्यात् उपलब्ध नहीं है किंतु हम उन जैनाचार्यों की प्रज्ञा व पवित्रता को धन्यवाद देते हैं जिन्होंने समस्त जीवों को आत्मवत् जीने की प्रेरणा देने के लिए जैन प्रतीक चिह्न पर 'परस्परोपग्रहो जीवानाम्' का सूत्र अंकित किया। जैन प्रतीक चिह्न पर इसी एक सूत्र को अंकित कराना यह भी दर्शाता है कि वे हमें यह प्रेरणा देते रहे हैं कि हम परस्पर आत्मवत् जीएँ। जैसा मैं, वैसा वो भाई। यहाँ कोई अन्य नहीं है, हम सब अनन्य हैं। अगर प्राणियों में परस्पर कोई भेद है भी तो वह मात्र परिधिगत है, देह संरचना व कर्मसत्ता का है किंतु जिस प्रकार प्रतीक चिह्न में मौजूद चक्र में सभी रेखाएँ एक केन्द्र पर जाकर मिलती है, इसी तरह आत्मिक स्तर पर या यूँ कह दो सिद्ध अवस्था में हम सब भेदों से मुक्त होकर 'एक' ही हो जाते हैं। हमारा जीवन पारस्परिकता से है। आत्मा का आत्मा से कोई भेद नहीं है। केन्द्र में, स्वरूप में सभी एक हैं किंतु संसार में जीते हुए अपने कर्म बंधनों की विचित्रता को हम सब लिए हुए हैं-यही भाव दर्शाने के लिए प्रतीक चिह्न में चक्र के साथ एक हाथ भी दिखाया जाता है। वह हाथ यह बताता है कि चक्र की ही भाँति यहाँ भी सभी अंगुलियाँ जुदा-जुदा होते हुए भी एक हथेली से जुड़ी है। सभी अंगुलियाँ एक सरीखी नहीं है, कोई किसी अन्य के जैसी नहीं है। किंतु सब परस्पर अंगरुप है। एक आत्मा के आत्मप्रदेश संपूर्ण लोक में समाहित होते हैं, तब क्या वे इस लोक में मौजूद अन्य सभी जीवनिकायों के साथ संयुक्त नहीं हुए? हुए ना। हर जीव में हर जीव के आत्मप्रदेश संयुक्त है। ठीक इसी तरह जिस तरह एक बूँद में पूरा सागर है व एक बूँद पूरे सागर में है। अतः कोई किसी अन्य का अहित कर ही नहीं सकता है, जब भी हम किसी के साथ कुछ करते हैं, वह अपने आपके साथ ही कर रहे होते हैं। हम सदा सब में है, सब हम में है-यही पारस्परिकता है जिसे वाचक उमास्वति जी कहते हैं-

परस्परोपग्रहो जीवानाम् ॥

सभी परस्पर उपग्रहित हैं, एक दूसरे को ग्रहण किए हुए हैं। एकमेक है। आचारांग सूत्र के चतुर्थ अध्याय में इसी भाव को इस तरह प्रकट किया गया है कि-

जे एगं जाणइ, से सव्वं जाणई।
जे सव्वं जाणइ, से एगं जाणई।।
जे एगं नामे, से सव्वं नामे।
जे सव्वं नामे, से एगं नामे।।
जे अणण्णदंसी से अणण्णारामे।
जे अणण्णारामे से अणण्णदंसी।।

अर्थात् जो एक को जानता है, वह सब को जानता है। जो सबको जानता है, वह एक को जानता है। जो एक को नमाता है, वह सबको नमाता है। जो सबको नमाता है, वह एक को नमाता है। जो अनन्य देखता है, वह अनन्य में रमण करता है। जो अनन्य में रमण करता है, वह अनन्य को देखता है।

अनन्य अर्थात् जो अन्य न हो। जो पराया न हो। इस सूत्र से सम्यग् दर्शन प्राप्त कर हम सभी जीवात्माओं के साथ पारस्परिक सद्भाव, सहयोग भाव से जीवन जीएँ। सहयोग का आदान-प्रदान स्वार्थ बुद्धि से न होकर आत्मीय भावों से हो तो हमारी आत्मा चरम उपलब्धि को अनुभूत कर पाएगी, जहाँ कोई अन्य नहीं रहता, सब आत्मरूप हो जाते हैं। इस अनुभूति में जीना ही 'कैवल्य दशा' कहलाती है। कैवल्य अर्थात् जहाँ दो नहीं रहे, केवल मात्र रहे। जहाँ सब एक ही हो गए। उस कैवल्य दशा की प्राप्ति का तरीका है-'परस्परोपग्रहो जीवानाम्' सूत्र। हम सभी इस सूत्र से समझ पाकर सदा कृतज्ञतापूर्वक सद्भावमय पारस्परिक जीवन जीएँ। आत्मज्ञानी श्री विराट गुरूजी ने कृतज्ञ भावों को जीवन विकास का सर्वाधिक महत्वपूर्ण आधार बताया। उन्होंने सतत् आभार भावों में जीना सिखाया। उनके द्वारा रचित षट्काय आभार प्रार्थना एकात्मभाव में जीने की समग्र साधना पद्धति है। संक्षिप्त शैली में रचित आभार भाव प्रार्थना इस प्रकार है-

पृथ्वी को धन्यवाद, पानी को धन्यवाद
अग्नि को धन्यवाद, वायु को धन्यवाद
हरितक को धन्यवाद, त्रस प्राणी धन्यवाद
धन्यवाद-धन्यवाद-धन्यवाद-धन्यवाद।।

सब का सहयोग मिला, आनंद का भोग मिला
दिल में उजास खिला, सुंदर सा आज मिला
दानी उत्साह के, गुरूवर को धन्यवाद
धन्यवाद-धन्यवाद-धन्यवाद-धन्यवाद।।

प्यारे माता-पिता, प्यारी संतान हो
बढ़िया हमदम रहे, सभ्यों में शान हो
प्यारा पड़ौस हो, परिजन को धन्यवाद
धन्यवाद-धन्यवाद-धन्यवाद-धन्यवाद॥

सब में सद्भाव हो, प्रेमी स्वभाव हो
दिल में भाई सखा के, बढ़-बढ़ के प्यार हो
सबके कल्याण के, भावों को धन्यवाद
धन्यवाद-धन्यवाद-धन्यवाद-धन्यवाद॥

आभार भाव विनय भाव है। विनय ही समग्र समण धर्म का मूल है, नींव है। हम सब में यह सद्भाव आभार भाव जागे-यही मंगल भावना।

सूत्र-22

काल के उपकार

पिछले सूत्रों में हमने जाना कि धर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकाय, आकाशास्तिकाय व जीव किस भाँति पूरे लोक की व्यवस्था में सहायक है। धर्मास्तिकाय प्रत्येक पदार्थ को गति देकर, अधर्मास्तिकाय स्थिति देकर, आकाशास्तिकाय आधार बनकर स्थान देता है और जीवास्तिकाय परस्पर जीवन जीने में सहायक बनते हैं। अब वाचक उमास्वाति जी काल द्रव्य के उपकारों को बताते हुए लिखते हैं कि-

सूत्र- वर्तना परिणामः क्रिया परत्वापरत्वे च कालस्य ॥22॥

अर्थ- वर्तना, परिणाम, क्रिया और परत्व-अपरत्व-ये काल के उपकार हैं ॥22॥

विवेचन- वर्तना अर्थात् परिवर्तन, changes. इस दुनिया में प्रतिपल सब कुछ बदल रहा है। परिवर्तन इस जगती का अपरिवर्तनीय नियम है- Change is the essence of Time. इस सृष्टिगत समस्त परिवर्तनों के निमित्त रूप द्रव्य को 'काल' कहते हैं। उत्तराध्ययन सूत्र के अध्याय 28 में कहा गया है कि-'वत्तणा लक्खणो कालोः।' अर्थात् वर्तना काल का लक्षण है। काल वह द्रव्य है जो नए को पुराना करे व पुराने को नया। बीज को वृक्ष बना दे, वृक्ष को ठूंठ। बालक को युवा, युवा को वृद्ध, वृद्ध को मृत व मृत को नया जीवन जो मिलता है, वो सब कालानुसार है। इसी कारण कई दार्शनिकों ने 'काल' को सर्वश्रेष्ठ शक्ति कहा है और यह भी कहा है कि 'समय बड़ा बलवान है। समय से पहले और भाग्य से अधिक कुछ भी नहीं मिलता।'

'क्रूरः कालस्य गति।' काल क्रूर है क्योंकि यह किसी पर रहम नहीं करता। इसका पहिया दिन-रात अनवरत चलता रहता है। काल द्रव्य न हो तो जगत जैसा है वैसा ही रहे, सब कुछ यथावत् बने रहें, कहीं कोई नयापन ही न हो। किंतु ऐसा संभव ही नहीं है। धर्म-अधर्म व आकाश की भांति काल भी एक निरपेक्ष द्रव्य है। निरपेक्ष होते हुए भी प्रत्येक जीवादि पर इसके परिणमन भिन्न-भिन्न होते हैं। हर जीव के भावों के अनुरूप काल परिणमित होता है। इसी कारण से सूत्रकार अन्य सूत्र में काल को अनंत द्रव्य रूप बतलाते हैं। यह एक अखण्ड द्रव्य रूप होते हुए भी अनंत जीवों के प्रतिपल बदलते अनंत पर्यायों के लिए निमित्तभूत होने की वजह से अनंत द्रव्य रूप है। इसकी सत्ता जीव व पुद्गल-समस्त द्रव्यों पर लागू होती है। काल को समझने के भी अनेकों आयाम है। किंतु यहाँ हम 'काल-द्रव्य' से प्रकट होने वाले लक्षणों की ही चर्चा कर रहे हैं।

काल वह द्रव्य है जो वर्तन करता है अर्थात् स्वयं गति करता हुआ सबमें परिवर्तन लाता है। यही उसका परिणाम अर्थात् प्रभाव (Result, impact) है। काल का दूसरा उपकार क्रिया बताया गया है। काल क्रिया अर्थात् कार्य करने की शक्ति का निमित्त बनता है। यह शक्ति जीवादि में सहज रूप से मौजूद है ही किंतु काल निमित्त से

प्रकट हो पाती है। यह काल निमित्त रूप में सहायक बनता है और जीव तथा पुद्गलों में प्रयोग गति, विस्रसा गति व मिश्र गति प्रकट हो पाती है। कालानुसार ही इंसान के भाव क्रिया रूप में परिणत हो पाते हैं, इस अपेक्षा से भी काल को क्रियाओं का निमित्त कहा गया है।

काल द्रव्य का अन्य उपयोग परत्व और अपरत्व बताने में है। परत्व-अपरत्व अर्थात् पहले कौन-पीछे कौन ? जो पहले हैं, ज्येष्ठ हैं-वह परत्व तथा जो बाद में है, कनिष्ठ है-वह अपरत्व है। ये परत्व-अपरत्व सापेक्ष है, relative है। जैसे मोनिका, सपना व अमिता-ये तीनों बहनें हैं। मोनिका सपना व अमिता से बड़ी है। सपना मोनिका से छोटी व अमिता से बड़ी है। ये परत्व- अपरत्व के अनुसार किया गया वर्गीकरण जीवन के विविध क्षेत्रों को समझने में उपयोगी है। प्राचीन व्याख्याकार इसे तीन प्रकार से परिभाषित करते हैं-

1. प्रशंसाकृत 2. क्षेत्रकृत 3. कालकृत।

प्रशंसाकृत परत्व-अपरत्व-

इसकी व्याख्या करते हुए टीकाकार कहते हैं कि धर्म महान् है, अधर्म निकृष्ट है। ज्ञान महान है, अज्ञान निकृष्ट है। दान प्रशंसनीय है, कृपणता (कंजूसी) निंदनीय। इस प्रकार जितने भी सद्गुण हैं, वे सब 'पर' है तथा दुर्गुण 'अपर'।

क्षेत्रकृत परत्व-अपरत्व-

इसकी चर्चा में सभी क्षेत्रों की परस्पर सापेक्ष दूरी का कथन किया जाता है। जैसे कि दिल्ली से कानपुर नज़दीक है, कलकत्ता दूर है। कानपुर से दिल्ली नज़दीक है, मुंबई दूर है। इस प्रकार क्षेत्रगत सापेक्ष दूरियों का कथन हम सभी व्यवहार में प्रतिदिन करते रहते हैं। इसे क्षेत्रकृत परत्व-अपरत्व समझना चाहिए।

कालकृत परत्व-अपरत्व-

इसका भेद आयु के अनुसार समझना चाहिए। जैसे दादाजी पिताजी से बड़े हैं और चाचाजी पिताजी से छोटे हैं। व्यवहारिक ज़िंदगी में हम सभी इंसानों की उम्र के अनुसार उनसे व्यवहार करते हैं। जो बड़ी उम्र के लोग हैं, उनका विशेष आदर करते हैं। छोटों को प्यार, बड़ों को सम्मान परत्व-अपरत्व के कारण है। इस प्रकार काल द्रव्य संपूर्ण जीवन को प्रभावित कर रहा है। इसके प्रभाव व उपकार को जानकर हम अपने जीवन को कई आयामों से समझ सकते हैं। जैसे कि जब भी हमारा मन किसी प्रिय व्यक्ति, वस्तु या वातावरण के प्रति मोहित-मूर्च्छित होने लगे तो हम स्वयं से कहें कि ये सब कालानुसार परिवर्तन पाने वाले हैं, ये स्थिर सौंदर्य नहीं है, अंतिम सत्य काल के चक्र से मुक्त होने में है। पूज्य विराट गुरूजी की काव्यमय पंक्तियों में कहूँ तो-

खिलती सभी बहारें ,करती हमें ईशारे।
ये खुशियाँ नहीं अंतिम खुशियाँ, चरम-सत्य को पा रे...॥

काल द्रव्य के इन गुणों को व इसकी महत्ता को समझने वाला इंसान न तो परिग्रही बनेगा, न ही भयभीत। जब सब कुछ परिवर्तनशील है, लघु व ज्येष्ठ दोनों ही बदलते रहते हैं-कालकृत है, क्रियाएँ भी कालानुसार फलित होने वाली है तब भला हम क्यों उद्विग्न बनें। क्यों परेशान होवें। जिसने आकर चले ही जाना है, उस सुख में मदमाए क्यूँ व उस दुःख में घबराएँ क्यों ? हर चीज़ परिवर्तनशील है, इसे जान-समझकर जीने वाला कभी प्रमादी व आसक्त नहीं बनेगा।

सूत्र-23

पहचानें पुद्गल को...

किसी भी द्रव्य की पहचान उसके लक्षणों से होती है। वस्तु तत्त्व का यथार्थ ज्ञान पाने के लिए उसे अनेक आयामों से समझा जाना सदैव उपयोगी रहता है। दृश्यमान पौद्गलिक जगत का वास्तविक चित्रण करते हुए प्रस्तुत सूत्र कहता है कि-

सूत्र- स्पर्शरसगंधवर्णवंतः पुद्गलाः ॥23॥

अर्थ- पुद्गल स्पर्श रस गंध और वर्ण युक्त होते हैं ॥23॥

विवेचन- पुद्गल अजीव द्रव्यों के पाँच भेदों में से एक भेद है। यही मात्र वह तत्त्व है जिसे देखा, छुआ, सूँघा व चखा जा सकता है। इस दुनिया के जितने भी व्यवहार हैं, वे सब पुद्गल आश्रित ही हैं। प्रस्तुत सूत्र कहता है कि पुद्गल की पहचान इन रूपों में करो-

स्पर्श- यह आठ प्रकार का होता है-स्निग्ध, रूक्ष, शीत, उष्ण, कोमल, कठोर, हल्का, भारी। जिसे भी छुआ जाता है, वह पुद्गल गुण है। आत्मा तत्त्व अरूपी है, उसका स्पर्श रूप वेदन नहीं होता है। वह अनुभूति करती है किंतु स्वयं छुई नहीं जा सकती। 'पुद्गल ही पुद्गल का स्पर्श करता है', यह भी इस जगत का विचित्र सत्य है। आत्मा आत्मा का न तो स्पर्श करती है, न ही संबंध बनाती है। सारे संबंध सांयोगिक है, जो पुद्गल तत्त्व के मिश्रण से होते हैं। पुद्गल के स्पर्श लक्षण में सभी प्रकार के स्पर्श समाहित है, जिन्हें प्राचीन आचार्यों ने आठ प्रकार से परिभाषित किया है। इन आठ श्रेणियों में हर प्रकार के स्पर्श को समाहित किया जा सकता है। कुछ स्पर्श स्निग्ध यानि चिकने होते हैं, जो हमें सुखद प्रतीत होते हैं व कुछ रूक्ष अर्थात् लूखे होते हैं, खुरदरे होते हैं। चाहे वे हमें सुखद न भी प्रतीत हो किंतु स्पर्श मात्र स्पर्श है, सुखद और दुःखद तो हमारे मन की कल्पना मात्र है। इसी प्रकार सर्दी में ठण्ड का लगना पुद्गलों का शीत स्पर्श है व गर्मी में उष्णता का अहसास पुद्गलों का उष्ण स्पर्श है। कुछ वस्तुएँ बहुत कोमल होती है जैसे फूल, तो कुछ कठोर होती है जैसा लोहा, पत्थर आदि। ये भी पौद्गलिक स्वभाव ही है। वस्तुओं में पाया जाने वाला भारीपन व हल्कापन पौद्गलिक संरचना मात्र है, रूई हल्की है व लकड़ी भारी है क्योंकि उसकी पुद्गल संरचना उसी तरह की है।

इस तथ्य को समझ लिए जाने पर पुद्गलों में मौजूद विचित्रताएँ व जगत की विविधताएँ सब कुछ स्वतः समझ में आ जाती है। हमारे शरीर की संपूर्ण त्वचा स्पर्शनइंद्रिय रूप है।

रस- हमारे प्राचीन आचार्यों ने रस के पाँच भेद किए हैं-खट्टा, मीठा, कड़वा, कसैला और तीखा। यह जान लेने पर एक साधक हर प्रकार के रस से उपरत हो सकता है। रस की आसक्ति एक मोहक बंधन है। मीठा-मीठा खाने के लोभ में अनेकों लोग आत्मशक्ति गँवा बैठते हैं। रसलोलुपी लोग अक्सर लक्ष्य से विचलित एवं विमुख होते भी देखे गए हैं। पुद्गल के गुणों को जानकर उन पर आश्रित होने से स्वयं को रोकना इस सूत्र का सार-संदेश है।

पुद्गलों में पाया जाने वाला-'रस' गुण भी विविध प्रकार का होता है। खट्टा हो या मीठा, कड़वा हो या कसैला-एक ही तरह का नहीं होता है। इसमें भी विविध तरतमता है, कोई ज्यादा कड़वा है जैसे तुंबफल या गिलोय; कोई कम कड़वा है जैसे नीम या करेला। इसी प्रकार गुड़ मीठा है पर शक्कर उससे अधिक मीठी है, सैक्रीन उससे भी अधिक मीठी है। हर एक पदार्थ का अपना-अपना रस है, इसे घटाया-बढ़ाया भी जा सकता है। हरेक को रस की संवेदना भी भिन्न-भिन्न होती है। जो कड़वा रस है, वह सबको समान रूप से कड़वा प्रतीत नहीं होता है। किसी-किसी की रसनाइंद्रिय बहुत कड़वे को, बहुत तीखे को भी आसानी से चबा लेती है तो कोई ज़रा-से कड़वेपन में ही थू-थू करने लग जाता है। किसी-किसी को बेहद मीठा पसंद है तो किसी के लिए ज़रा सा मीठा भी बहुत ज्यादा होता है। इन सबके पीछे कारण है-हमारी जीभ पर बनी स्वाद कलिकाएँ और हमारे मन में बनी भोजन के रस से संबंधित धारणाएँ। पुद्गल रस के लिए मोहयुक्त चित्त प्रायः परेशानी का सबब बनता है, खुद के लिए भी व अन्यों के लिए भी। समण भगवान महावीर ने निवृत्ति के साधक को 'रस-परित्याग' करने को कहा है। उनका कहना है कि बाहरी पदार्थों में रसासक्त मन सदा अतृप्त व बेचैन रहता है। रसनाइंद्रिय के वशीभूत होकर यह मन कृत्य-अकृत्य का भान-भुला बैठता है। ज़रा-सा स्वाद अनुकूल न मिलने पर लोग क्रोधित होते, भड़कते हुए देखे जाते हैं। अतः रस-परित्याग करके अपने मन का संयम साधना ज़रूरी है। रसनाइंद्रिय एक मात्र ऐसी इंद्रिय है जो दो प्रकार के कार्यक्षेत्र रखती है-1. चखना 2. बोलना। इसीलिए इसका संयम सर्वाधिक महत्वपूर्ण है। शरीर में मुख इसका स्थान है, जहाँ 32 दाँत और दो होंठ इसे रक्षित करते हैं।

गंध- पुद्गल पदार्थों में पाया जाने वाला गंध (smell) नाम का गुण भी हमारे नासापुटों को बहुत प्रभावित करता है। अपनी-अपनी मनोज्ञता के आधार पर यह गंध भी अनेकों तरह की प्रतीत होती है, परंतु मोटामोटी इसे दो भागों में बाँटा गया है। जो हमें अनुकूल लगती है, उसे हम सुंगध या सुरभिगंध कहते हैं, तथा जो हमें प्रतिकूल या अमनोज्ञ होती है, उसे हम दुर्गंध या दुरभिगंध कहते हैं।

पदार्थ प्राकृतिक हो या कृत्रिम-'गंध' प्रत्येक पदार्थ का गुणधर्म है। सदियों से मानव जाति ने गंध को बदलने के विविध प्रयोग विकसित किए हैं। इत्र, फुलेल, सेंट आदि का प्रयोग प्राचीनकाल से होता आ रहा है। स्वाद के साथ-साथ गंध भी चित्त हरण का ही सशक्त साधन है। प्रायः अच्छी गंध के साथ अच्छे स्वाद का अनुमान भी लगा लिया जाता है। जब हलवे आदि पदार्थों की गंध वातावरण में कहीं उठती है तो कईयों की जीभ से रस टपकने लगता है। जहाँ कहीं दुर्गंध आती है, हम इंसान लोग अपना नाक-भौं सिकोड़ते हैं, वहाँ से दृष्टि घुमा लेते हैं, तुरंत हट जाने की इच्छा करते हैं। ऐसे में समण दर्शन कहता है कि हम अनुकूल व प्रतिकूल गंध के आभास के क्षणों में समता साधे।

'गंध' चित्त को प्रभावित अवश्य करती है। यदि वातावरण में प्रदूषण की अधिकता हो तो हमारा दम घुटने लगता है, हमारा तन बीमारी को पकड़ लेता है। इसके विपरीत गंध यदि अनुकूल हो, वातावरण स्वच्छ व नैसर्गिक हो तो हमारा चित्त भी प्रफ्फुल्लित व शांत रह पाता है। किंतु हमें गंध में गृद्ध व आसक्त नहीं होना है। हम

सावधान रहें, सुगंध के वशवर्ती बनकर अपना भान न भुला दें, न ही दुर्गंध के वशीभूत होकर अपना स्वास्थ्य व संतुलन बिगड़ने दें। समता की साधना करते हुए विविध गंधों में समकित ज्ञान को उपलब्ध बनना ही साधक का इष्ट है। जो लोग गंध के वशीभूत हो अपराध करते हैं, वे अपनी घ्राण शक्ति का दुरूपयोग करने के कारण इस क्षमता से वंचित भी कर दिए जाते हैं। आजकल गंध चिकित्सा Aroma Therapy भी बहुत प्रचलित है। कृत्रिम गंधों को उत्पन्न करने वाले विविध रसायनों के क्रय-विक्रय का बाज़ार भी बहुत तेज़ी से बढ़ रहा है। कई गंध प्रारम्भ में बहुत चित्ताकर्षक प्रतीत होती है, किन्तु स्वास्थ्य के लिए वे बड़ी हानिकारक सिद्ध हुई है। अतः गंध संबंधित रसायन के प्रयोगों में सावधानी बरतने की भी ज़रूरत है।

वर्ण गुण- पौद्गलिक पदार्थ सदा वर्णयुक्त होते हैं। ये काला, नीला, लाल, पीला, सफेद तथा इनके परस्पर मिश्रण से उत्पन्न अनेकों रंग वाले होते हैं। मूल पुद्गल का परमाणु रूप एक वर्ण, एक गंध, एक रस व दो स्पर्श सहित होता है। बाकी सारे भेद-प्रभेद परस्पर संयोगों की देन हैं। पुद्गलों में पाए जाने वाले वर्ण गुण के कारण ही ये हमारे चाक्षुष का विषय बनते हैं। नेत्र द्वारा देखे जा सकते हैं। वर्ण अर्थात् रंग तथा वर्ण अर्थात् अक्षर, आकृति, संस्थान भी पुद्गल का ही मौलिक गुण है।

ये स्पर्श, रस, गंध व वर्ण-मात्र पौद्गलिक पदार्थ की ही सत्ता की विशेषता है, अन्य किसी में ये गुण नहीं पाए जाते। पुद्गल की इस विशेषता को कई दार्शनिकों ने प्रकृति का नज़ारा कहा, किसी ने इन्हें 'माया' कहा, किसी ने 'स्त्री' कहा तो किसी ने 'ठगिनी' तक कह डाला।

सांख्य दर्शन पुद्गल को 'प्रकृति' कहता है। उसके अनुसार पुरूष अर्थात् आत्मा पुद्गल रूप प्रकृति के वशवर्ती होने के कारण ही सृष्टि रचना करता है, विविध क्रियाएँ करता है। अविद्या के कारण पुरूष मोहित होता है। यदि अविद्या अर्थात् मिथ्यात्व दूर कर दिया जाए तो आत्मा प्रकृति के बहुरंगी चित्रों से मोहमुक्त होकर 'निर्वाण' अर्थात् परम शांति को प्राप्त कर लेगा। दूसरे शब्दों में कहें तो वह अशरीरी अवस्था को प्राप्त होगा। It would be completely devoid of matter.

जैन दर्शन में पुद्गल के प्रमुखतया चार गुण-वर्ण, गंध, रस व स्पर्श तो बताए ही हैं। साथ ही कुछ अन्य गुणों का ज़िक्र भी किया गया है, जो पुद्गल मात्र से ही संबंधित है। सूत्रकार अगले सूत्र में उन गुणों का ज़िक्र करते हैं।

यहाँ एक प्रश्न पैदा होता है कि हमारी इंद्रियाँ तो पाँच है श्रोतइंद्रिय यावत् स्पर्शनेन्द्रिय किंतु पुद्गल के गुण चार ही बताए गए हैं तब श्रोतेन्द्रिय का विषय 'शब्द' वह इन चार गुणों में अलग से परिभाषित क्यों नहीं किया गया ? इसका कारण यह है कि जैन दर्शन में शब्द या ध्वनि (sound) को स्पर्श का अनुस्यूत पर्याय माना गया है। Sound is the modification of the sense of touch. It is just a vibration. ध्वनि एक तरंगमात्र है जो स्पर्शनेन्द्रिय द्वारा ग्रहण की जाती है। उदाहरण के लिए कह सकते हैं कि साँप के कान नहीं होते किंतु वह बीन की ध्वनि को अपनी त्वचा (Touch) द्वारा ग्रहण करके उसके अनुरूप प्रतिक्रिया किया करता है।

सूत्र-24

पुद्गल की विविध अवस्थाएँ

पुद्गल के असाधारण पर्यायों की चर्चा करते हुए तत्त्वार्थ सूत्र के रचयिता वाचक उमास्वाति जी ने सूत्र संख्या 23 में बताया कि पुद्गल स्पर्श-रस-गंध एवं वर्णयुक्त होते हैं। सूत्र संख्या 24 में सूत्रकार कहते हैं कि-

सूत्र- शब्दबंधसौक्ष्म्यस्थौल्यसंस्थानभेदतमश्छाया SSतपोद्योतवंतश्च ॥24॥

अर्थ- वे पुद्गल शब्द, बंध, सूक्ष्मत्व, स्थूलत्व, संस्थान, भेद, अंधकार, छाया, आतप और उद्योत वाले भी होते हैं ॥24॥

विवेचन- प्रस्तुत सूत्र कहता है कि न केवल वर्ण-गंध-रस व स्पर्श बल्कि शब्द, बंध, सूक्ष्मता, स्थूलता आदि भी पुद्गल के ही पर्याय (forms) हैं।

1. **शब्द पर्याय**- इस दुनिया में जो भी शब्द सुनाई पड़ते हैं, वे सभी Matter ही है। इन शब्दों के कंपनों को अर्थात् ध्वनि को हम तरंग वीथि के माध्यम से सुनते हैं। हम हर प्रकार के शब्द को नहीं सुन सकते हैं। हम मात्र उन्हीं तरंगों को ग्रहण कर सकते हैं, जो हमारी कानों की क्षमता के अनुरूप हो। आधुनिक विज्ञान का कहना है कि हम 20 डेसीबल से 20,000 डेसीबल तक की ध्वनियों को ही सुन सकते हैं। सुपर सोनिक ध्वनियों को हम नहीं सुन सकते। किंतु यह एक परम सत्य है कि इस दुनिया में जितने भी पदार्थ हैं, उनकी गति से गूँज पैदा होती है, ध्वनि उत्पन्न होती है। ये ध्वनि दो तरह की होती है-एक वैस्रसिक -इसे प्राकृतिक आवाज़ कहा जाता है, जैसे बादलों की गर्जना से उत्पन्न गूंज, हवाओं के दबाव से उत्पन्न शब्द, समुद्र की लहरों से उत्पन्न ध्वनियाँ। इन्हें आदमी प्रयोग से पैदा नहीं कर सकता, न ही इन पर नियंत्रण कर सकता है।

दूसरी वे ध्वनियाँ होती हैं जिन्हें इंसान अपने प्रयत्नों से, प्रयोगों से उत्पन्न करता है, वे प्रयोगज शब्द कहलाते हैं। प्राचीन काल में विकसित ध्वनि विज्ञान के अनुसार प्रयोगज अर्थात् प्रयत्न से पैदा हुई ध्वनि कंपन को छः भागों में विभाजित किया जाता है।

1. तत-ढोल, नगाड़े की ध्वनि और इसी तरह की अन्य ध्वनियाँ
2. वितत-वीणा, सितार, तंबूरा इत्यादि वाद्य यंत्रों से उत्पन्न संगीतमय ध्वनियाँ।
3. घन-घंटा आदि के बजने से उत्पन्न होने वाली भाषा, जो घनीभूत कंपन है।

4. शुषिर-बाँसुरी, शंख वगैरह के शब्द जो खाली पोल से टकराकर पैदा होते हैं, उनको 'शुषिर' कहा जाता रहा है।
5. संघर्ष- ध्वनियों की परस्पर टकराहट से उत्पन्न शब्द रूप भाषा।
6. भाषा-वाणी प्रयोग द्वारा, वचन बलप्राण के प्रयत्नों से उत्पन्न शब्दावली। ये भाषा व बोली कई तरह की होती है।

संक्षेप में कहा जाए तो मनुष्य के प्रयत्नों से उत्पन्न हर प्रकार की भाषा प्रयोगज है, चाहे वह उपकरणों के माध्यम से प्रगट हो, चाहे स्वयं के श्री मुख से। आज के युग में ध्वनि विज्ञान बहुत विकसित हो चुका है। प्रत्येक प्रकार की ध्वनि को विविध स्तरों व विविध डिग्री पर प्रयोग में लाकर अनेकों कार्य संपादित किए जा रहे हैं। यहाँ तक कि मानवी देह की चिकित्सा में भी Sound and Music Therapy का प्रयोग किया जा रहा है।

2. **बंध पर्याय**- पुद्गल की यह विशेषता है कि वह परमाणु रूप में भी रह सकता है व अनेकों परमाणुओं के संघात बनाकर (compound) इकट्ठे होकर स्कंध की व महास्कंध की रचना भी कर सकता है। इस संसार में मौजूद समस्त पदार्थ जुड़ते-टूटते रहते हैं। कभी बंध तो कभी भेद को प्राप्त होते रहते हैं। पुद्गलों में पाई जाने वाली इसी विशेषता को बंध पर्याय कहा जाता है। परमाणुओं का परस्पर संबंधित होकर विविध रूपों का, आकारों का प्रगट हो जाना कभी प्राकृतिक होता है, तो कभी प्रयत्नजन्य। इस अपेक्षा से बंध पर्याय भी दो मूल भेदों वाली है-
1. **वैस्रसिक** (Natural) 2. **प्रायोगिक** (Experimental)

बिजली गिरना, वर्षा होना, बादलों का रूप बदलते रहना, इंद्रधनुष आदि जहाँ वैस्रसिक बंध पर्याय है; वहीं मकान बनाना, वस्त्र बनाना, खाना बनाना आदि प्राणीकृत समस्त क्रियाएँ प्रायोगिक बंध पर्याय है। जीव का भाव ही पुद्गलों में विविध परिणमन का हेतु होता है। इस अपेक्षा से देखें तो जिसे हम प्राकृतिक बंध व परिणमन कहते हैं, वह भी हुआ तो जीवकृत ही। चाहे वह जीव पृथ्वी, पानी, अग्नि, वायु व वनस्पति देह में मौजूद एकेन्द्रिय वाला सूक्ष्म प्राणी हो अथवा विकलेन्द्रिय या पंचेन्द्रिय। पंचेन्द्रिय मानवकृत परिवर्तन दिखलाई पड़ जाते हैं, अतः समझ में आसानी से आ जाते हैं किंतु प्रत्येक प्रकार का पौद्गलिक परिवर्तन किसी-न-किसी जीवात्मा के भावों व अध्यवसायों से चार्ज होने पर ही होता है। मूल में तो भाव ही इस सृष्टि का कारण है। वही ब्रह्म है। बार-बार के प्रसारित भाव द्वारा जो System बन जाता है, फिर वह System काम करता है, जिसे पुराणों में 'विष्णु' कहा गया है। यह एक पौराणिक अंदाज़ है-सत्य को प्रगट करने का। हकीकत यही है कि जीव की इच्छा शक्ति में व्याप्त सृजन क्षमता ही जगत के संचालन का आधार है, जिसे कई लोग 'ईश्वर' कह कर पुकारते हैं।

3. **सूक्ष्म पर्याय**- पुद्गल की सूक्ष्म पर्याय से तात्पर्य है कि परमाणु रूप पुद्गल सदैव सूक्ष्म होता है। सूक्ष्म होने के कारण इसकी गति चौदह रज्जु लोक में सर्वत्र अबाधित होती है। यह बिना किसी बाधा के सर्वत्र गति कर सकता है। एक समय मात्र में एक पुद्गल परमाणु लोकांत से लोकांत तक (ऊपरी छोर से निचले छोर तक) गति करने की अद्भुत क्षमता रखता है। यह उसके सूक्ष्म होने के कारण ही संभव हो पाता है। अगर वह सदा 'स्थूल' (मोटा) ही होता, तो जगह-जगह पर वह बाधित ही होता रहता। उसकी सर्वत्र गति असंभव ही होती।

4. **स्थूल पर्याय**- पुद्गल में जहाँ सूक्ष्मत्व नाम की पर्याय है, वहीं स्थूल होने की क्षमता भी है। पुद्गल अनेकों वज़न व बड़े आकार वाले होते हैं। जैसे बेर से स्थूल आँवला, आँवले से स्थूल आम, आम से स्थूल नारियल-इस

प्रकार अंतहीन श्रृंखला। पुद्गल पदार्थ का यह स्थूलत्व नाम का पर्याय (form) हर एक वस्तु को दूसरी से पृथक् सत्ता दे पाता है। पृथक् नाम-रूप-रंग-विशेषता का आधार बन पाता है। अनंत परमाणुओं के संबंधों से उत्पन्न स्थूलत्व हर क्रिया को अंजाम दे पाता है। बड़ी-बड़ी अट्टालिकाएँ, मोटे पेट वाला हाथी, पहाड़, पर्वत शिलाएँ-ये सभी स्थूल पर्याय के उदाहरण है। हकीकत यह है कि जितने भी दृश्यमान पदार्थ है, वे सभी स्थूल होने के कारण ही दृश्यमान है अन्यथा सूक्ष्मत्व पर्याय तो पुद्गल को रूपी होते हुए भी चक्षु का विषय नहीं बनने देती। पुद्गल की स्थूलता का चरम (ultimate) रूप है-संपूर्ण लोकव्यापी महास्कंध, जिसका उल्लेख जैन सूत्रों में मिलता है। किंतु आधुनिक विज्ञान अभी इसे अपनी जानकारी का विषय नहीं बना पाया है।

5. **संस्थान पर्याय**- संस्थान अर्थात् आकृति (form/diagram) प्रत्येक पदार्थ किसी-न-किसी तरह की आकृति धारण किए है, इसे ही संस्थान पर्याय कहा जाता है। इसके अनंत भेद हैं, फिर भी इन्हें दो शब्दों में समझा जा सकता है-

1. इत्थंलक्षण संस्थान 2. अनित्थंलक्षण संस्थान।

गोल, त्रिकोण, चतुष्कोण, षट्कोण आदि आकारों को इत्थंलक्षण संस्थान कहा जाता है क्योंकि जैसा नाम दिया गया है, वैसी ही उनकी आकृति है। जैसे तीन भुजाओं वाला होने से त्रिभुज इत्यादि।

जिस आकार को यथारूप कह पाना संभव न हो, वह अनित्थंलक्षण संस्थान है, जैसे बादलों की आकृतियाँ या पानी की लहरें। इनका कोई particular नाम-रूप नहीं हो सकता, इसलिए ये सभी अनित्थंलक्षण संस्थान है।

ऐसे ही प्राणियों के शरीरों की आकृतियाँ आत्मकृत संस्थान है व निर्जीव पदार्थों की आकृतियाँ अनात्मकृत संस्थान कहलाती है। समचतुरस्र, न्यग्रोध परिमंडल, सादि, वामन, कुब्जक, हुण्डक आदि आत्मकृत संस्थान है तथा त्रिकोण, गोल, शंकु आदि असंख्य अनात्मकृत संस्थान है।

6. **भेद पर्याय**- पुद्गल स्कंधों का अनेक प्रकार से विभाजन होने की विलक्षणता वाला होना 'भेद पर्याय' कहलाता है। पुद्गल का स्कंध अनेकों तरीकों से विभाजित हो सकता है। प्राचीन आचार्यों ने पुद्गल स्कंध के निम्न प्रकार के भेद बतलाए हैं-

1. औत्करिक-आरे से लकड़ी को चीरने पर जो बुरादा निकलता है, वह उत्कर है। इस प्रकार से जितने भी पदार्थ चीरकर टुकड़े-टुकड़े किए जाते हैं, वे औत्करिक भेद रूप कहलाते हैं।
2. चौर्णिक-चौर्णिक अर्थात् चूर्ण हो जाना। गेंहू आदि को पीसने से जो आटा बनता है, चौर्णिक रूप भेद है।
3. खण्ड-टुकड़े-टुकड़े होना खण्ड भेद कहलाता है। जैसे घड़ा फूटे और ठीकरी के टुकड़े-टुकड़े हो जाए।
4. प्रतर- परतें निकालना जैसे सब्जी को साफ करते हुए ऊपर से परत छीलना या अभ्रक आदि खनिज धातुओं की परतें निकालना, प्रतर रूप भेद है।
5. अणुचटन- लोहे को गर्म करके पीटने पर जो फुलिंगे निकलते हैं, उन्हें अणुचटन कहते हैं अथवा जिस किसी पदार्थ के टुकड़े होते समय चट्-चट् की ध्वनि होती है, वह अणुचटन भेद हैं।

आधुनिक मशीनरी युग में भेद के अनेकानेक रूप विकसित हो चुके हैं। हर एक पदार्थ को मशीनरी से नए-नए तरह से बाँटा-जोड़ा जा रहा है। आज के युग में पुरानी तरह से व्याख्यायित भेदों के सिवाय भी भेद पर्याय

को अनेक तरीकों से समझा जाना चाहिए। लेज़र मशीन का इस्तेमाल बिना बाहरी चीरफाड़ किए भीतरी भागों में मौजूद बिमारियों को दूर करने में सक्षम हो चुका है।

7. **तम पर्याय**-तम अर्थात् अंधकार (Darkness)। जैन दर्शन कहता है कि अंधेरा भी पुद्गल की ही एक पर्याय (form) है। पुद्गल के वर्ण-गंध-रस-स्पर्श बदलते रहते हैं। कभी पुद्गल काले रंग के परिणत हो जाए तो अंधेरे की रचना कर देते हैं। वे ही जब सूर्य, बल्ब या ट्यूब द्वारा प्रकाशित कर दिए जाए तो उजाले की अवस्था में परिणत हो जाते हैं। पुद्गल पदार्थ अन्य पुद्गल पदार्थों से चार्ज किए जाने पर विविध रंग-रूप धारण करने की क्षमता वाले होते हैं। जैन दर्शन कहता है कि अंधेरा उजाले का अभाव मात्र नहीं है वरन् पुद्गल का एक पर्याय रूप है तथा उजाला भी एक भिन्न तरह का पुद्गल पर्याय है।

8. **छाया पर्याय**- किसी भी वस्तु में अन्य वस्तु की आकृति अंकित हो जाना 'छाया' है। यह दो प्रकार की है-
1. प्रकाश आवरण रूप 2. प्रतिबिंब रूप।

धूप में खड़े होने या चलने से जो छाया बनती है, वह प्रकाश आवरण रूप छाया है व दर्पण या पानी जैसे किसी पदार्थ से प्रतिबिंब का बनना प्रतिबिंब रूप छाया है। 'छाया' भी पुद्गल का ही एक रूप है, पर्याय है। छाया कुछ भी नहीं है, ऐसा नहीं है। छाया का भी अस्तित्व है।

9. **आतप पर्याय**- सूर्य के प्रकाश को आतप कहते हैं। इसे तावरा या धूप भी कहते हैं। यह भी पुद्गल का एक रूप मात्र है, कोई दैवीय या चमत्कारिक रचना नहीं।

10. **उद्योत पर्याय**- चंद्रमा, चंद्रकांतमणि, दीपक आदि के प्रकाश को, जो शीतल रूप हो, वह पुद्गल की ही उद्योत नाम की पर्याय है।

एक मात्र रूपी अजीव द्रव्य पुद्गलास्तिकाय में कितनी तरह की विलक्षण योग्यताएँ मौजूद है। यह दो विपरीत ध्रुवों में समान रूप से परिणत होने की क्षमता रखता है। यह सूक्ष्मतम परमाणु रूप भी बन जाता है व महास्कंध की रचना भी कर लेता है। यह विविध शब्द, रूप, गंध, रस व विपरीत स्पर्शों में समान रूप से स्वयं को परिणत कर पाता है। पुद्गल की इसी विलक्षण क्षमता के कारण इसे कई दार्शनिकों ने 'माया' कह कर संबोधित किया है। शैव दर्शन व वेदांत इसे 'माया' कहता है। सांख्य दर्शन ने इसे 'प्रकृति' कहा है। ऐसी प्रकृति, जो अपने विविध हाव-भाव, रंग-रूप से पुरूष-आत्मा को अपने आकर्षण पाश में उलझाए रखती है। पुरूष आत्मा को इसके चित्र-विचित्र रूपों की हकीकत को जानकर इसके मायापाश से मुक्त हो जाना ज़रूरी है अन्यथा वह जिसे पकड़ना चाहेगा, वह धूप-छाँव का खेल है, जो कभी पकड़ में नहीं आएगा।

जैन दर्शन स्पष्ट उद्घोष करता है कि पुद्गल अपने मौलिक अणु रूप में सदैव शाश्वत है, शेष सभी रचनाएँ सांयोगिक है, वैभाविक है, अतः उन्हें सत्य मत जानो। इसी तथ्य को वाचक उमास्वाति अध्ययन 5 के अगले सूत्र में प्रगट करते हैं।

सूत्र-25-28

अणु-स्कंध

अजीव तत्त्वों में सर्वाधिक विवेचनीय विषय है-पुद्गल द्रव्य। पुद्गल ही एकमात्र ऐसा द्रव्य है, जो जीव के भावों से आवेशित होकर इस सृष्टि में मौजूद समस्त प्रकार के आकारों को धारण करता है, क्रियाएँ करता है, संयोग-वियोग करता है, यह पुद्गल द्रव्य कितने रूपों में परिणत हो सकता है, इसको हमने पिछले दो सूत्रों में जाना। इस सूत्र में सूत्रकार यह बतला रहे हैं कि मूलतः पुद्गल दो रूप वाला है-

सूत्र- अणवः स्कन्धाश्च ॥25॥

अर्थ- पुद्गल परमाणु और स्कंध रूप है ॥25॥

विवेचन- यूँ तो पुद्गल अनंत है। उनमें अनंत तरह के पर्याय हैं किंतु मुख्य रूप से वह दो भेद वाला है-

1. **अणुरूप पुद्गल**- यह परमाणु पुद्गल-पुद्गल द्रव्य का मूल रूप है। यह अप्रदेशी है, अविभाज्य (indivisible) है। यह नित्य शाश्वत है। किसी एक रस, एक गंध, एक वर्ण और दो स्पर्श से युक्त रहता है। यह परमाणु इन्द्रियों द्वारा नहीं देखा-जाना जाता। इसका ज्ञान आगम से या अनुमान से ही होता है। आगम प्रमाण से परमाणु को जाना जा सकता है। ठाणांग सूत्र के छठे ठाणे में सूत्र संख्या-5 में कहा गया है कि छः चीजें असंभव है। सभी जीवों में 6 कार्य करने की न ऋद्धि है, न द्युति है, न यश है, न बल है, न वीर्य है, न पुरस्कार है और न पराक्रम है-जैसे जीव को अजीव करना, अजीव को जीव करना, एक समय में दो भाषा बोलना, स्वयं कृत कर्म को वेदन करना या नहीं वेदन करना, पुद्गल परमाणु का छेदन या भेदन करना या अग्निकाय से जलाना, लोकान्त से बाहर जाना।

इस सूत्र से स्पष्ट होता है कि परमाणु का छेदन-भेदन संभव नहीं है, वह इन्द्रिय ग्राह्य भी नहीं है। ठाणांग सूत्र के छठे ठाणे के पाँचवें सूत्र में और भी स्पष्टता से कहा गया है कि छद्मस्थ पुरूष छः स्थानों को संपूर्ण रूप से न जानता है, न देखता है, जैसे-धर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकाय, आकाशास्तिकाय, शरीर रहित जीव, पुद्गल परमाणु और शब्द। किन्तु जिनको विशिष्ट ज्ञान-दर्शन उत्पन्न हुआ है, ऐसे अर्हन्त्, जिन, केवली इन्हें संपूर्ण रूप से जानते हैं तथा देखते हैं। इस प्रकार स्पष्ट है कि पुद्गल परमाणु केवली द्वारा देखा-जाना जा सकता है। यह तो हुई आगम प्रमाण की बात, अब अनुमान प्रमाण की अपेक्षा भी परमाणु को समझा जा सकता है। अनुमान इस तरह से लगाया जाता है कि जो-जो भी आकृतियाँ या कार्य-क्रियाएँ दृष्टिगोचर होती है, वे सब किसी-न-किसी कारण से ही होती है। इन समस्त दृश्यों का अंतिम कारण क्या है ? God Particle क्या है ? वह God Particle परमाणु है, जो स्वयं दिखलाई नहीं पड़ता किंतु उसके होने से ही सारे आकार, सारी घटनाएँ संभव है। परमाणु का कोई

कारण नहीं है, कोई आदि, मध्य और अंत नहीं है। यह द्रव्य असमुदाय रूप है। द्वैत नहीं है, अद्वैत है। इसी परमाणु से समस्त दृश्य जगत की रचना होती है, किंतु तब वह अणुरूप रहकर नहीं वरन् दो प्रदेशी से लेकर संख्यात, असंख्यात व अनंत प्रदेशी रूप स्कंध रचना द्वारा सारे कार्य करता है। परमाणु की यह अन्यतम विशेषता है कि इसका कभी छेदन-भेदन नहीं हो सकता।

2. **स्कंध रूप पुद्गल**- संख्यात, असंख्यात व अनंत परमाणु जब आपस में जुड़कर रचना बनाते हैं तो यह रचना 'स्कंध' कहलाती है। स्कंध समुदाय रूप (Collection of Atoms) होते हैं। ये परमाणुओं के विविध व विचित्र संयोगों से विविध आकार वाले होते हैं।

जहाँ परमाणु अप्रदेशी है, अविभाज्य है; वहीं स्कंध सप्रदेशी है, सविभाज्य है। 'परमाणु' समस्त दृश्य रचना का अंतिम कारण है जबकि स्कंध कारण द्रव्य की अपेक्षा से कार्य द्रव्य रूप है तथा कार्य द्रव्य की अपेक्षा से कारण द्रव्य रूप है। जैसे द्विप्रदेशी स्कंध परमाणु की अपेक्षा से कार्य है किंतु त्रि-चतु-पंच या दश प्रदेशी यावत् अनंत प्रदेशी, स्कंध के लिए कारण रूप है। सापेक्षता का सिद्धांत ही यहाँ लागू होता है।

ये पुद्गल द्रव्य, अणु व स्कंध रूप वाला कैसे व क्यों बनता है, इसकी गहन व सूक्ष्मतम व्याख्या को संक्षिप्त सूत्र में निबद्ध करते हुए वाचक उमास्वाति कहते हैं कि स्कंध और अणु की उत्पत्ति में प्रमुख रूप से दो प्रक्रियाएँ काम करती है। एक संघटन व दूसरा विघटन। संघटन और विघटन की प्रक्रिया से ही दृश्यमान पौद्गलिक जगत की संरचना संभव हुई है। सूत्र इस प्रकार है-

सूत्र- संघातभेदेभ्य उत्पद्यन्ते॥26॥
भेदादणुः ॥27॥

अर्थ- संघात से, भेद से और संघात-भेद दोनों से स्कंध उत्पन्न होते हैं ॥26॥
अणु भेद से ही उत्पन्न होता है ॥27॥

विवेचन- यह हम पूर्व में जान चुके हैं कि पुद्गल के प्रमुख रूप से दो भेद हैं-
1. अणु और 2. स्कंध।

'अणु' (Atom) पुद्गल का अंतिम अविभाज्य अंश है, इसका कोई भेद-प्रभेद संभव ही नहीं है। इसी कारण सूत्र संख्या-27 में कहा गया है कि अणु भेद से ही उत्पन्न होता है अर्थात् स्कंधों के विघटन से ही अणु का प्रगटीकरण संभव है। उसे किसी प्रकार के संयोजन से नहीं पाया जा सकता परंतु वह अन्य अनेकों अणुओं का संघात होने पर स्कंध रचना कर पाता है।

स्कंध द्रव्य की उत्पत्ति संघात व भेद दोनों तरह से होती है। जब कभी अलग-अलग स्थित दो परमाणुओं के मिलने पर द्विप्रदेशिक स्कंध बनता है तब वह संघातजन्य स्कंध कहलाता है।

इसी प्रकार तीन, चार, संख्यात, असंख्यात और अनंत परमाणुओं के मिलने से क्रमशः त्रिप्रदेशी स्कंध, चतुष्प्रदेशी स्कंध, संख्यात प्रदेशी, असंख्यात प्रदेशी और अनंत प्रदेशी स्कंधों की सर्जना होती जाती है। परस्पर

परमाणुओं के संयोग संबंधों से सृजित संरचना 'संघात प्रक्रिया' से उत्पन्न स्कंध कहलाती है। इसके विपरीत किसी बड़े स्कंध के टूटने से जो छोटे-छोटे स्कंध होते हैं, वे भेदात्मक स्कंध संरचना कहलाती है। ऐसे स्कंध जो बड़े स्कंधों के टूटने से बने जैसे शिला के टुकड़े किए जाने पर छोटे-छोटे पत्थर व कंकड़, ये भी दो प्रदेश से लेकर अनंत प्रदेशात्मक संभव है। इस प्रकार कुछ स्कंध संघात प्रक्रिया से तो कुछ स्कंध दोनों प्रक्रियाओं के परिणामस्वरूप निष्पन्न होते हैं। जैसे पुराने घर को तोड़कर उसकी जगह पर नया घर बनना, घर में Renovation करवाना इत्यादि।

नियम से संपूर्ण सृष्टि में तीनों प्रक्रियाएँ सतत् चालू रहती है। मिलना, बिछुड़ना, मिलकर बिछुड़ जाना व बिछुड़कर पुनः-पुनः मिल जाना इस सृष्टि का शाश्वत क्रम है। यहाँ कुछ भी पूर्णतः स्थिर नहीं है। परिवर्तन की शाश्वत धारा में पुद्गल मात्र निरंतर विविध वीथियों से गुज़रता चला जाता है। कभी समानधर्मी पुद्गलों से आकर्षित होकर संबंध बनाता है तो कभी विकर्षित होकर टूट जाता है। दूर हट जाता है। इस सृष्टि में ये समस्त प्रक्रियाएँ स्वतः होती रहती है। इन्हें करने की ज़रूरत नहीं है। फिर भी प्राणियों के भाव निरंतर कर्तृत्व भावयुक्त ही रहते हैं और वे प्रयत्न करके परिवर्तन लाने में तत्पर भी बने रहते हैं।

प्रस्तुत सूत्र आध्यात्मिक साधकों को संदेश देता है कि मिलन-जुदाई के पौद्गालिक क्रम में कहीं भी, कभी भी आवेशित, प्रतिवेशित व समावेशित मत बनो। समस्त परिवर्तनों के साक्षी मात्र रहो ताकि परिवर्तनशील जगत के मध्य में मौजूद अपरिवर्तनीय आत्मा को अनुभव कर सको।

पुद्गल विज्ञान को अनेक आयामों से स्पष्ट करता हुआ अगला सूत्र कहता है कि-

सूत्र- भेदसंघाताभ्यां चाक्षुषाः ॥28॥

अर्थ- भेद और संघात से ही चाक्षुष स्कंध बनते हैं ॥28॥

विवेचन- स्कंध के चाक्षुष होने से तात्पर्य यह है कि चक्षुइंद्रिय द्वारा देखने योग्य होना। पुद्गल-विज्ञान कहता है कि अनंतानंत अणुओं से बने हुए स्कंध भी चक्षु द्वारा देखे जाने योग्य हो, ऐसा ज़रूरी नहीं है। पुद्गल के परिणाम विचित्र व विविध है। कई पुद्गल स्कंध बहुत सूक्ष्म है तो कई स्थूल। जो सूक्ष्मत्व पर्याय वाले हैं, वे दृष्टिगोचर नहीं हो सकते हैं किंतु वे ही पुद्गल कभी भेद से तो कभी संघात से बादर पर्याय प्राप्त कर दृष्टि का विषय भी बन सकते हैं। जैसे हाइड्रोजन के दो अणु आक्सीजन के अणु के साथ मिलकर पानी का अणु बनाते हैं। संभव है कि इस प्रक्रिया में हाइड्रोजन व आक्सीजन के अणु दृष्टिगोचर न हो, किंतु पानी बन जाने पर वे दृष्टिगोचर हो जाते हैं।

न केवल संख्यात, असंख्यात व अनंत परमाणुओं से बने स्कंध अचाक्षुष हो सकते हैं बल्कि कई बार महास्कंध भी सूक्ष्म होते हैं, दिखलाई नहीं पड़ते। ऐसे में यह जिज्ञासा उत्पन्न होती है कि वे कैसे दिखलाई पड़ सकते हैं ? तो प्रस्तुत सूत्र कहता है कि भेद व संघात-प्रक्रिया ही अचाक्षुष पुद्गल स्कंध को चाक्षुष बनाने में निमित्त बनती है। केवल संघात से ही नहीं व केवल भेद से ही नहीं वरन् दोनों ही प्रक्रियाओं से पुद्गल दिखलाई पड़ने योग्य बन पाते हैं। भेद और संघात की प्रक्रिया से कई पुद्गल स्कंध सूक्ष्म से बादर हो जाते हैं तो कई बादर से सूक्ष्म भी हो सकते हैं। जैसे नमक व चीनी को पानी में मिला दो तो वे गल कर अचाक्षुष हो जाते हैं। यद्यपि स्वाद इंद्रिय द्वारा ग्रहणीय रहते हैं।

सूत्र-29
त्रिपदी सत्य

यह संपूर्ण जगत सत् रूप है। अस्तित्ववान है। इस मौजूदगी को, सत्ता को अलग-अलग दार्शनिकों ने अलग-अलग रूपों में समझा एवं अपनी समझ को अभिव्यक्त भी किया। कुछ दार्शनिकों ने सत् को अर्थात् अस्तित्व को केवल ब्रह्म रूप माना, सदा विस्तृत होता हुआ माना तो कुछ ने सदा स्थिर माना। कुछ दार्शनिकों ने सदा नित्य माना, तो कुछ ने सदा अनित्य।

वेदांत दर्शन सत् को केवल ध्रौव्य-नित्य कहता है। बौद्ध दर्शन सत् को मात्र क्षणिक मानता है, उत्पाद-व्यय सहित अनित्य मानता है। सांख्य दर्शन चेतन को मात्र नित्य, कूटस्थ नित्य और प्रकृति तत्त्व रूप सत् को नित्यानित्य मानता है परंतु आर्हत् दर्शन सभी सत्तावान पदार्थों को चाहे वे जड़ हो या चेतन, मूर्त्त हो या अमूर्त्त सबको एक ही समय में उत्पाद, व्यय व ध्रौव्य युक्त कहता है।

वाचक उमास्वाति इसी तथ्य को सूत्र शैली में इस प्रकार कहते हैं कि-

सूत्र- उत्पादव्ययध्रौव्ययुक्तं सत्॥29॥

अर्थ- जो उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य से युक्त है, वही 'सत्' है॥29॥

विवेचन- आर्हत् दर्शन वीतरागियों का दर्शन है। जिन्होंने स्वयं को संपूर्ण रूप से जाना है, उन्होंने जगत को भी पूर्ण रूप से जाना। आत्मा में ही सारा लोक समाया है। आत्मज्ञान से ही संपूर्ण ब्रह्माण्ड का ज्ञान संभव है। चराचर जगत का ज्ञान संभव है। वीतराग केवली भगवंतों ने पूर्ण ज्ञान होने पर वस्तु तत्त्व का जो वास्तविक स्वरूप प्रगट किया, उसी का उल्लेख परवर्ती आचार्यों ने सूत्रात्मक शैली से किया और इस प्रकार तत्त्वार्थ सूत्र की रचना हुई। तत्त्वार्थ सूत्र के सभी सूत्र अपने आप में विशिष्ट है, अन्यतम है। फिर भी यह प्रस्तुत सूत्र अपना विशिष्ट गौरव रखता है क्योंकि संपूर्ण दार्शनिक जगत इस मुद्दे पर लंबे काल से मत वैभिन्य रखता है और विवाद भी करता आया है। कई दार्शनिक सत् को अर्थात् जगत के अस्तित्व को, चेतन व जड़ को शाश्वत मानते हैं, तो कई उत्पन्न, विनाशयुक्त अशाश्वत। जैन दर्शन कहता है कि प्रत्येक सत् द्रव्य दो रूपों वाला है-एक है शाश्वत रूप, दूसरा परिवर्तनशील रूप। द्रव्य रूप से, सत्ता रूप से, यह जगत और इसमें मौजूद समस्त पदार्थ सत् है, सत्तावान है, सदा हैं, सदा थे, सदा रहेंगे किंतु पर्याय (forms) रूप में सदा उत्पन्न विनाश को भी पाते रहेंगे। अन्यथा जगत की गति संभव ही नहीं हो सकेगी। समस्त गतियाँ, समस्त परिवर्तन परिवर्तनशील पर्यायों के निमित्त है तथा समस्त पर्यायों का आधार वस्तुत्व अपने स्वरूप में सदा ध्रौव्य है। अर्हा परमात्मा ने अपने अस्तित्व को अनादि-अनंत जाना इसीलिए वे कह सके कि आत्मा सत् है किंतु उन्होंने अपने भीतर प्रतिपल घट रहे समस्त परिवर्तनों को भी जाना-समझा, वे उसके

साक्षी हुए इसीलिए वे कह सके कि सब कुछ बदलता भी है। और इसी सत् को देखने वाली दृष्टि को उन्होंने समकित कहा। जो उत्पत्ति, विनाश व ध्रौव्य इन तीनों को देख सके, वही सत् का दृष्टा सम्यक्त्वी पुरूष है। वह पर्यायों में कभी उलझेगा नहीं।

आर्हत दर्शन में 'सत्' का यह प्ररूपण इतना विलक्षण है कि सभी एकान्तिकों को आश्रय देता है, किसी को भी नकारे बिना सबको स्वीकारता है क्योंकि यह सर्वज्ञ का कथन है। यही कारण है कि श्रीमद् आनंदघन जी वीतराग दर्शन की स्तुति करते हुए कह पाए कि-

सागर में सगली तटिनी छे, तटिनी में सागर भजना छे।
जिनवर में सगला दर्शन छे, दर्शन में जिनवर भजना छे।।

अर्थात् सागर में सभी नदियों का समावेश हो जाता है किंतु नदियों में सागर पूरा नहीं आ सकता। इसी प्रकार जिन दर्शन में संपूर्ण दार्शनिकों की समाहिति है किंतु उन दार्शनिकों के कथनों में संपूर्ण दर्शन नहीं।

यहाँ यह प्रश्न पैदा हो सकता है कि आर्हत् दर्शन के सिवाय अन्य दर्शन वस्तु के पूर्ण वास्तविक स्वरूप को क्यों नहीं जान पाए ? उनके ज्ञान में ऐसी क्या बाधा रही ? तो कहना होगा कि अनेकों दार्शनिकों ने प्राचीन युग में भी और आज भी सत्य की पूर्ण अनुभूति के बिना आंशिक यात्रा तय करके ही अभिव्यक्तियाँ दे डाली होगी, इसी कारण से वे जिस स्टेप पर खड़े होकर देख पाए थे, वे उतनी ही बात कह पाए किंतु आर्हत दर्शन ने संपूर्ण को जानकर फिर कहा है, इसीलिए वे संपूर्ण जगत को त्रिरूपा कह पाए। आधुनिक विज्ञान भी सत् की इसी परिभाषा को लेकर काम कर रहा है। भौतिक विज्ञान का विषय चूँकि पुद्गल-पदार्थ रहा है, वह आत्म तत्त्व को नहीं जानता इसलिए उसकी सारी खोज पदार्थ तक की है। पदार्थ की सूक्ष्मतम इकाई परमाणु तक की है। भौतिक विज्ञानी का स्पष्ट उद्घोष है कि-

Energy can neither be created nor destroyed.
It can just be transformed from one form to another.

ऊर्जा न उत्पन्न होती है, न ही नष्ट होती है। यह केवल रूप बदलती है। सत् कभी असत् नहीं होता व असत् कभी सत् नहीं होता-यही इस सूत्र का सार कथन है। प्राचीन आचार्यों ने इस सूत्र को दृष्टांत से समझाया है, जो इस प्रकार है।

किसी समय तीन मित्र सुनार की दुकान पर स्वर्ण खरीदने की इच्छा से जाते हैं। एक मित्र सोने का मुकुट खरीदना चाहता है, दूसरा सोने का हार व तीसरा सोना मात्र। जब तीनों मित्र सुवर्णकार की दुकान पर पहुँचते हैं तो देखते हैं कि सुनार सोने का मुकुट गलाकर, तोड़ कर उसका हार बना रहा है। जो मुकुट खरीदने के भाव से गया था, वह इस दृश्य को देखकर दुःखी हुआ, शोकग्रस्त हुआ क्योंकि अभी-अभी मुकुट का रूप परिवर्तित हो चुका है। जिस मित्र को हार खरीदना था वह प्रसन्न हुआ क्योंकि हार बनने वाला था किंतु जिसे सोना ही खरीदना था, वह न तो दुःखी हुआ, न प्रसन्न। वह दोनों अवस्थाओं को देखकर मध्यस्थ भाव में रहा। इस प्रकार इन तीनों ही व्यक्तियों का दृष्टांत देकर यहाँ यह समझाया गया कि जो उत्पन्न होती अवस्था को देखता है, वह प्रसन्न होता है। जो विनाश को देखता है, वह खेदित किंतु जो सत् मात्र को देखता है, वह मध्यस्थ भाव में रह पाता है। एक ही क्षण में तीनों घटनाएँ घट रही है। न केवल यह सोने के मुकुट व हार को लेकर है वरन् हर एक पदार्थ की यही तीन

अवस्थाएँ सतत् गतिमान है। यह समस्त जगत अनेकांत धर्मा है। पर्याएँ सदा परिवर्तनशील है। उत्पत्ति विनाशमय है किंतु वस्तु अपने स्वभाव में सदा ध्रुव है, शाश्वत है-यही सत् का त्रिगुणात्मक रूप है। इसे जिसने अनुभव से जाना, वह सत्यदृष्टा मनीषी है। आगम सूत्रों में त्रिपदी का उल्लेख मिलता है, जो इस प्रकार है-

'उप्पन्नेई वा, विगमेइ वा, धुवेइ वा'

प्रस्तुत सूत्र इन्हीं तीनों को समवेत सत्स्वरूप कहता है।

सूत्र-30

नित्य स्वरूप

वस्तु स्वरूप को समझने से ही जीवन की सभी समस्याओं का समाधान संभव है। जब तक हम किसी भी वस्तु के वास्तविक स्वरूप से अनजान हैं, तब तक ही अनेकों विकल्प मस्तिष्क में उपजते हैं, अनेकों अपेक्षाएँ पलती है। जहाँ अनेकों अपेक्षाएँ पलती है, वहीं अनेकों अपेक्षाएँ खण्डित भी होती है और परिणाम में सुख-दुःख की भ्रमणा भी पैदा होती रहती है।

हम सभी के जीवन में जितना भी सुख-दुःख का कलन (calculation) है, वह अज्ञान के कारण ही है। ज्ञानी को न सुख है, न दुःख है। वह स्वरूप का ज्ञाता हुआ, उसने यह जान लिया कि सत् (existence) न कभी पूर्णतः समाप्त होता है, न ही कभी एक जैसा स्थिर रहता है। सत् में ध्रौव्यता है, शाश्वतता है परंतु साथ ही साथ रूप परिवर्तनशीलता भी बनी हुई ही रहने वाली है। हर एक को बदलना भी है व रहना भी है, ऐसे में भला किसी भी रूप से बंधने का भ्रम क्यों पैदा करना ?

वस्तु स्वरूप का स्वभाव ही यही है और परिवर्तन-अपरिवर्तन रूप यह स्वभाव ही 'नित्यता' है। कहने का तात्पर्य यह हुआ कि उत्पत्ति, ध्रौव्य और विनाश रूप अस्तित्व का स्वभाव नित्य है, constant है। ऐसा कभी नहीं था कि इन तीनों में से कोई भी भेद कभी हो और कभी न हो। न ही ऐसा कभी हो सकता है। ये तीनों वस्तु में सदा स्वाभाविक रूप से रहेंगे ही।

इसी तथ्य को प्रगट करता है वाचक उमास्वाति रचित प्रस्तुत सूत्र-

सूत्र- तद्भावाव्ययं नित्यम् ॥30॥

अर्थ- तद्भाव (अपनी जाति रूप भाव में) जो अव्यय है अर्थात् नष्ट नहीं होता, वह नित्य कहलाता है ॥30॥

विवेचन- नित्य का तात्पर्य यह नहीं है कि जो वस्तु जिस रूप में है, वह सदा उसी रूप में बनी रहे और उसमें कुछ भी परिणमन अर्थात् परिवर्तन न हो। परिवर्तन के होते हुए भी ऐसी एकरूपता का बना रहना ही नित्यता है, जिसे देखकर हम तुरंत पहचान लें कि यह वही वस्तु है जिसे पहले देखा था। अगर किसी भी वस्तु में नित्यत्व गुण न हो, तब तो वह कभी भी प्रत्यभिज्ञान (Recognition) का विषय बन ही नहीं सकती है। चाहे कितने भी रूप बदल लें; हमारा शरीर, हमारे से जुड़े लोग, वस्तुएँ इत्यादि फिर भी जब हम इन्हें देखते हैं, पहचान लेते हैं। हमारे भीतर रोज़ कुछ घटता है, कुछ बढ़ता है, फिर भी 'मैं हूँ' का यह भाव सदा बना ही रहता है। इस भान का बना रहना और बाहरी

आकृतियों का बदलते रहना-ये दोनों ही नित्य क्रम है। सदा ऐसा ही होने वाला है कि वस्तु का स्वरूप स्थिर भी होगा व बदलेगा भी।

इस सूत्र की रचना क्यों करनी पड़ी ? इस प्रश्न का समाधान खोजने जाएँ तो पता चलेगा कि भारत में प्रचलित दर्शन की धाराओं में से कुछ दार्शनिकों का ऐसा मानना था कि इस जगत में कुछ पदार्थ तो पूर्णतः नित्य है और कुछ अनित्य। जैसे न्याय व वैशेषिक दर्शन आत्मा आदि कुछ सत् तत्त्वों को कूटस्थ नित्य (As still as mountain) और घट-पट आदि को अनित्य कहता है। सांख्य दर्शन की मान्यता है कि आत्मा तो कूटस्थ नित्य है किंतु प्रकृति नित्यानित्य।

शंकराचार्य वेदांती सिर्फ ब्रह्म को ही नित्य स्वीकार करता है, शेष जगत् को माया करार देता है। उनका स्पष्ट उद्घोष है कि 'ब्रह्म सत्यं जगन्मिथ्या'। बौद्ध दर्शन क्षणिकवादी है, उनका नित्यत्व केवल धाराक्रम अथवा संतति क्रम है। वे कहते हैं कि चलती धारा व उठती दीपक की लौ में जैसे यह भ्रांति होती है कि यह वही धारा है अथवा वही लौ है, जबकि वह हर क्षण नई है, इसी प्रकार यहाँ हमें ऐसा आभास होता है कि हम वही है, वस्तु तत्त्व वही है, किंतु उसका अस्तित्व क्षण से अधिक नहीं होता। सब कुछ क्षणिक है। यहाँ स्थिर अंश कुछ भी नहीं है।

किंतु जैन दर्शन का कहना है कि 'सत् परिणामी नित्य है।' पर्यायों के पलटते रहने पर भी वस्तु का बने रहना परिणामी नित्यत्व है। इसे नित्यानित्यवाद भी कह सकते हैं क्योंकि जैन दर्शन सत्ता को त्रिरूपा कहता है जिनमें दो रूप परिवर्तन के द्योतक है व एक अपरिवर्तनीय। ध्रौव्य अपरिवर्तनीय गुण का नाम है किंतु उत्पाद-व्यय-परिवर्तनशील पर्यायों का। इस अपेक्षा से देखें तो जैन दर्शन कहीं भी एकांत आश्रयी बात नहीं करता, वह सदा अनेकांत बात कहता है।

इस दर्शन का किसी भी दर्शन से न तो पूर्णतः विरोध है, न ही पूर्ण सहमति। यह अपेक्षा भेद से सबको स्वीकार करने की क्षमता रखता है। जहाँ सबको अपने-अपने अर्थों में व अपनी-अपनी सीमाओं के साथ स्वीकारने की क्षमता हो, वहाँ किसी भी प्रकार का आग्रह, पक्षवाद व धारणावाद संभव ही नहीं है।

इस प्रकार से जैन दर्शन को यदि कोई समझ ले तो उसे निष्पक्ष प्रज्ञा पैदा होगी ही। वह जन्म रूप उत्पत्ति व मरण रूप व्यय-इन दोनों के साथ-साथ अपने ध्रौव्य रूप को भी स्वीकार करने के कारण न तो कभी मोहित होगा, न ही खेदित। न तो कभी रागमय बनेगा न ही द्वेषमय। राग-द्वेष रूपी ये दोनों विकार वस्तु के वास्तविक स्वरूप की आंतरिक समझ के अभाव में ही पैदा होते हैं व पलते-बढ़ते हैं।

जिनशासन का यह माहात्म्य है कि यह सबको एक साथ स्वीकार करने की क्षमता रखता है । साथ ही सबसे परे होकर जीना भी सिखाता है। पानी के बुलबुले व तरंगों में भी वही पानी है, जो कभी उत्पन्न होता व नष्ट होता दिखलाई पड़ता है किंतु वस्तुतः पानी पानी ही रहता है। पर्यायों को धारण करता हुआ भी अपने मूल स्वरूप से कभी च्युत नहीं होता है।

यही 'तद्भावाव्ययं नित्यम्' सूत्र का हार्द है। इसे समझकर जीने वाला साधक कह सकता है कि-

लगा जगत में आना-जाना
हमको इसमें क्या घबराना
पाना तो सत्चित् आनंद को, हर पल निखरे शान।
गुरुजी! मेरे प्रज्ञा की पहचान, गुणानुवादन फलित करे अरमान।।

उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य- ये तीनों ही नित्य है किंतु हमारा विवेक यह हो कि हमारी दृष्टि वस्तु के ध्रौव्य स्वरूप की पहचान कर, उस पर टिकी रहे, परिवर्तनशील उत्पाद व व्यय गुणधर्म पर नहीं। हमें सत्चित आनंद को उपलब्ध होना है, जो कि आत्मा का ध्रुव स्वरूप है, सुख-दुःख मानसिक कल्पनाएँ मात्र हैं। इस तथ्य को गुरूकृपा से हम सभी जानें व जीएँ।

सूत्र-31

अर्पित-अनर्पित

पिछले सूत्र में हमने जाना कि सत् (Existence) उत्पत्ति-विनाश व ध्रुवस्वरूपी है। ये तीनों रूप जिन्हें अन्य दार्शनिकों के द्वारा ब्रह्मा, विष्णु एवं महेश कहकर भी संबोधित किया जाता है, नित्य है, अव्यय है। किंतु यहाँ प्रश्न उपस्थित होता है कि ऐसा प्रतीत तो नहीं होता कि जन्म के क्षण में ही मृत्यु हो व मृत्यु के क्षण में ही जन्म हो। स्वास्थ्य के क्षण में ही रोग हो व रोग के क्षणों में ही स्वास्थ्य भी हो। जब उत्पाद नज़र आ रहा होता है, तब व्यय नज़र नहीं आता और जब व्यय नज़र आ रहा होता है, तब उत्पाद नज़र नहीं आता। ऐसे में कैसे कहा जाए कि ये तीनों लक्षण वस्तु स्वरूप में एक साथ ही होते हैं और हर वक्त होते हैं, नित्य होते हैं। ऐसी जिज्ञासाओं को समाहित करते हुए वाचक उमास्वाति अगले सूत्र में कहते हैं कि-

सूत्र- अर्पितानर्पितसिद्धेः ॥31॥

अर्थ- अर्पित और अनर्पित से सिद्धि होती है ॥31॥

विवेचन- अर्पित शब्द का अर्थ होता है 'मुख्य' और अनर्पित शब्द का अर्थ होता है 'गौण'। किसी भी पदार्थ में मौजूद उसके गुणधर्मों में से किसी भी एक समय में सारे ही गुणधर्म बयाँ नहीं किए जा सकते, दृष्टिगोचर नहीं हो सकते, किसी समय कोई पहलू प्रमुख बनता है तो किसी समय कोई अन्य, जिस समय जो पहलू/आयाम/गुणधर्म प्रमुखता पाता है, वह अर्पित है और जो गौण हो जाता है, वह अनर्पित है। वस्तु स्वरूप का कथन ऐसे ही संभव है कि कभी किसी रूप को कहा जाए तो कभी किसी अन्य को, किंतु दोनों का होना निश्चित है। अर्पित व अनर्पित कथन से अनेकांत धर्मा वस्तु की सिद्धि होती है। अनेकायामी प्रकृति में सदा सब कुछ समाहित है किंतु प्रगट नहीं। जब बसंत प्रगट होता है तब शिशिर नींद की खुमारी में मुस्कुरा रहा होता है, वह भी उसी के भीतर अन्तःस्थल में छुपा रहता है। हम नहीं देख पाते शिशिर की ओट में छुपे वसंत को व वसंत में छुपे शिशिर को। शीत में छुपी आग को व आग में छुपी राख को, किंतु प्रत्येक वस्तु विरोधी धर्म युगलों और अनेक गुणधर्मों को अपने में समाए हुए है।

इस जगत का अनेकांत दर्शन कर चुके वीतराग ज्ञानी भगवंतों की देशना से ही हमें यह बोध हो पाता है कि जगत का अस्तित्व कैसा है ? वे सत्य को व्यक्त करते हैं। किंतु साथ ही यह भी कहते हैं कि व्यक्त किया जा रहा सत्य स्यात् सत्य है। कदाचित् सत्य है। सापेक्ष कथन है। अनेकांत है। इसे सर्वथा सत्य न कहना। सर्वथा सत्य तो आत्मानुभव है, जिसे जाना व जीया तो जा सकता है मगर कहा नहीं जा सकता। जब भी कहोगे कोई पहलू अर्पित होगा, प्रगटित होगा, रूप पाएगा, शेष सभी अनर्पित रहेंगे।

फिर किसी समय अनर्पित अर्पित हो जाएगा व अर्पित पर्दे के पीछे चला जाएगा। जब ऐसा कहोगे कि सूर्य

उदित हुआ तो तारागण छुप जाएँगे। किंतु तब भी वे रहेंगे तो इसी नभोमण्डल में। इसी गगन में घूम रहे होंगे किंतु दिखलाई नहीं पड़ेंगे। जब सूर्य अस्ताचल को जाएगा, वह अनर्पित हो जाएगा तब ये समस्त तारागण अर्पित स्वरूप हो जाएँगे। ये क्रम नित्य है यानि ऐसा ही होता रहा है, होता रहेगा। यही सृष्टि का नियमबद्ध चक्र है। इसे समझ लेने पर सब तरह के मोह व शोक का निवारण संभव हो सकता है। मोह तब होता है जब प्रिय की उत्पत्ति या संयोग होता है, शोक तब होता है जब प्रिय का वियोग या व्यय होता है किंतु प्रिय की उत्पत्ति में ही अप्रिय की उत्पत्ति भी निहित है-यह अभी अनर्पित है, अप्रगट है किंतु जिस क्षण प्रिय विदा लेता है, अप्रिय प्रगट हो जाता है, मोह-शोक में तब्दील हो जाता है। इस शाश्वत सत्य को जान-समझकर जीने वाला ही सत्य को उपलब्ध होता है।

'सत्य' जो शाश्वत है, सनातन है वह परिणामी नित्य को साक्षी भाव से स्वीकार कर लेने पर उजागर होता है। हमें वीत मोह, वीत शोक बना देता है। जीवन के प्रत्येक पक्ष को स्वीकार भाव से जीना ही सच्ची बुद्धिमत्ता है, यह बुद्धिमत्ता सत्गुरू के ज्ञान की कृपा से सभी जीवों को प्राप्त हो।

सूत्र-32-35

स्कंध रचना विज्ञान-1

जगत की रचना का प्रमुख निमित्त तत्त्व 'परमाणु पुद्गल' है। इसमें मौजूद संयोग-वियोग का गुण ही संसार के विविध दृश्यमान परिवर्तनों का आधार है। हम जो कुछ भी देखते हैं-वह परमाणुओं के संयोग से बनी स्कंध रचना है।

अब यहाँ प्रश्न उठता है कि ये परमाणुओं का संयोग किस प्रकार होता है। क्या यूँ ही randomly हो जाता है या इसका भी कोई वैज्ञानिक कारण है। तो वाचक उमास्वाति इन सूत्रों में परमाणु पुद्गल में मौजूद स्निग्ध व रूक्ष गुण को आपसी संयोग का, बंध का कारण बताते हुए उसकी स्कंध रचना की विवेचना इस प्रकार करते हैं-

सूत्र- स्निग्धरूक्षत्वाद् बंधः ॥32॥
न जघन्य् गुणानाम् ॥33॥
गुणसाम्ये सदृशानाम् ॥34॥
द्वयधिकादि गुणानाम् तु ॥35॥

अर्थ- स्निग्ध और रूक्षत्व से बंध होता है ॥32॥
जघन्य गुण (गुणों का अंश) वाले परमाणु में बंध नहीं होता ॥33॥
समान अंश होने पर सदृश अर्थात् स्निग्ध के साथ स्निग्ध अवयवों का तथा रूक्ष के साथ रूक्ष अवयवों का बंध नहीं होता ॥34॥
दो अंश अधिक आदि अवयवों का बंध होता है ॥35॥

विवेचन- पौद्गलिक स्कंध की उत्पत्ति परमाणु के पारस्परिक संयोगों से ही होती है किंतु यह संयोग भी तब ही हो सकता है जबकि परमाणुओं में पाया जाने वाला स्निग्ध और रूक्ष गुण परस्पर एक-दूसरे को आकर्षित करने के स्तर का हो। जब तक स्निग्ध यानि परमाणुओं में पाया जाने वाला स्वाभाविक चिकनाई का गुण किसी अन्य परमाणु में पाए जाने वाले रूक्ष गुण से कुछ अधिक (कम से कम दो गुण अधिक) गुण स्तर का न हो। जघन्य गुण परमाणु जघन्य गुण वाले अन्य परमाणु के साथ संयोग नहीं कर सकते हैं। यहाँ तक कि समान गुण वाले स्निग्ध या रूक्ष परमाणु भी परस्पर संयोग को प्राप्त नहीं हो सकते हैं। जैसे कि दो गुण स्निग्ध वाले परमाणु का अन्य दो गुण स्निग्ध वाले परमाणु के साथ बंध नहीं हो सकता। ऐसे ही दो गुण रूक्षता वाले परमाणु का अन्य दो गुण रूक्षता वाले परमाणु के साथ बंध नहीं होता। यदि गुणों की संख्या में विषमता हो तो ही सजातीय परमाणुओं का भी आपस

में बंध होता है, अन्यथा नहीं।

दो गुण स्निग्ध के साथ कम से कम चार गुण स्निग्ध या रूक्ष गुण वाले परमाणु मिले, तब ही बंध हो सकता है। ठीक ऐसे ही रूक्ष गुण वाले परमाणु के संबंध में भी जानना चाहिए। दो से अधिक गुण होने पर ही परस्पर आकर्षण का संबंध बन पाता है।

समस्त भौतिक जगत की दृश्यमान रचना परमाणुओं के परस्पर संयोग व बंध के कारण बन रहे स्कंधों का ही परिणाम है। यह संपूर्ण जगत एक परम नियम के आधार पर चल रहा है, जिसे 'धर्म' कहते हैं, चीनी भाषा में इसे 'ताओ' भी कहते हैं। वैदिक ऋषि इसे 'ऋत्' भी कहते हैं। प्राचीन काल से मनुष्यों ने इस धर्म, ताओ अथवा ऋत् को जानने व समझने की चेष्टा की है। अच्छा है कि हमें उनकी साधना से प्राप्त अमृत की कुछ बूंदे बिना किसी विशेष प्रयत्न के सहज ही सूत्रों के माध्यम से मिल गई है।

प्रस्तुत सूत्र एक बहुत बड़ी गुत्थी को सुलझा रहे हैं। ये सूत्र बतला रहे हैं कि आत्मा के साथ परमाणुओं का संबंध, जिनसे कि कर्म रचना होती है, वह आत्मा के विभावों में पाया जाने वाला स्निग्ध व रूक्ष गुण के कारण होता है। स्निग्ध गुण को राग कहते हैं व रूक्ष यानि रूखेपन को द्वेष। जब तक राग-द्वेष है, तब तक ही जीवात्मा को कर्म पुद्गल आकर चिपक सकते हैं। स्निग्धता और रूक्षता की मात्रा प्रत्येक जीवात्मा में भिन्न-भिन्न होती है और उनके भावों से charged परमाणुओं में भी इसी कारण से भिन्न-भिन्न होती है। 'परमाणु' हमारी जीवात्मा के भावों से charged होकर ही गति कर पाते हैं। यदि हमें इनके संबंध प्रवाह से मुक्त होना है तो ये सूत्र परोक्ष रूप से संकेत दे रहा है कि-

'न जघन्य गुणानाम्
गुणसाम्ये सदृशानाम् अथवा विसदृशानाम्'

आप अपने राग और द्वेष को, चिकनाई और रूखेपन को जघन्य बना लो। न्यूनतम बना लो। संज्वलन की भी अंतिम परत का बना लो। जहाँ मात्र सूक्ष्म संपराय का अंश रहता है, वहाँ यानि दसवें गुणस्थान में मोहनीय कर्म का बंध नहीं पड़ता। जब तक समभावों की परिपूर्णता नहीं है, तब तक ही बंधन श्रृंखला चालू है। जहाँ समभाव अप्रमत्त रूप से रहते हैं, वहाँ कोई नई बंधन श्रृंखला संभव नहीं हो सकती।

परमाणुओं को आकर्षित करने के लिए व उनका परस्पर संबंध बनाने के लिए हमारे राग-द्वेषमय कल्प ही ज़िम्मेदार हैं। हम सृष्टिगत प्रवाह को नहीं रोक सकते, वह तो अनादि निधन है किंतु हम अपनी चेतना को इस हद तक न्यूट्रलाइज़ कर सकते हैं कि बंध की शर्तें पूरी हो ही न पाए। बंध तो तभी पड़ेगा जब राग या द्वेष का स्तर अशून्य होगा, कम-ज्यादा होगा, मन के सात तलों में कहीं भी कंपन व कर्षण मौजूद रहेगा।

प्रस्तुत सूत्र परमाणु बंध का विज्ञान समझाता हुआ हमें पूर्ण निष्काम, निःस्पृह व शांत होने की प्रेरणा देता है। बंधन की प्रक्रिया स्निग्ध व रूक्ष के गुणाधिक संयोग होने पर ही संभव है। इस सूत्र को जान-समझ कर हम बचकर, जगकर चलें।

सूत्र-36

स्कंध रचना विज्ञान-2

परमाणुओं के परस्पर बंध का विज्ञान बतलाते हुए प्रज्ञा महर्षि वाचक उमास्वाति कहते हैं कि परमाणुओं का स्कंध रूप में बंधन तब ही होता है जब वे विपरीत गुण वाले परमाणुओं को आकर्षित करके उनके साथ जुड़ते हैं। परमाणुओं में स्निग्ध गुण और रूक्ष गुण पाए जाते हैं। जिन्हें आज की भाषा में Positive and Negative charge कह सकते हैं। जब तक कोई भी परमाणु जघन्य गुण वाला है, तब तक वह किसी भी अन्य परमाणु को आकर्षित नहीं कर सकता है, उसके लिए उसे कम से कम दो गुण अधिक क्षमता वाला होना ज़रूरी है। उदाहरण के लिए चार स्निग्ध गुण वाले परमाणु दो रूक्ष गुण वाले परमाणु को आकर्षित करके परस्पर एक क्षेत्रावगाढ़ हो सकते हैं, यानि बंध कर स्कंध बन सकते हैं। अब यहाँ वाचक उमास्वाति जी कहते हैं कि गुणों के समान होने पर सदृश का बंध नहीं हो सकता यानि कि दो स्निग्ध परमाणु दो स्निग्ध परमाणु के साथ व दो रूक्ष परमाणु दो रूक्ष परमाणु के साथ नहीं बंध सकते हैं। जब चार स्निग्ध व दो स्निग्ध हो तो बंध सकते हैं एवं इसी प्रकार चार रूक्ष दो रूक्ष के साथ बंध सकते हैं किन्तु विसदृश होने पर यानि दो स्निग्ध दो रूक्ष होने पर भी बंध नहीं पड़ता। बंध पड़ने के लिए किसी भी एक प्रकृति के परमाणुओं की संख्या दो या अधिक गुणा हो, यह ज़रूरी है। अब नया प्रश्न यह होता है कि कौन किसको प्रभावित करेगा ? जब कभी स्निग्ध व रूक्ष परस्पर आकर्षण के नियम के अनुसार संबंधित होवेंगे तब कौन किसको बदलेगा ? स्निग्ध रूक्ष को स्निग्ध बना पाएगा या रूक्ष स्निग्ध को रूक्ष बना लेगा ? इस प्रश्न का समाधान करते हुए वाचक महोदय सूत्र संख्या 36 में कहते हैं कि -

सूत्र- बन्धे समाधिकौ पारिणामिकौ।।36।।

अर्थ- बंध अवस्था में सम और अधिक गुण वाले पुद्गल सम तथा हीन गुण वाले पुद्गलों को परिणमाते हैं ।।36।।

विवेचन- बंध के समय जो अधिक गुण वाला पुद्गल होता है वह हीन गुण वाले पुद्गल को अपने रूप में परिणमा लेता है यानि अपने रूप में उसका परिवर्तन करा लेता है, उसे खुद के जैसा बना लेता है। जैसे चार स्निग्ध गुण वाले पुद्गल का दो रूक्ष गुण वाले पुद्गल के साथ बंध हुआ तो स्निग्ध गुण वाला पुद्गल रूक्ष गुण वाले पुद्गल को अपने रूप में परिणमा लेगा, यानि दोनों के सम्मिलन से जो स्कन्ध बनेगा वह स्निग्ध गुण प्रधान होगा। इसी प्रकार अधिक रूक्ष गुण वाले पुद्गल जब कम स्निग्ध गुण वाले पुद्गल के साथ बंध करेंगे तो उनसे निर्मित स्कन्ध में रूक्ष गुण प्रधान होगा। जैसे गुड़ की ढेली पर धूल कण गुड़ में मिल जाएँगे, गुड़ उनको अपने रूप में परिणमा लेगा किन्तु मिट्टी में गिरा हुआ दूध स्वयं मिट्टी में मिल जाएगा। अपनी चिकनाई मिट्टी की रूक्षता को सौंप देगा।

सूत्र-37

सत्य क्या है?

सत्य क्या है ? परिवर्तनशील या अपरिर्वतनशील ! शाश्वत या अशाश्वत ! युगों-युगों से यही प्रश्न पूछे जाते रहे हैं ! किसी ने सत्य को अपरिवर्तनशील कहा तो किसी ने परिवर्तन को सत्य कहा। किंतु एक ऐसी भी दृष्टि है, जो सत्य को सदा शाश्वत परिवर्तनशील कहती है। आप्तवाणी का यह प्रस्तुत सूत्र कहता है कि-

सूत्र- गुणपर्यायवद् द्रव्यम् ॥37॥

अर्थ- द्रव्य गुण पर्याय वाला है ॥37॥

विवेचन- द्रव्य यानि सत्तावान सभी पदार्थ, द्रव्य यानि जो सदा द्रवित रहता हो, चलित रहता हो, अपने स्वरूप में गतिशील हो, चाहे जड़ हो या चेतन उसमें गुण व पर्याय अवश्य होगी। द्रव्य शब्द द्रु+इनन् से बना है। 'द्रु' अर्थात् दौड़ना, बहना, बदलना, घुलना, पिघलना, सतत् परिवर्तनशील, परिणमन क्रिया (Fermentation)। 'इनन्' अर्थात् योग्य, बली, निज स्वामित्व की क्रिया, सतत् परिवर्तनशील स्वायत्त संस्थान। 'द्रव्य' अर्थात् गुण व पर्याय का वह एकत्व जो ऋतुकरण यानि Seasoning व रासायनिकरण यानि Fermentation द्वारा अवस्थाओं के उत्पाद, स्थिति व नाश होने के बावजूद भी ध्रुव अस्तित्व होता है।

द्रव्य अर्थात् Material - वह जो आकाश में जगह घेरता है। वह पदार्थ जो किसी क्रिया या गुण अथवा मात्र गुण का आश्रय हो। वह जिससे कोई वस्तु बनी हो। द्रव्य अर्थात् स्वायत्तीकृत कोई पदार्थ, वस्तु, सामग्री, द्रु (प्रत्यावर्तन) + यत् (योग) वह मूलभूत अस्तिभूत तत्त्व जो अपने क्रियाकलापों व गुण से अपने होनेपन का एहसास करावे।

जीव द्रव्य- अपने उपादान (भाव) द्वारा अपना अस्तित्व जताता है।
पुद्गल द्रव्य- अपने पाँच गुणों द्वारा अपना अस्तित्व जताता है।
काल (समय) द्रव्य- अपने वर्तन गुण द्वारा अपना अस्तित्व जताता है।
आकाश द्रव्य- अपने आधार गुण द्वारा अपना अस्तित्व जताता है।
धर्म द्रव्य- अपने गति उत्प्रेरण गुण द्वारा अपना अस्तित्व जताता है।
अधर्म द्रव्य- अपने स्थिति उत्प्रेरण गुण द्वारा अपना अस्तित्व जताता है।
अतः द्रव्य को भगवान ने अस्तिकाय कहा है।

'गुण' द्रव्य का स्वरूप है। जैसे, अग्नि का गुण उसकी उष्णता व दाहकता है तथा जल का गुण तरलता व शीतलता है। वायु का गुण बहना है, ठीक इसी प्रकार संसार का प्रत्येक द्रव्य गुण संयुक्त है और प्रत्येक गुण अनेकों पर्यायों में सतत् परिवर्तनशील (changeable forms) भी है।

इस प्रकार हम देखें तो अस्तित्व यानि सत् । सत् कहो या द्रव्य, सदा गुण दृष्टि से शाश्वत एवं पर्याय दृष्टि से परिवर्तनशील भी है ।

ऐसा कोई समय नहीं होता जबकि द्रव्य गुणयुक्त न हो एवं ऐसा भी कोई समय नहीं होता जबकि गुण पर्याययुक्त न हो । अर्थात् द्रव्य में गुणों की व गुणों में पर्यायों की नियम से उपस्थिति रहती ही है । द्रव्य गुणपिण्ड है । प्रत्येक द्रव्य में कोई न कोई विशिष्ट गुण अवश्य होता है, जो उसे अन्य द्रव्यों से पृथक् पहचान दिलाता है ।

जैसे कि धर्म का विशिष्ट गुण गति है तो अधर्म का विशिष्ट गुण स्थिति है । आकाश का विशिष्ट गुण अवगाहन (स्थान) देने की क्षमता है यानि रिक्त स्थान आकाश है तथा काल द्रव्य का विशिष्ट गुण परिवर्तना है ।

जीव का विशिष्ट गुण उपयोग है, जानने-देखने की क्षमता है तो पुद्गल का विशिष्ट गुण जुड़ना व बिखरना है । ये सभी विशिष्ट गुण अपने आधारभूत द्रव्य को छोड़कर किसी अन्य द्रव्य में नहीं पाए जाते हैं, तभी तो विशिष्ट कहलाते हैं । साथ ही ये गुण अपने द्रव्य से एवं द्रव्य अपने गुणों से कभी भी जुदा नहीं हो सकता है । ये अन्वयी गुण है । ये ही द्रव्य का मौलिक स्वरूप है । इतना कुछ होने पर भी गुणों की पर्याय सदा बदलती भी रहती है ।

पर्यायों की उत्पत्ति गुणों के परिणमन से भी होती है । जैसे आत्मा के ज्ञान गुण के परिणमन से मति ज्ञान, श्रुतज्ञान, अवधि ज्ञान आदि पर्यायों की उत्पत्ति होती रहती है । एक समय में एक ज्ञान का उपयोग रहता है, दूसरे समय में दूसरा... । इस प्रकार ज्ञानादि की तरतमता व भेद के कारणभूत द्रव्य की विशिष्टता को 'पर्याय' कहते हैं । यह द्रव्य ही है जो बदलता भी है और अपने निजी मौलिक गुण में सदा रहता भी है । इसी कारण से द्रव्य को गुण व पर्याय का समूह कहा गया है । 'गुणपर्यायवद् द्रव्यम्' सूत्र का यही भावार्थ है । पं. सुखलाल सिंघवी कहते हैं कि 'द्रव्य में परिणाम जनन की शक्ति ही उसका गुण है और गुणजन्य परिणाम पर्याय है । गुण कारण है और पर्याय कार्य ।'

इस प्रकार देखें तो द्रव्य की अपनी दो विशिष्टता है । एक-उसका अपना मौलिक गुणरूप होना और दूसरा अपने ही गुणों को विविध रूपों में प्रगटाना । जैसे कि एक नर्तक में नृत्य गुण है और उसकी विविध भंगिमाएँ व कलाएँ उस नृत्य गुण की पर्यायें है ।

एक चित्रकार में चित्रकला उसका गुण है और उसके द्वारा निर्मित विविध चित्र इस चित्रकला की पर्यायें है । एक संगीतकार की संगीत बजाने की कला उसका गुण है, और विविध समयों में होने वाली उसकी विविध प्रस्तुतियाँ 'पर्यायें' है । प्रत्येक गुण अनंत पर्याय संयुक्त हैं किंतु कब कौनसी पर्याय प्रगट हो पाएगी व कितनी पर्यायें अप्रगट रहेगी, यह निश्चित नहीं कहा जा सकता है । हाँ ! इतना अवश्य है कि प्रत्येक द्रव्य में पाए जाने वाले अनेक गुणों में से किसी भी एक गुण की एक से अधिक पर्याय एक ही समय में एक साथ प्रगट नहीं हो सकती, वह क्रमशः (in a sequence) ही प्रगट हो सकती है । इसीलिए पर्यायों को क्रमिक एवं एक समय अवस्था वाली भी कहा जाता है । उदाहरण से समझें कि किसी भी एक पुद्गल में वर्ण, गंध, रस, स्पर्श- ये चारों मौलिक गुण पाए जाते हैं । किंतु वर्ण गुण की जिस समय लाल रंग की पर्याय प्रगट हो रही हो, ठीक उसी समय उसी आकाश प्रदेश पर हरे या काले रंग की पर्याय संभव न हो सकेगी किंतु उसी समय उस पुद्गल द्रव्य की कोई-न-कोई गंध पर्याय भी प्रगट हो सकेगी । रंग व स्पर्श की भी विविधता मौजूद रहेगी ।

ऐसा इसलिए क्योंकि एक तो पर्यायें होती ही अनित्य है, changeable है, अतः एक समयवर्त्ती पर्याय दूसरे समय में नहीं होगी व एक ही गुण की विविध पर्यायें भी एक ही समय में नहीं होगी । पर्यायें समयानुसार

बदलती रहेगी। दूसरी बात यह है कि 'समय' भी अद्धा है। अर्थात् काल की अंतिम अविभाज्य इकाई है, जो वास्तविक है किंतु पकड़ में आने योग्य नहीं है। एक पलक झपको, उतने में असंख्य समय बीत जाते हैं। अतः प्रति समय बदलाव को पकड़ना आसान नहीं है। इसे अन्य उदाहरण द्वारा समझा जा सकता है। जैसे कि एक बालक जिस समय बालक है, उसी समय में युवा व वृद्ध नहीं है। बालकपने की पर्याय जब प्रगट है तब युवा व वृद्ध होने की उसकी पर्यायें अभी अप्रगट है, वे समयानुसार प्रगट होगी।

पर्यायों के प्रगटीकरण की यह विचित्रता 'समय' अर्थात् काल के निमित्त से है। इसी तथ्य के कारण कई आचार्य काल को भी द्रव्य रूप स्थापित करते हैं। वही बात सुस्पष्ट करते हुए आचार्य उमास्वाति अपने अगले सूत्र में काल को भी द्रव्य रूप मानने की बात कहने से स्वयं को रोक नहीं पाए।

द्रव्य में पाए जाने वाले विशिष्ट गुणों के सिवाय कई ऐसे सामान्य (common) गुण भी होते हैं जो सभी द्रव्यों में प्रायः पाए जाते हैं। जैसे अस्तित्व, प्रदेशत्व, ज्ञेयत्व, प्रमेयत्व, अगुरूलघु इत्यादि।

पुद्गल द्रव्य मूर्त्त (ठोस) होने के कारण वह गुरू (भारी) व लघु (हल्का) पर्याय रूप होता है। शेष सभी द्रव्य अमूर्त्त होने के कारण अगुरूलघु अर्थात् न भारी न हल्के होते हैं। ये सभी सामान्य व विशेष गुण अपनी विविध पर्यायों के साथ प्रत्येक द्रव्य में सदा मौजूद रहते हैं।

इस प्रकार 'द्रव्य' शब्द की परिभाषा हुई 'वह जो गुण पर्याययुक्त है।'

जो सत्य है, जो द्रव्य है, जो अस्तित्ववान है; वह शाश्वत व परिवर्तन दोनों को समाहित किए है। यही इस सूत्र का हार्द हुआ।

इस सूत्र को समझ लेने पर परिवर्तनशील जगत के परिवर्तनों को लेकर उठने वाले सभी मानसिक चल-विचलन खुद-ब-खुद तिरोहित हो जाते हैं। अब यह बात सुस्पष्ट हो गई कि गुण भी बदलते हैं और बदलते रहने पर भी गुण कभी द्रव्य से विलग नहीं हो जाते, तब भला चिंता किस विषय की करना ?

समस्त चिंताएँ व्यर्थ है, यदि सत्य की समझ सुस्पष्ट है।

खंड-38-39

काल और समय

विगत सूत्र में हमने जाना कि 'द्रव्य' गुण व पर्याय रूप है। द्रव्य का सहभावी गुण 'गुण' है व क्रमभावी गुण 'पर्याय' है। जो क्रमानुसार उत्पन्न व नष्ट होता रहता है, वह पर्याय है तथा जो सदा ध्रुव रूप रहता है, वह 'गुण' है।

प्रश्न उठना स्वाभाविक है कि पर्यायें, जो सदा बदलती रहती है, उन परिवर्तनों का आधार क्या है ? परिवर्तनों का आधार 'काल' है। हर परिवर्तन 'काल' का गुण है। काल कह दो या वर्तन कह दो, एक ही बात है। फिर भी कई आचार्य काल को स्वतंत्र व मौलिक द्रव्य मानते हैं तथा कई आचार्य काल को समस्त द्रव्यों में पाई जाने वाली पर्यायात्मक सत्ता ही मानते हैं, यानि काल को स्वतंत्र इकाई नहीं मानते हैं।

श्वेतांबर परंपरा में उपलब्ध तत्त्वार्थ सूत्र में काल को स्वतंत्र द्रव्य मानने में संदेह कहा गया है किंतु दिगंबर परंपरा में निःसंदेह काल को स्वतंत्र द्रव्य कहा गया है। इसीलिए पाँचवें अध्याय के इस 38 वें सूत्र की रचना दोनों परंपराओं में किंचित् भिन्नता लिए हुए है। श्वेतांबर परंपरा के अनुसार यह सूत्र इस प्रकार है-

सूत्र- कालश्चेत्येके ॥38॥

अर्थ- कोई-कोई आचार्य कहते हैं कि काल भी द्रव्य है ॥38॥

दिगंबर परंपरा में वर्णित यह सूत्र इस प्रकार है-

सूत्र- कालश्च ॥38॥

अर्थ- काल भी द्रव्य है ॥38॥

विवेचन- काल को स्वतंत्र द्रव्य मानने वाले आचार्य काल को समस्त द्रव्यों की परिणमन क्रिया में सहायक निमित्त तत्त्व मानते हैं। जिस प्रकार जीव व अजीव की गति में सहायक तत्त्व को धर्मास्तिकाय कहते हैं, जीव व अजीव की स्थिति में सहायक तत्त्व को अधर्मास्तिकाय कहते हैं, जीव व अजीव को स्थान देने में सहायक को आकाशास्तिकाय कहते हैं, उसी प्रकार जीव व अजीव में बदल रही पर्यायों के निमित्तभूत तत्त्व को 'कालद्रव्य' कहते हैं। सूत्र संख्या 25 के अनुसार काल के लक्षण 'वर्तना परिणाम क्रिया परत्वापरत्वे च कालस्य' है अर्थात् काल में वर्तन यानि परिवर्तन का, बड़े-छोटे करने का, नए को पुराना, पुराने को नया करने का गुण है। किंतु एक

बात अवश्य है कि काल द्रव्य अस्तिकाय रूप नहीं है। वह अन्य अस्तिकाय द्रव्यों की भाँति प्रदेशों के समूह रूप नहीं है। काल का अस्तित्व समय मात्र है। अद्धा रूप है। अविभाज्य निरंश अंशरूप है। इसी कारण उसका समूह संभव नहीं है। अतः काल को कालास्तिकाय कहा जाना संभव नहीं है। किंतु समय कितना ? क्या समय की गणना संभव है ?

इस प्रश्न को समाधानित करते हुए वाचक उमास्वाति जी अगले सूत्र में कहते हैं कि -

सूत्र- सोऽनन्तसमयः ॥39॥

अर्थ- वह काल अनंत समय वाला है।॥39॥

विवेचन- 'समय' वर्तमान क्षण मात्र है। या यूँ कह दो कि वर्तमान काल एक समय मात्र ही है किंतु भूत-भविष्य की अपेक्षा से यह अनंत समय वाला है। प्रवाह रूप से समय अनंत है, गहराई में अनंत है-समय। किन्तु सत्तारूप से समय मात्र है, अद्धा है, अविभाज्य अंतिम कालाणु मात्र है। चूँकि काल द्रव्य के प्रदेश नहीं है इसलिए वह संख्यात, असंख्यात, अनंत प्रदेशी रूप तो हो नहीं सकता है, वह तो समय मात्र है। चूँकि काल का समय रूप वर्तना अनादि अनंत है इसलिए काल को अनंत समय रूप कह दिया गया है। साथ ही एक ही समय में काल द्रव्य अनंत जीवों व अजीवों की पर्याय परिणमन का निमित्त बनता है, इस अपेक्षा से भी वह अनंत समय वाला है। भगवती सूत्र शतक 25 उद्देशक 5 में कहा गया है कि-

अणंता समया

अर्थात् काल द्रव्य में अनंत समय होते हैं। आगम सूत्रों में काल के दो रूप बताए गए हैं, 1. निश्चय काल 2. व्यवहारकाल। वह निश्चय काल समय के रूप में अनंत है तथा व्यवहार काल भी समय, आवलिका, आणपाण, मुहूर्त, दिन, पक्ष, मास, संवत्सर, युग, पल्योपम, सागरोपम से लेकर अनंत अवसर्पिणी व उत्सर्पिणी रूप है। यह व्यवहार काल भी गणनाओं से परे अनंत रूपा है, जो सर्वमान्य भी है। इस प्रकार हम देखें कि काल द्रव्य एक स्वतंत्र द्रव्य है, जो अनंत समय रूप है और सभी द्रव्यों की पर्याय परिवर्तन का निमित्त भूत है। काल की अंतिम अविभाज्य इकाई 'समय' कहलाती है। प्राचीन आचार्य कहते हैं कि एक पलक झपके उतने मात्र में असंख्य समय बीत जाते हैं, समय इतना सूक्ष्म है कि उसकी गणना असंभव है। वह मात्र अनुभवगम्य है, कथनीय नहीं है। जो ऐसे समय को उसकी अनन्ता में अभंग जीते हैं, वे ही समयनाथ सदाशिव परमात्मा कहलाते हैं।

'समय' का अनुभव या समय को जीना मात्र तब ही संभव है जबकि हम मन की भूत भविष्य वर्तना की आदत से परे हो पाएँ। सामायिक व्रत का अभ्यास इसीलिए किया जाता रहा है कि एक साधक अपने अतीत को विसर्जित कर सके और भविष्य से मुक्त होकर मात्र वर्तमान क्षण को जीए। समय को जीए। समय में उपस्थित हो सके। वर्तमान क्षण ही अपनी गहराई में 'अनंत' है। इसीलिए कहा गया है कि 'सोऽनन्तसमयः' अर्थात् समय अनंत है। वह लंबा-चौड़ा नहीं है, किंतु गहरा है। काल का आयाम अस्तित्व का चतुर्थ आयाम है, जिसमें गहराई ही गहराई है, अनंत गहराई है। अनंत गहराई को कैसे समझना ? इसे कहा नहीं जा सकता। फिर भी अनुभव ज्ञानी

ऋषि मुनि कहते हैं कि अनंत में से अनंत निकालो, तब भी अनंत ही शेष रहे, 'पूर्णस्य पूर्णमादाय पूर्णमेवावशिष्यते'। यही अनंत का स्वरूप है। यह पूर्ण है। ईशावास्योपनिषद् कहता है कि पूर्ण से पूर्ण निकालो, तब भी पूर्ण ही शेष बचता है। अस्तित्व के शेष तीन आयाम लंबाई-चौड़ाई व ऊँचाई है। ये तीनों आयाम आकाश द्रव्य से संबंधित है व चौथा आयाम काल है, जिसे आत्मज्ञानी श्री विराट गुरूजी 'कालाई' कहते हैं, जो पूर्ण शांत चेतना के भीतर वर्तमान होता है, और यह अनंत समय रूपा है। इस आयाम को वही उपलब्ध हो सकता है, जो छः आवश्यक साधना के द्वारा षट् चक्र भेदन कर चुका हो।

(ये षट्आवश्यक साधना क्या है ? इसे लेखक की सामायिक विज्ञान पर लिखी
'समयवज्जिका' नामक पुस्तक से जाना जा सकता है।)

सूत्र-40

द्रव्याश्रित होते हैं गुण

द्रव्य की परिभाषा में पूज्यपाद वाचक उमास्वाति ने लिखा कि द्रव्य वह, जो गुण-पर्याय का समूह हो। जिसमें सदा गुण व पर्यायें बनी रहती हो, वह द्रव्य है। अब प्रस्तुत सूत्र में आचार्य देव कहते हैं कि -

सूत्र- द्रव्याश्रया निर्गुणा गुणाः ॥40॥

अर्थ- जो द्रव्य के आश्रित हो किंतु स्वयं निर्गुण हो, वे 'गुण' होते हैं।
अन्य अपेक्षा से 'गुण' वह जो कभी निर्गुण न किया जा सके ॥40॥

विवेचन- जिसका आश्रय स्थान 'द्रव्य' है, वे 'गुण' हैं। द्रव्य की परिभाषा में कहा गया है कि जो गुणयुक्त हो, वह द्रव्य है यानि द्रव्य व गुण सहभावी अवस्था है, सदा साथ ही रहते हैं, एक-दूसरे से भिन्न कभी हो नहीं सकते हैं। जैसे- जीव में मौजूद उपयोग गुण, कभी भी जीव से जुदा नहीं हो सकता। किंतु यहाँ एक condition और प्रगट की गई है। वह यह है कि गुण स्वयं निर्गुण होते हैं। प्रश्न उठना स्वाभाविक है कि गुण तो स्वयं गुण है ही, फिर वे भला निर्गुण कैसे हुए? उन्हें निर्गुण कहने के पीछे क्या उद्देश्य है?

प्रस्तुत सूत्र की व्याख्या करते हुए पूर्वाचार्यों का ऐसा कहना है कि गुण तो गुण है ही, किंतु उन गुणों के आश्रित कोई अन्य गुण का न होना ही 'निर्गुण' होना कहा गया है। क्योंकि यदि गुण के आश्रित किसी अन्य गुण का होना कहा जाएगा, तब तो एक 'अनवस्था दोष' पैदा हो जाएगा, जिसके तहत एक अन्तहीन श्रृंखला जन्म ले लेगी। द्रव्य के आश्रित गुण, फिर उस गुण के आश्रित अन्य गुण और फिर उस अन्य के आश्रित कोई और गुण..... इस श्रृंखला का कोई छोर ही नहीं होगा। इस तरह की काल्पनिक दोषपूर्ण अवस्था की परिसमाप्ति के लिए कह दिया गया कि गुण स्वयं में निर्गुण होते हैं। वे फिर किन्हीं अन्य गुणों का आधार नहीं बनते हैं। इसका एक अर्थ यह भी हुआ कि वे स्वयं में पूर्ण होते हैं। उन्हें अपनी पूर्णता के लिए किसी अन्य आलंबन या अवस्था की आवश्यकता नहीं होती।

''द्रव्याश्रया निर्गुणा गुणाः''

सूत्र का एक अर्थ, जो अधिक उचित प्रतीत होता है कि गुण वह जो द्रव्य आश्रित हो, तथा द्रव्य से कभी भी निकाले न जा सकते हो, निर्गुण न किए जा सकते हो। जिन्हें द्रव्य से निकालना संभव ही न हो, वह 'गुण' है। यह बात उचित ही प्रतीत होती है किंतु अन्य अनेकों आचार्यों की व्याख्या से भिन्न अवश्य है। प्रायः सभी आचार्यों का मानना है कि गुण में किसी अन्य गुणों का न होना 'निर्गुण' शब्द का अभिप्राय है, जबकि गुण तो

स्वयं गुण है ही फिर भला अन्य गुण की कल्पना का क्या प्रयोजन ? हकीकत यह है कि किसी भी द्रव्य का अपनी विशिष्ट सत्ता में होना ही उसका गुण है, जिसे कभी निर्गुण किया ही नहीं जा सकता है, अन्यथा द्रव्य भी नहीं रहेगा, जो कि संभव ही नहीं हैं क्योंकि द्रव्य का मतलब ही सत् है। जो शाश्वत है, वही द्रव्य है। द्रव्याश्रित गुण कभी निर्गुण नहीं हो सकते। यही गुण की परम विशिष्टता है।

अब यहाँ एक प्रश्न और उठता है कि गुण का यह लक्षण कि वे द्रव्याश्रित होते हैं और उन पर आश्रित कोई अन्य गुण नहीं होता, यह लक्षण तो द्रव्य की पर्यायों में भी पाया जाता है। पर्यायें भी द्रव्य के आश्रय से ही रहती है और उसमें गुण भी नहीं रहते, अतः यह लक्षण ठीक नहीं है। गुण की उपरोक्त परिभाषा संदेहपूर्ण हो गई। किंतु मनीषीजन कहते हैं कि ऐसा नहीं है। गुण तो सदा ही द्रव्य के आश्रय से रहता है, कभी भी द्रव्य को नहीं छोड़ता किंतु पर्याय अनित्य होती है। वे प्रतिक्षण बदलती रहती है। लहरों की तरह उठना-गिरना, बुदबुदों की तरह बनना-मिटना चालू ही रहता है, जबकि गुण कभी अपने रूप में आता-जाता नहीं है, सदा ध्रुवरूप रहता है। यही तो द्रव्य की विशिष्टता है कि उसमें उत्पाद-ध्रौव्य-व्यय ये तीनों लक्षण पाए जाते हैं। 'पर्याय' उत्पाद और व्यय रूप है तथा गुण ध्रौव्य रूप है। इस प्रकार हम देखते हैं कि गुण और पर्याय में समान लक्षण घटित नहीं होते हैं। गुण द्रव्याश्रित ध्रौव्य रूप अवस्था है, जो स्वयं में निर्गुण है तथा पर्याय द्रव्य व उसके गुण में मौजूद उत्पाद-विनाशशील अवस्था को कहते हैं। प्रत्येक द्रव्य अपने विशिष्ट गुण व सामान्य पर्याययुक्त ही होता है, यह बात समझने योग्य है।

सूत्र-41-44

आदि-अनादि गुण

प्रस्तुत सूत्र संख्या 41 में अब सूत्रकार 'परिणाम 'शब्द की परिभाषा प्रगट करते हुए कहते हैं कि-

सूत्र- तद्भावः परिणामः ॥41॥

अर्थ- उसका होना ही परिणाम है ॥41॥

विवेचन- उसका होना अर्थात् स्वरूप में स्थित रहते हुए उत्पन्न तथा नष्ट होना 'परिणाम 'है। परिणाम पर्याय का दूसरा नाम है। जिस द्रव्य का जो स्वभाव है, उसी के भीतर उसमें परिवर्तन होता है। जैसे, मनुष्य बालक से युवा और युवा से वृद्ध होता है, यह मनुष्य का पर्याय परिवर्तन मात्र है, वह मनुष्य तीनों अवस्थाओं में मनुष्य ही रहता हुआ भिन्न-भिन्न अवस्थाओं को यानि परिणामों को प्राप्त होता रहता है। ऐसे ही प्रत्येक द्रव्य अपने मूल स्वाभाविक रूप में रहता हुआ भी सतत् परिवर्तनों को प्राप्त करता रहता है। जैसे बीज अंकुरित हुआ, पौधा बना, किसी दिन वृक्ष हुआ, किसी दिन किसलय अवस्था में आया, कोंपल फूटी, फूल हुआ, फूल के बाद फल आया, फल में पुनः बीज आए...इसी प्रकार प्रत्येक वस्तु अपने भाव में परिणमन करती रहती है। पर्यायें सतत् बदलती रहती है। पर्याय परिणमन अनादि भी है और सादि भी है। इस तथ्य को सूत्र 42 में इस प्रकार कहा गया है कि-

सूत्र- अनादिरादिमांश्च ॥42॥

अर्थ- वह अनादि और आदि दो प्रकार का है ॥42॥

विवेचन- प्रवाह की अपेक्षा अनादि है। प्रत्येक द्रव्य में परिणमन तो सतत् है ही, ऐसा एक भी पल नहीं आया जबकि किसी द्रव्य में किसी क्षण परिवर्तन न हो रहा हो, वह परिवर्तन परिलक्षित हो अथवा न हो, होता तो सतत् है। अनादि-अनंत है। किंतु पर्याय विशेष की अपेक्षा यह सादि-सांत है। जैसे कि भूख का लगना, न लगी थी तब वह पर्याय नहीं थी। भूख समाप्त हो जाएगी, तब वह पर्याय न होगी किंतु आहार 'संज्ञा 'के रूप में भोजन की इच्छा सतत् बनी ही रहती है। प्रत्येक क्षण में पर्याय बदलती रहती है, अतः वह आदिमान् भी हुई। इस प्रकार प्रत्येक पर्याय अनादि व सादि-दोनों प्रकार की है, सामान्य प्रवाह की अपेक्षा अनादि है एवं विशेष अवस्था की अपेक्षा सादि है। जिस द्रव्य का जो स्वभाव है, उसी में उसका परिणमन है। जैसे कि धर्मास्तिकाय का गति स्वभाव है तो

उसका पर्याय परिणमन गतिरूप ही होगा। जीव का स्वभाव उपयोग व पुद्गल का स्वभाव पूरण गलन है तो उनका परिणमन भी अपने-अपने भावों में होगा। इसी बात को अगले सूत्र में वाचक उमास्वाति इस प्रकार कहते हैं कि -

सूत्र- रूपिष्वादिमान् ॥43॥
योगोपयोगौ जीवेषु ॥44॥

अर्थ- रूपी पदार्थों (पुद्गलों) में वह आदिमान है ॥43॥
जीवों में योग और उपयोग है ॥44॥

विवेचन- उपरोक्त दो सूत्रों में यह कहा गया है कि पुद्गल द्रव्य में होने वाला परिणमन आदिमान है यानि प्रारंभ सहित है। पुद्गल ही एक मात्र रूपी द्रव्य होने से उसे 'रूपिष्वादिमान' कहा गया है। पुद्गलों में मौजूद वर्ण-गंध-रस और स्पर्श-ये चारों गुण आदिमान परिणाम है। एक निश्चय परमाणु में ये चारों ही गुण नहीं होते हैं, किंतु जब वह नैश्चयिक परमाणु अनेकों परमाणुओं से संयुक्त होकर स्कंध रचना करता है, तब उसमें 5 वर्ण, दो गंध, 5 रस एवं 8 स्पर्शों में से अनेकों तरह के परिणाम प्रकट होते हैं। ये सभी परिणमन होते तो अपने-अपने भावों में ही है। किंतु होते विविध प्रकार के हैं। इसी अपेक्षा से कहा गया है कि पुद्गल रूपी द्रव्य में दिखलाई पड़ने वाले समस्त परिणमन अनादि नहीं है, वे आदिमान है। चूँकि आदिमान है इसलिए अन्तसहित भी है।

उनका सादि-सांत होना ही परिणमन गुण (forms) का होनापन है। पर्यायों (forms) का मतलब ही है-उत्पन्न तथा नष्ट होने वाली अवस्था। जो प्रतिपल बदलती रहती है। नदी की धारा के समान प्रवाह रूप से अनादि होते हुए भी पल-पल नए-नए रूपों में आकार लेती रहती है।

न केवल रूपी पदार्थों में मौजूद गुण आदिमान परिणामों वाले हैं बल्कि जीवों में पाया जाने वाला उपयोग व योग गुण भी अपेक्षा भेद से आदिमान परिणाम वाला है। 'योग' मन-वचन-काया की परिस्पंदना है व उपयोग बोधरूप व्यापार। जीव में योग अनादि काल से है क्योंकि जीव अनादिकाल से संसार परिभ्रमण कर रहा है। किंतु जब जीव मुक्त होता है तब वह अयोगी होकर ही मुक्त होता है। इस अपेक्षा से जीव का योग अनंत नहीं है, सान्त है, अन्तसहित है। किंतु जीव मात्र का लक्षण 'उपयोग' गुण जीव का अनादि-अनंत गुण है। वह पर्याय अपेक्षा से सादि हो सकता है किंतु वह सदा जीव मात्र में रहता ही है। चाहे जीव संसारी अवस्था में हो, चाहे सिद्ध अवस्था में। उपयोग में शुद्धि-अशुद्धि संभव है। संसारी जीव प्रायः अशुद्ध उपयोग दशा में जीते हैं किंतु 'सिद्ध' वे हैं, जो सदा शुद्ध उपयोग में वरतते हैं।

समस्त संसारी जीवों में सात प्रकार के योग पाए जा सकते हैं-चार मन के, चार वचन के तथा सात काया के; ये सभी योग समय-समय पर बदलते रहने के कारण सहज, स्वाभाविक और अनादि नहीं है। समय-समय पर संयोग-वियोग को प्राप्त होने वाले हैं।

इसी प्रकार जीवों में पाए जाने वाले पाँच ज्ञान, तीन अज्ञान व चार दर्शन रूप 12 प्रकार का उपयोग भी प्रतिपल परिवर्तनशील होने के कारण आदिमान परिणाम वाला कहा गया है। चंद्रमा की कलाओं के समान जीव

का उपयोग गुण घटता-बढ़ता रहता है तथा आकाश में मौजूद बादलों की तरह पुद्गल का आकार भी घटता-बढ़ता व रूप बदलता रहता है। ये सभी पर्याय परिवर्तन चूँकि सदा से होते रहे हैं-इस अपेक्षा से अनादि है व प्रतिपल होते रहते हैं- इस अपेक्षा से आदिमान भी है।

तत्त्वार्थ सूत्र की कई प्रतियों में सूत्र सं. 43 व 44 का उल्लेख नहीं भी मिलता है। दिगंबर परंपरा में उपरोक्त दोनों सूत्रों की चर्चा नहीं की गई है। वहाँ पर्याय अनादि व आदि दो प्रकार की है, इतना ही उल्लेख मिलता है।

इस प्रकार हम देखें कि जीव व पुद्गल समेत सभी द्रव्य अपने-अपने स्वभाव में परिणमन को प्राप्त होते रहते हैं। एक मात्र जीव ही ऐसा द्रव्य है, जिसका परिणमन स्वभाव और राग-द्वेष रूप विभाव दोनों में होता है, शेष सभी द्रव्यों में 'विभाव' जैसी कोई अवस्था कभी नहीं होती है। वे सदा स्वभाव को ही जीते हैं। प्रश्न उठना स्वाभाविक है कि -ऐसा क्यों? जीव विभावों में क्यों जाता है, वह सदा स्वभाव में ही क्यों नहीं रहता? इसका कारण है 'आस्रव तत्त्व।' जीव रूपी पुद्गलों को अपने भावों में charged करके अपनी ओर उन्हें प्रवाहित करने की क्षमता रखता है। इस प्रकार जीव द्वारा प्रवाह को यानि 'स्राव' (flow) को आत्मा की ओर आकर्षित करने की क्षमता 'आस्रव' (आ+स्रव) ही एकमात्र कारण है जो जीव को विविध वैभाविक परिणमन रूप संसार से आबद्ध कराती है।

इसी आस्रव तत्त्व को समझे बिना जीव मात्र की संसार परिभ्रमण से मुक्ति संभव नहीं है। इसीलिए पंचम अध्याय के बाद पूज्यपाद उमास्वाति जी हमें छठे अध्याय में संपूर्ण आस्रव तत्त्व का ज्ञान कराते हैं, जिसे हम क्रमशः जानेंगे।

यहाँ पाँच अध्याय पूर्ण हुए, इनकी विवेचना करने में कहीं कोई त्रुटि रह गई हो तथारूप वर्णन करने में कहीं ज़रा भी चूक हुई हो तो देव-गुरू-धर्म की साक्षी से बारंबार मिच्छामि दुक्कड़ं ! मिच्छामि दुक्कड़ं ! मिच्छामि दुक्कड़ं !

ये संपूर्ण विवेचन आत्मज्ञानी श्री विराट गुरूजी की प्रत्यक्ष प्रकट कृपा से ही संभव हो पाया है। उनके मार्गदर्शन के बिना इस जीव से ऐसा पुरूषार्थ हो पाना अशक्य था, अतः यह संपूर्ण लेखन उन्हीं के श्रीचरणों में समर्पित है।

आत्मज्ञानी पूज्य श्री विराट गुरूजी ने चार अध्यायों तक की विवेचना को स्वयं संशोधित, परिवर्धित व परिष्कारित किया है। शेष लेखन उनकी दिव्य प्रेरणा व अतीन्द्रिय प्रत्यक्ष आशीर्वादों से ही संभव हो पाया है। उनकी प्रतिपल प्रवाहित दिव्यकृपा के लिए त्रैकालिक आभार-आभार-आभार ! ! !

सत्गुरूदेव की आगम प्रज्ञा सबको सहज बोध दे !
आत्मदृष्टि का दान दे ! आगम ज्ञान का वरदान दे !
आमीन् ! ऐसा ही हो !
सबका भद्र हो ! सबका कल्याण हो ! सबका मंगल हो। !
जय हो ! जय हो ! जय हो !

❑❑❑

जय गुरुदेव साहित्य प्रकाशन
जोधपुर (राज.)

Scan For More From the Author

ISBN 9789386546852
MRP ₹1008